तोमरों का इतिहास

प्रथम भाग

दिल्ली के तोमर

(७३६–११९३ ई०)

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी



विद्या मंदिर प्रकाशन

मुरार, ग्वालियर–६

प्रथम संस्करण
मई, १९७३

मूल्य : ४० रुपये

आवरण :
अनंगपाल का प्रासाद : वर्तमान कुव्वतुल इस्लाम (पृष्ठ ६०)

मुद्रक
लॉ जर्नल प्रेस
जयेन्द्रगंज, ग्वालियर—१

प्रकाशक
विद्यामन्दिर प्रकाशन
मुरार, ग्वालियर—६

प्रस्तावना

तोमरों के इतिहास का प्रथम भाग "दिल्ली के तोमर" प्रस्तुत करते समय जिस प्रकार के मनोभाव हृदय में उत्पन्न हो रहे हैं, उन्हें व्यक्त करना सरल कार्य नहीं है। मध्यभारत के इतिहास के व्याज से भारतीय इतिहास की रूपरेखा सन् १९५६ में प्रस्तुत करने के लगभग सत्रह वर्ष पश्चात् पुनः इतिहास के क्षेत्र में कोई योगदान कर सकूँगा, इसकी सम्भावना मुझे नहीं थी। कभी-कभी अनहोनी हो जाती है, उसका यह भी एक उदाहरण है। "ग्वालियर के तोमर" ग्रन्थ में "दिल्ली के तोमर" क्यों और कैसे सम्मिलित हो गये और फिर वह समस्त प्रयास "तोमरों का इतिहास" कैसे बन गया, इसका विस्तृत विवरण महाराजकुमार डा० श्री रघुवीरसिंह जी ने अपने प्राक्कथन में दे दिया है। वैसे भी अभी इस इतिहास का एक भाग और प्रकाशित होना है, उस समय लेखकीय वक्तव्य के रूप में कुछ और लिखने का अवसर मिलेगा ही, अतएव अभी केवल आभार प्रदर्शन का प्रिय कार्य सम्पन्न करना पर्याप्त है।

विद्वद्वर डा० श्री राजेश्वर गुरु, प्राचार्य महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, ग्वालियर, तथा छतरपुर के छत्रसाल महाविद्यालय के हिन्दी के प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष श्री पूनमचन्द्र तिवारी का मैं इस कारण आभारी हूँ कि उनकी प्रेरणा से ही अपने पुराने वस्तों पर युगों से लदी धूल झाड़कर कुछ अधूरी पुस्तकें पूरी करने और पूरी पुस्तकें अद्यतन करने की इच्छा बलवती हुई थी।

मध्ययुग के भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान महाराजकुमार डा० श्री रघुवीरसिंह, सीतामऊ, ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि आद्योपान्त पढ़कर अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये हैं और इसकी अनेक तथ्यात्मक अशुद्धियों को दूर करने में सहायता दी है। आज के युग में दूसरे की कृति पर इतना श्रम करने की प्रवृत्ति विद्वानों में कम ही पायी जाती है। उनके विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन ने भी इस विनम्र प्रयास का महत्व बढ़ाया है।

इतिहास के विद्वान प्राध्यापक डा० श्री भगवानदास गुप्त, झांसी, ने न केवल इस पुस्तक के अनेक अध्याय पढ़ कर अपने बहुमूल्य सुझाव दिये हैं, वरन् कुछ ऐसी अद्यतन पुस्तकों से मेरा परिचय भी कराया जिनको मैं पढ़ नहीं सका था। प्रसिद्ध क्रान्तिवीर डा० श्री भगवानदास माहौर मेरे साहित्यिक कृतित्व के प्रति सदा उदार रहे हैं, उन्होंने इस पुस्तक की त्रुटियों को दूर कराने में पर्याप्त श्रम किया है।

इतिहास और पुरातत्व के प्रखर पण्डित डा० श्री मन्नलाल कटारे मुझे सदा गतिमान विश्वकोश के रूप में परामर्श के लिए सुलभ रहे हैं। अपभ्रंश और प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान प्राध्यापक श्री रामचन्द्र ज्ञानेश्वर लद्दु तथा डा० श्री रामसिंह तोमर ने श्रीधर के पार्श्वनाथ-चरित के मेरे भाष्य का समर्थन कर मुझे नैतिक बल प्रदान किया है।

जिन विद्वानों की कृतियों का मैंने लाभ उठाया है, उनका उल्लेख यथास्थान किया है। उनका मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ। उनके निष्कर्षों से यदि मैं सहमत नहीं हो सका

हूँ, तब इसका यह आशय कदापि नहीं है कि उनकी महत्ता अथवा उनके द्वारा किये गये इस क्षेत्र के योगदान के प्रति सम्मान की मुझ में कोई न्यूनता है।

भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना तथा सिन्धिया रिसर्च इन्स्टीट्यूट उज्जैन का मैं आभारी हूँ। उनके द्वारा मुझे हस्तलिखित पुस्तकों की वांछित प्रतिलिपियाँ अत्यन्त शीघ्रता से प्राप्त होती रही हैं। इसी प्रकार, जीवाजी विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री प्रशान्तकुमार बनर्जी तथा उनके अधीनस्थ कार्यकर्ताओं ने पूर्ण सहयोग देकर मेरा बहुत समय बचाया है।

श्री ओऽम् प्रकाश आर्य, एम० ए०, बी० एड्० और श्री रामेश्वरदयाल शर्मा, बी० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट, ने इस पुस्तक की नामानुक्रमणिका तैयार करने में बहुत श्रम किया है; आशीर्वाद के अतिरिक्त उन्हें क्या दे सकता हूँ।

इस पुस्तक की आधार-भूत सामग्री के अध्ययन से और फिर इसे लिखने से मुझे पूर्ण आत्मसंतोष प्राप्त हुआ है। यही मेरा पूर्ण पुरस्कार है। इससे अधिक की न मुझे अभिलाषा है, न अपेक्षा। मैं यह निर्णय नहीं कर सकता कि मैंने इतिहास के क्षेत्र में किसी प्रकार का नवीन योगदान किया है अथवा भारतीय इतिहास के एक अत्यधिक उलझे हुए अध्याय को और भी उलझा दिया है। जो कुछ मैंने यहाँ कहा है, पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाने के पश्चात् ही कहा है, उसमें से कितना तर्क की कसौटी पर खरा उतरेगा यह परखने का कार्य सुविज्ञ विद्वानों का है। इस पुस्तक के विधिवत् प्रकाशन के पूर्व विद्वानों ने जो सम्मतियाँ भेजने की कृपा की है, उनसे ज्ञात होता है कि यह श्रम नितान्त वृथा तो नहीं हुआ। यह अमृत-परितोष प्रदान करने के लिए मैं उन सहृदय विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अक्षय तृतीया
परशुराम जयन्ती
वि० सं० २०३०
५ मई, १९७३

हरिहरनिवास द्विवेदी

प्राक्कथन

(महाराजकुमार डा० श्री रघुबीरसिंह, एम०ए०, डी०लिट्०, एल-एल०बी०)

योंतो भारतीय इतिहास के राजनीतिक पहलू की रूप-रेखा बहुत-कुछ सुस्पष्ट हो गई है, तथापि उसमें आज भी अनेकानेक बड़े-बड़े ऐसे अंतराल विद्यमान हैं, जहाँ पर प्रामाणिक इतिहास का मन्द प्रकाश भी अब तक नहीं पहुँच पाया है। यही नहीं, भारतीय इतिहास के आर्थिक, प्रशासन संगठनीय, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, आदि कई-एक विभिन्न अतीव महत्वपूर्ण पक्षों की जाँच-पड़ताल और अध्ययन का अत्यावश्यक कार्य अभी प्रारम्भ ही हुआ है। अपितु अनादिकाल से अद्यावधि अनवरत बहने वाली जन-जीवन की अविच्छिन्न धारा के स्वरूप, उसकी गति-विधियों, उतार-चढ़ावों, आदि के अनुक्रम तथा देश-काल के फल-स्वरूप उत्पन्न विभिन्नताओं में भी पाई जाने वाली उसकी अजस्र अविरल एकता के इतिहास के अध्ययन की ओर अब अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। परन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आज यह सर्वथा अनिवार्य हो गया है कि राजनीतिक इतिहास में पाये जाने वाले क्रमभंगों को दूर करने के लिए अंधकारपूर्ण व्यवधानों पर तत्परता के साथ खोज की जाए।

किसी भी राष्ट्र अथवा देश का इतिहास अपने-आप में एक अविच्छिन्न इकाई होते हुई भी उस देश के विभिन्न प्रदेशों अथवा सब ही क्षेत्रों के स्थानीय इतिहासों की अविकल समष्टि भी होता है। अतएव देश के इतिहास को परिपूर्ण करने के लिए प्रादेशिक, क्षेत्रीय अथवा स्थानीय इतिहासों की खोज तथा उनका गहन अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। यही नहीं, क्षेत्रीय इतिहास के साथ ही किन्हीं विशेष कालों में उस क्षेत्र के जन-जीवन अथवा इतिहास को अत्यधिक प्रभावित करने वाले व्यक्तियों और कुलों के भी विवरणों का शोध और अध्ययन अत्यावश्यक हो गया है। अत: श्री हरिहरनिवास द्विवेदी का "ग्वालियर के तोमर" ग्रन्थ की रचना करने का प्रारंभिक निश्चय सर्वथा समुचित, समीचीन, अत्यावश्यक और अपने-आप में भी बहुत महत्त्वपूर्ण था।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी स्वयं ग्वालियर क्षेत्र के निवासी हैं, अत: ग्वालियर के पुरातत्व और इतिहास के साथ ही वहाँ की संस्कृति, भाषा, साहित्य तथा कला के प्रति भी उनका विशेष आकर्षण और निष्ठा होनी स्वाभाविक ही है। प्रारंभ से ही इन सभी विषयों के प्रति उनकी विशेष रुचि रही है और पर्याप्त अध्ययन कर उन पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा तथा प्रकाशित भी किया है। "ग्वालियर राज्य के अभिलेख" प्रकाशित किये और "ग्वालियर राज्य की मूर्ति-कला" की विवेचना की। "मध्यदेश नाम की परम्परा को बहुत से प्रमाणों से वे लगभग हमारे समय तक ले आए हैं।" "मध्यदेशीया" अथवा ग्वालियरी भाषा के संबंध में नई सामग्री के द्वारा भाषा और साहित्य के

इतिहास की एक खोई हुई कड़ी प्रस्तुत करने का उन्होंने प्रयत्न किया। यही नहीं, "मानसिंह तोमर के ग्वालियर में और ग्वालियरी भाषा के पद-साहित्य में सूर की साहित्यक साधना के सूत्रों" के द्वारा ब्रज-भाषा और ग्वालियरी में निरन्तर पाई जाने वाली अनवच्छिन्न परम्परा की स्थापना के फलस्वरूप ग्वालियर क्षेत्रीय साहित्य के महत्व को सुस्पष्ट रूप से प्रमाणित कर उक्त साहित्य के पुनरुद्धार और प्रकाशन के लिए विशेष आयोजनों को श्री हरिहरनिवास द्विवेदी सयत्न कार्यान्वित करते रहे हैं। मानसिंह तोमर कृत "मानकुतूहल" की खोज में जब काश्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला कृत "मानकुतूहल" का संबंधित फारसी अनुवाद 'राग़-दर्पण' उन्हें मिला तो उस फारसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद "मानसिंह और मानकुतूहल" नामक पुस्तक में छपवा दिया। ग्वालियर के शासक मानसिंह तोमर कृत मूल ग्रन्थ "मानकुतूहल" की प्रतिलिपि के लिए उनकी खोज आज भी अविरत चल रही है। इसी प्रकार मानसिंह तोमर के राजदरबार में ध्रुपद के गायकों में सर्वश्रेष्ठ नायक बख्शू के पदों के संग्रह की प्रतिलिपि के लिए भी वे भरसक प्रयत्न कर रहे है।

ग्वालियर क्षेत्र कई शताब्दियों तक साहित्य, संगीत और कला का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। प्राचीन काल से ही ग्वालियर क्षेत्र के साथ अनेकानेक साम्राज्यों, कई महत्वपूर्ण राजघरानों, कुछ दुर्द्धर्ष आक्रमणकारियों अथवा बहुत से उद्भट सेनानायकों का समय-समय पर निकट संबंध रहा है, जिनके अमिट चिह्न और लेख आज भी वहाँ यत्र-तत्र देख पड़ते हैं। परन्तु ग्वालियर क्षेत्र से भी कहीं अधिक ग्वालियर नगर की इन परम्पराओं को सुस्पष्ट स्वरूप देने तथा उन्हें सयत्न सुदृढ़तया स्थायी बनाने में सब से अधिक हाथ ग्वालियर के तोमर शासकों का रहा था, जिससे वहाँ के स्थानीय इतिहास में इस तोमर राजघराने का अनुपम स्थान और अत्यधिक महत्व है। इसी कारण कोई बीस वर्ष पहिले श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ग्वालियर के तोमरों का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए थे, तथा इधर लगभग एक युग के अन्तर्विराम के बाद अब उसे उन्होंने पूरा किया है।

तोमर वंशीय क्षत्रिय दिल्ली को ही अपना मूल स्थान मानते आए है, क्योंकि सर्वमान्य सुज्ञात ऐतिहासिक प्रवाद के अनुसार भारत की सुविख्यात सर्वाकर्षक राजधानी दिल्ली की सर्वप्रथम स्थापना तोमरों ने ही की थी। अतएव भूमिका के रूप में ही क्यों न हो, ग्वालियर के तोमरों के इतिहास के प्रारंभ में भी दिल्ली के तोमरों का विवरण दिया जाना स्वाभाविक ही था। भारतीय इतिहास मे तोमर वंशीय क्षत्रियों का सुनिश्चित उत्थान ईसा की १०वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हुआ था। किन्तु भारत की अमरपुरी दिल्ली के संस्थापक और आदि शासक ऐतिहासिक तोमर राजवंश का इतिहास अब भी अंधकारपूर्ण तथा बहुत कुछ अज्ञात ही रहा है। तब तक की अनुश्रुतियों के आधार पर "आईन-इ-अकबरी' में दी गयी मालवा के तोमर राजाओं की वंशावली ने एक गहन समस्या उत्पन्न कर दी है। जहाँ तदर्थ अत्यावश्यक समकालीन प्रामाणिक आधार-सामग्री के अभाव के साथ ही उसके प्रति इतिहासकारों की उपेक्षा

के कारण दिल्ली के तोमर राजवंश के महत्वपूर्ण इतिहास को अब तक सुनिश्चित रूपेण सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं किया जा सका है, वहाँ सैकड़ों वर्षों तक जाति विशेष के कण्ठ पर चले आ रहे "पृथ्वीराज-रासो" की निरन्तर बदलती अथवा बढ़ती हुई परम्पराओं तथा उनसे प्रभावित तत्कालीन अन्य आधार-सामग्री के ही फलस्वरूप ईसा की १२वीं सदी के उत्तरार्द्ध कालीन अजमेर-दिल्ली क्षेत्र के इतिहास की मूलगत रेखाएँ भी अस्पष्ट अथवा भ्रामक हो गई हैं। अतः तोमरों के इस प्रारंभिक इतिहास की रूप-रेखा को सुस्पष्ट करने को श्री हरिहरनिवास द्विवेदी समुत्सुक हो उठे।

तोमरों के प्रारम्भिक इतिहास विषयक खोज करते हुए श्री द्विवेदी इस प्रकार अनायास दिल्ली के तोमरों के इतिहास की ओर अनिवार्यरूपेण आकर्षित हुए। तब तोमरों के इतिहास की तत्कालीन अनेकानेक अबूझ पहेलियों, उलझी हुई गुत्थियों तथा उत्कट समस्याओं का सही प्रामाणिक हल प्रस्तुत करने को कटिबद्ध होकर जब वे अपने उस मूल-ग्रन्थ के उन प्रास्ताविक प्रारंभिक अध्यायों को संशोधित कर लिखने लगे, तब तो ये प्रारंभिक अध्याय द्रौपदी के चीर की तरह निरन्तर बढ़ते ही गये, यहाँ तक कि दिल्ली के तोमरों के इतिहास को लेकर एक पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है। अतएव अब इस परिवर्द्धित संशोधित ग्रन्थ 'तोमरों का इतिहास' के दो भाग हो गये हैं; प्रथम भाग में 'दिल्ली के तोमर' राजाओं का इतिहास वर्णित है और दूसरे भाग 'ग्वालियर के तोमर' में पूर्व प्रस्तावित इतिहास को पूर्णतया संशोधित और सुव्यवस्थित कर प्रस्तुत किया गया है।

दिल्ली के तोमरों के इस अन्धकारपूर्ण इतिहास पर अत्यावश्यक प्रकाश डाल कर उसको समुचित रूपेण क्रमबद्ध करने के लिए श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने इतिहासकारों द्वारा अब तक प्रयुक्त किये जाते रहे सभी सुज्ञात ऐतिहासिक आधारों के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी आधार-सामग्री भी एकत्र की, जिसकी ओर इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया था अथवा जो अब तक प्रकाश में नहीं आई थी। ऐसी सब ही प्रकार की ऐतिहासिक आधार-सामग्री का विशद विवरण और उसका समालोचनात्मक विवेचन लेखक ने इस प्रथम भाग के प्रथम खण्ड में सविस्तर दिया है।

इस खण्ड के सब ही परिच्छेद तत्कालीन इतिहास के आधुनिक इतिहासकारों और भावी संशोधकों के लिए विचारोत्पादक तथा प्रेरक प्रमाणित होंगे। दूसरे परिच्छेद में तोमर मुद्राओं पर अंकित लाञ्छन (प्रतीक-सिम्बल) और श्रुतिवाक्य (लेख-लेजण्ड) का गहराई तक अध्ययन कर तत्कालीन तथा-कथित चौहान मुद्राओं के साथ उनकी तुलना करने के बाद श्री द्विवेदी ने अपने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे वस्तुतः मुद्रा-विज्ञान के विशेषज्ञों को चौंका देने वाले ही नहीं, बहुत प्रेरक और विचारणीय भी हैं। उनके द्वारा यों प्रस्तुत इन सारी जटिल गुत्थियों को सुलझाने के लिए इन विशेषज्ञों को श्री द्विवेदी की स्थापनाओं का अनिवार्यरूपेण गहन परीक्षण तथा अपनी अब तक की मान्यताओं पर पुनर्विचार करना होगा।

तोमर राज्य के अधीन क्षेत्रों में, विशेषतया दिल्ली में प्राप्य स्थापत्य और शिलालेखों के साथ चौहानों आदि के संबंधी शिलालेखों का परीक्षण किया गया है। "पार्श्वनाथ चरित", "खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावलि" आदि जैन कृतियों की जाँच-पड़ताल की गई है। "ललित विग्रहराज" नाटक आदि संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध इतिहास-सामग्री को भी परखा गया है। हिन्दी आख्यान काव्यों की परम्परा में "पृथ्वीराज-रासो" में मिलने वाले दिल्ली अथवा तोमरों आदि विषयक उल्लेखों की अनैतिहासिकता को सुस्पष्ट रूपेण प्रमाणित किया गया है। फारसी आख्यानों और अबुलफजल कृत "आईन-इ-अकबरी" के विवरण पर आधारित तोमर इतिहास के इतिवृत्तों के अतिरिक्त विभिन्न वंशावलियों अथवा पश्चात्कालीन अनुश्रुतियों आदि का विश्लेषण किया गया है। यही नहीं, "ढिल्लिकाग्रहणश्रांतम्" के मिथ्या प्रवाद के शिलांकित किये जाने और उसके कूटनीतिक प्रचार के संभावित हेतु का अनुमान लगाने के साथ ही कई प्रमाणों द्वारा अपनी स्थापना का समर्थन करते हुए उक्त प्रवाद के सृष्टाओं के नाम भी श्री द्विवेदी ने निर्धारित किये हैं।

इस प्रकार, विस्तृत जाँच-पड़ताल और सयत्न किये गये गहन विश्लेषण द्वारा उन्होंने जो-जो स्थापनाएँ की हैं, उन सबका समुचित प्रयोग करते हुए इस प्रथम भाग के द्वितीय खण्ड में श्री द्विवेदी ने दिल्ली के तोमरों के इतिहास की संशोधित तथा परिवर्द्धित क्रमबद्ध रूप-रेखा को अपने विशिष्ट ढंग से सप्रमाण प्रस्तुत किया है। तोमरों की उत्पत्ति संबंधी प्राप्य संकेतों का उल्लेख करके लेखक ने तत्संबंधी संभावित सामाजिक प्रक्रिया विषयक अपना मत भी स्पष्ट किया है। तोमरों के आदि-क्षेत्र तंवरघार का भौगोलिक सीमांकन करने के बाद तोमरों का प्रारंभिक इतिहास देते हुए आदि तोमर राजा अनंगपाल द्वारा अनंग राज्य और उसकी राजधानी दिल्ली की स्थापना का वर्णन किया है।

दिल्ली के तोमर राज्य के साथ हुए अजमेर के चौहान राजाओं तथा गजनी के तुर्क सुलतानों के अनेकानेक युद्धों अथवा विकट संघर्षों का इतिवृत्त दिया गया है। वंशानुगत क्रम से दिल्ली पर राज्य करने वाले विभिन्न तोमर राजाओं का विवरण लिखते हुए लेखक ने दिल्ली के शासक पृथ्वीराज तोमर का जो वृत्तांत लिखा है, उसमें तोमर-चौहान संघर्ष के फलस्वरूप प्रारंभ हुए तोमर राज्य के विघटन का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आगे दिल्ली के अन्तिम प्रतापी तोमर राजा चाहड़पाल ने तराईं के दोनों ऐतिहासिक युद्धों में क्या-कुछ किया है इसका सप्रमाण विवरण देते हुए तराईं के द्वितीय निर्णायक युद्ध में राजपूत सेना की पूर्ण पराजय के फलस्वरूप अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) की मृत्यु कब, कैसे और कहाँ हुई थी यह भी निर्धारित करने का प्रयत्न इस इतिहास-ग्रन्थ में किया गया है। मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली में नियुक्त सेनानायक अधिकारी गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने कोई एक वर्ष बाद जब दिल्ली के अंतिम तोमर राजा तेजपाल का वध करवा दिया, तब उसके साथ ही दिल्ली के तोमर राज्य के इतिहास पर भी यवनिकापात हो गया। तेजपाल के पुत्र ने चम्बल

के वीहड़ों की राह ली और तोमर पुन: अपने पूर्वस्थान पर लौट आए । यह इतिहास लिखे जाने के बाद प्राप्त दिल्ली के राजवंशों की वंशावलियों और "दिल्ली-नामा" को इस भाग के अंतिम परिशिष्ट में प्रकाशित कर उन्हें भावी संशोधकों के लिए सुलभ कर दिया गया है ।

इस प्रकार श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने दिल्ली के तोमर राज्य का यह खोजपूर्ण क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया है । दिल्ली के तोमरों का ऐसा पूर्ण इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया है, अतएव यह ग्रन्थ ऐतिहासिक साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है । दिल्ली के तोमरों का यह इतिहास लिखते समय श्री द्विवेदी को अनिवार्यरूपेण उनके पड़ौसी और प्राय: विरोधी अजमेर के चौहान राजघराने के इतिहास का भी गहरा अध्ययन और बारम्बार विवेचन करना पड़ा है । इसी के फलस्वरूप अपने इस ग्रन्थ में श्री द्विवेदी ने अब तक सर्वस्वीकृत कई एक प्राचीन मान्यताओं को भ्रान्त अथवा निराधार प्रमाणित कर उन्हें अग्राह्य घोषित करने के बाद उनके स्थान पर अपनी नई स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो तत्कालीन इतिहास के विशेषज्ञों और संशोधकों के लिए बहुत बड़ी चुनौती हैं, जिसकी न तो उपेक्षा ही की जा सकेगी और जिसका न आसानी से संक्षेप में निराकरण ही संभव हो सकेगा ।

तत्काल यह कहना संभव नहीं कि श्री द्विवेदी की इन स्थापनाओं में से कितनी सर्वमान्य होकर भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहास में समाविष्ट की जा सकेंगी ; परन्तु यह बात स्पष्ट है कि उनके इस ग्रन्थ से दिल्ली के तोमरों के इतिहास पर सर्वथा नया प्रकाश पड़ा है, और तोमरों के दिल्ली-राज्य के इतिहास पर अधिकाधिक शोध के हेतु इससे जो विशेष प्रेरणा मिलेगी, उससे तत्कालीन इतिहास विषयक हमारे ज्ञान की परिधि आगे भी निरन्तर बढ़ती ही जाएगी ।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा प्रस्तावित मूल ग्रन्थ **"ग्वालियर के तोमर"** अब इस **'तोमरों का इतिहास'** के द्वितीय भाग के रूप में शीघ्र ही अलग से प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु इसी लेखक द्वारा लिखे गये मूल ग्रन्थ का ही अंश होने के कारण इस द्वितीय भाग के सम्बन्ध में भी यहाँ लिख देना समीचीन ही है ।

तोमरों के दिल्ली राज्य का अन्त होने के कोई दो शताब्दी बाद तोमरों ने ग्वालियर में अपने स्वाधीन राज्य की नींव डाली । इन दो तोमर राजघरानों को सीधी जोड़ने वाली प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है । अत: दिल्ली के ध्वस्त हो जाने के बाद चम्बल के वीहड़ों में शरण लेकर कालान्तर में वहाँ धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाने वाले चम्बल के दक्षिणी तट के तोमर सामंतों का प्राप्य विवरण देते हुए श्री द्विवेदी ने ग्वालियर के तोमर राजाओं को दिल्ली के तोमर राजघराने से जोड सकने वाली संभावित कड़ियों का संकेत किया है, तथा खड्गराय कृत 'गोपाचल आख्यान' अथवा 'ग्वालियर नामा' से प्राप्त जानकारी के साथ फारसी आधार-ग्रन्थों के उल्लेखों का यथासंभव सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयत्न किया गया है ।

यों ग्वालियर के इस तोमर राजघराने की संभावित प्राचीन वंश-परम्परा तथा

ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करने के बाद श्री द्विवेदी ने तोमर राजघराने के इतिहास-प्रसिद्ध ग्वालियर राज्य का राजनीतिक इतिहास पर्याप्त विस्तार के साथ दिया है। वीरसिंह देव तोमर द्वारा उसका बीजारोपण और प्रारंभिक विकास, तैमूर के भारत-आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों से पूरा-पूरा लाभ उठा कर वीरमदेव द्वारा उसका उत्थान, डूंगरेन्द्र और कीर्तिसिंह का उसे समर्थ तथा शक्तिशाली बनाना, मानसिंह द्वारा उसका बहुमुखी विकास तथा चरमोत्कर्ष, और अन्त में इब्राहीम लोदी के हाथों विक्रमादित्य की पूर्ण पराजय तथा ग्वालियर पर दिल्ली सल्तनत के एकाधिपत्य का भाव-पूर्ण सटीक विवरण दिया गया है। दिल्ली सल्तनत की निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों, वहाँ के शासक-घरानों में फेर-बदल और विभिन्न सुल्तानों के विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख कर ग्वालियर के इस नवोदित राज्य के साथ समय-समय पर बदलते हुए दिल्ली सल्तनत के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए उनके प्रभाव तथा परिणामों को भी सुस्पष्ट किया गया है। साथ ही ईसा की १५वीं शताब्दी कालीन उत्तरी भारत में पास-पड़ौस के अनेकानेक छोटे-बड़े हिन्दू-मुसलमान राज्यों के साथ ग्वालियर के इन तोमर शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए उनके साथ यदा-कदा किये गये आपसी समझौतों अथवा संघर्षों की पृष्ठ-भूमि को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इन्हीं संदर्भों में महाराणा कुम्भा के शासनकाल में मेवाड़ राज्य के एक महती शक्ति के रूप में उभरने का जो प्रभाव समसामयिक इतिहास पर पड़ा, और वही परम्परा आगे महाराणा सांगा के समय तक चलती गई थी, उसकी भी समीक्षा की गई है। इसी तरह ग्वालियर के पास-पड़ौस के नरवर आदि कुछ राज्यों और वहाँ के राजघरानों आदि के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी भी दी गई है, जो क्षेत्रीय इतिहास पर नया प्रकाश डालती है।

ग्वालियर के तोमर राज्य के अन्त के साथ ही श्री द्विवेदी ने अपने इस इतिहास-ग्रन्थ को समाप्त नहीं किया है, वरन् वहाँ के तोमर घराने के बाद के इतिहास की भी कई महत्वपूर्ण झांकियाँ प्रस्तुत की हैं। पुनः मालवा, गढ़वाल और नूरपुर के कुछ ऐसे तोमर घरानों का भी प्राप्त विवरण दिया है, जिनका ग्वालियर के इस तोमर राजवंश के साथ सम्भवतः कोई वंश-परम्परागत सम्बन्ध हो।

ग्वालियर के तोमर राज्य के राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ तथा अलग भी उसके सांस्कृतिक इतिहास का विशेष रूपेण विस्तृत वृतांत दिया गया है। वहाँ के प्रमुख अधिकारियों, उनकी वंशगत अथवा गुरु-शिष्य परम्पराओं का भी इसमें उल्लेख है। तोमर राजघराने के साथ लगे हुए सनाढ्य पुरोहित आदि सुज्ञात ब्राह्मण घरानों के वंशपरम्परागत सम्बन्धों का विवरण देकर इस भारतीय सांस्कृतिक विशेषता का एक उल्लेखनीय उदाहरण समुपस्थित किया गया है। पुनः तत्कालीन जैन साधु, आचार्यों, विद्वानों अथवा भट्टारकों के प्रति इन तोमर शासकों के समादर तथा प्रश्रय का विवरण देकर अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति उन तोमर राजाओं की सहिष्णुतापूर्ण उदार नीति की जानकारी ही नहीं दी गई है, वरन् उन युगों की तत्कालीन राजनीति पर उनके विशेष

प्रभाव के साथ ही तब की सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि गतिविधियों में जैन धर्मावलम्बियों के महत्वपूर्ण सक्रिय योगदान को भी सुस्पष्ट कर दिया है।

तोमर-कालीन ग्वालियर की संगीत-साधना मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास की एक सर्वव्यापी प्रभावशील उपलब्धि और अतीव महत्वपूर्ण घटना थी, जिसकी पृष्ठ-भूमि को सुस्पष्ट करने के लिए भारत के प्रारम्भिक मुसलमान सुल्तानों के राज-दरबारों में मान्यता प्राप्त ईरानी संगीत के साथ भारतीय संगीत प्रणाली के अत्यावश्यक समन्वय के हेतु अमीर खुसरो के सफल प्रयासों का श्री द्विवेदी ने विस्तृत विवरण दिया है। तब उत्तरी भारत में प्रचलित संगीत के विविध अंगों के शास्त्रीय विवेचन के साथ ही उसे अधिक लोकप्रिय बनाने और भारतीय संस्कृति के अनुरूप उसे ढालने के हेतु ग्वालियर के तोमर राजाओं के सतत प्रयत्नों और आयोजनों के वृत्तांत में तब "विष्णुपद" तथा "ध्रुपद" गायन-शैलियों के प्रारम्भ और विकास के साथ ही ध्रुपद की चार वाणियों की प्रतिष्ठा तथा "धमार" और "होरी" के प्रचार पर भी नया प्रकाश डाला है। ग्वालियर के तोमर राज्य की समाप्ति के बाद किस प्रकार ग्वालियरी संगीत देश भर में फैला और उसे मुगलों और बीजापुर के राज-दरबारों में ही प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हुई, अपितु ब्रज में पहुँच कर वहाँ अपने विशिष्ट स्वरूप में वह भक्तों के कंठों से और कृष्णमन्दिरों में भी प्रतिध्वनित होने लगा, इसका भी विवेचन किया गया हैं।

इस इतिहास-ग्रन्थ को लिखने में श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने फारसी तथा अन्य भाषाओं में तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक आधार ग्रन्थों के साथ ही सम्बद्ध क्षेत्रों में प्राप्य शिलालेखों और तब वहाँ रचित अथवा उस काल के इतिहास आदि सम्बन्धी अनेकानेक विभिन्न विषयक साहित्य में प्राप्य जानकारी का भी यथासंभव पूरा-पूरा उपयोग किया है। जैन साधुओं और आचार्यों की रचनाओं में किये गये उल्लेखों और तब लिखे गये ग्रन्थों की पुष्पिकाओं आदि में इन तोमर राजाओं सम्बन्धी संकेतों से भी लाभ उठाया गया है। यों यह इतिहास ग्रन्थ तत्कालीन हिन्दी साहित्य, समाज और संस्कृति की समसामयिक प्रवृत्तियों और प्रगति पर भी महत्वपूर्ण नया प्रकाश डालता है, जिससे इस ग्रन्थ की उपादेयता बहुविध हो गई है। अतः "तोमरों का इतिहास" के इस द्वितीय भाग "ग्वालियर का तोमर राज्य" का भी हृदय से स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि पूर्व-प्रस्तावित यह मूल ग्रन्थ भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जाएगा और तब ग्वालियर के तोमर राजवंश तथा राज्य के ही नहीं, तत्कालीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के भी संशोधक तथा इतिहासकार श्री हरिहरनिवास द्विवेदी के इस नये प्रकाशन का ध्यानपूर्वक गहराई तक अध्ययन करेंगे। श्री द्विवेदी के तर्कपूर्ण एवम् विचारोत्तेजक विवेचनों और निश्चयात्मक स्थापनाओं से प्रेरित होकर "तोमरों का इतिहास" के इन दोनों भागों में वर्णित इतिवृत्त विषयक विचार-विमर्श अथवा वाद-विवाद उक्त इतिहास के विशेषज्ञों, संशोधकों और अन्य विषयक विद्वत्वृन्द में भी होने लगे तो उसे लेखक की सबसे बड़ी सफलता ही मानना होगा, क्योंकि कालान्तर में इस प्रकार ही तथ्यों का निरूपण और वास्तविकता का उद्घाटन संभव हो सकेगा।

बड़ी मेहनत, पूरी लगन और विशेष तन्मयता के साथ इस बृहत् ग्रन्थ की रचना कर उसका लेखक उसे स्वच्छ सुचारु रंग-रूप में प्रस्तुत कर रहा है। अतः इतिहास-कार ही नहीं, साहित्य और संस्कृति के अध्येता भी तदर्थ सदैव श्री हरिहरनिवास द्विवेदी के कृतज्ञ रहेंगे।

"रघुबीर निवास"
सीतामऊ (मालवा)
संवत्सर-प्रतिपदा, २०३० वि०

रघुबीरसिंह

शुद्धि पत्र

वहुत सावधानी वरतने पर भी इस पुस्तक में मुद्रण की कुछ ऐसी भूलें रह गई हैं जिन्हें ठीक कर लेना उचित है। इन अशुद्धियों के लिए हमें वहुत खेद है।

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१	२२	तामर	तोमर
४७	१५	२४२८	२४८५
४८	२४	विनयचन्द्र	विजयचन्द्र
५८	पाद टिप्पणी	डॉ० सन्तराम कटारे	डॉ० सन्तलाल कटारे
७४	२२	अपभ्रपों	अपभ्रंशों
८१	पाद टिप्पणी	जिनदत्त	जिनचन्द्र
८५	१०	जिनचन्द्र	जिनपति
९०	८	वि० सं० १४२२ (सन् १३६५ ई०)	वि सं० १३९७ (सन् १३४० ई०)
१६९	२०	र	ओर
२३०	पाद टिप्पणी	डॉ० सन्तराम कटारे	डॉ० सन्तलाल कटारे
२३७	२२	अनंगपाल प्रथम	अनंगपाल द्वितीय
२४७	६	अनंगपाल प्रथम	अनंगपाल द्वितीय
२६७	१७	त्रिभुवनमल्ल	भुवनैकमल्ल
२७३	३०	अनंगपाल द्वितीय	अनंगपाल प्रथम
२९७	२२	ढिल्लका	ढिल्लिका



श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

का

इतिहास, पुरातत्व तथा हिन्दी साहित्य

के क्षेत्र में योगदान

- मध्यभारत का इतिहास ४ भाग
- भारत की मूर्तिकला
- त्रिपुरी
- ग्वालियर राज्य के अभिलेख
- तानसेन
- दृश्य संगीत (रागमाला चित्र)
- संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य
- महारानी लक्ष्मीबाई

संपादन

- ★ विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ
- ★ भारती मासिक
- ★ सर्वोच्च न्यायालयीन निर्णय
- ★ साप्ताहिक मंगलप्रभात
- ★ दैनिक नवप्रभात

- ● मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)
- ● छिताई चरित
- ● मानसिंह और मानकुतूहल
- ● मैनासत
- ● महाकवि विष्णुदास
- ● महात्मा कबीर
- ● पंत और गुंजन
- ● लखनसेन पदमावती रास
- ● लौकिक आख्यान काव्य परंपरा और मधुमालती
- ● हिन्दी साहित्य।
- ● भारतीय साहित्य की मौलिक एकता
- ● शासन-शब्द-संग्रह
- ● मध्यभारत किधर
- ● आसुओं का इतिहास।

"जबलपुर लॉ जर्नल" एवं "मध्यप्रदेश राजस्व निर्णय" विधि-मासिकों का इक्कीस वर्ष से सम्पादन तथा एक लाख से अधिक मुद्रित पृष्ठों का हिन्दी एवं अंगरेजी का विधि साहित्य

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—ऐतिह्य सामग्री

द्वितीय खण्ड—इतिहास की रूपरेखा

विषय-सूची

तोमरों का इतिहास

प्रथम भाग

दिल्ली के तोमर

प्रथम खण्ड

● ऐतिह्य सामग्री ●

विषय-प्रवेश

यह लगभग सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि दिल्ली की स्थापना तोमरवंश के किसी राजा ने की थी। कब की थी, इस विषय में कुछ मतभेद हैं, परन्तु वह कुछ अधिक महत्त्व की बात नहीं है। दिल्ली के तोमरों का राज्य, संसार के सभी राज्यों के समान, समाप्त भी हुआ था; कब और कैसे समाप्त हुआ था, इन प्रश्नों पर भी अनुश्रुतियाँ अनेक रूप में मिलती हैं, परन्तु अब तक इतिहासकार इस विषय में लगभग एकमत हैं कि सन् ११५१ या ११५२ ई० में चौहान विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली का तोमर राज्य या साम्राज्य चौहानों के अधीन कर लिया था। ऐसा हुआ था या नहीं, यह प्रश्न विवेचनीय है; तथापि तोमरों द्वारा दिल्ली का राज्य खोने तक के उनके इतिहास के दो स्पष्ट खण्ड हैं, पहला वह जिसमें तोमरों द्वारा दिल्ली के राज्य की स्थापना के पूर्व का विवरण है और दूसरा वह जिसमें दिल्ली का राज्य अर्जित करने से लेकर उसे खोने तक का विवरण सन्निहित है।

इसके पश्चात् दो स्वतन्त्र तोमर राज्य इतिहास-पटल पर दिखाई देते हैं। ग्वालियर में लगभग १२५ वर्ष तक एक तोमरवंश राज्य करता रहा, जो अपने आपको दिल्ली के तोमरों का वंशज मानता था। दूसरा तोमर राज्य मालवा में सलहदी तोमर ने उस समय स्थापित किया था जब ग्वालियर के तोमरों का राज्य चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर पतनोन्मुख हो रहा था। इन दो स्वतन्त्र तोमर राज्यों के विवेचन तोमरवंश के इतिहास के पृथक् खण्ड हैं।

इसके पश्चात् ग्वालियर के तोमरों के वंशज मेवाड़ के राणाओं और मुगलों के सामन्त के रूप में इतिहास में दिखाई देते हैं। यद्यपि किसी भी राजवंश के इतिहास में उस वंश के सामन्तों या जमीदारों का इतिहास देना बहुत समीचीन नहीं माना जा सकता, तथापि, राणाओं तथा मुगलों के सामन्त तोमरों ने कुछ ऐसे कृत्य किये हैं जिनके कारण उन्हें इतिहास-पुरुष माना जा सकता है। राणाओं और मुगलों के तोमर सामन्तों का विवरण अलग खण्डों में देना उचित है।

यह राजवंश एक सहस्राब्दी से अधिक अविच्छिन्न रूप से भारत के किसी न किसी भाग पर राज्य करता रहा है। इतनी लम्बी परम्परा किसी अन्य राजवंश की, भारत के इतिहास में उपलब्ध नहीं है; साथ ही, यह भी सत्य है कि भारत के आधुनिक इतिहासकारों द्वारा इतना अधिक उपेक्षित कोई अन्य राजवंश नहीं है। इस राजवंश ने भारतीय संस्कृति के निर्माण में भी अद्वितीय योगदान दिया है; अतएव, तोमरवंश के इतिहास का अन्तिम खण्ड उनके द्वारा सांस्कृतिक क्षेत्र में दिये गये योगदान का विवेचन है।

तोमर राजवंश के इस इतिहास के, इस प्रकार, प्रत्यक्षतः छह खण्ड है :—

१. (अ) तोमरों के दिल्ली-राज्य की स्थापना के पूर्व का विवरण,
(आ) दिल्ली के तोमरों के राज्य का विवरण;
२. ग्वालियर के तोमर-राज्य का विवरण;
३. मालवा के तोमर-राज्य का विवरण;
४. मेवाड़ के राणाओं के तोमर सामन्तों का विवरण;
५. मुगलों के तोमर सामन्तों का विवरण; तथा
६. तोमरों द्वारा भारतीय संस्कृति के निर्माण में किये गये योगदान का विवरण।

यद्यपि यह सुनिश्चित है कि इतने लम्बे समय तक भारत की राजनीति और संस्कृति को प्रभावित करने वाले इस राजवंश के किसी भी अंश पर अब तक व्यवस्थित रूप में लिखने का प्रयास नहीं किया गया है, फिर भी वह नितांत कोरी पाटी भी नहीं है। प्रासंगिक या आनुषंगिक रूप से तोमरों के इतिहास की घटनाओं के विषय में, बिना गंभीर अध्ययन किये, इतना अधिक लिखा जा चुका है और वह इतना परस्पर-विरोधी है कि उसकी संगति बैठाना यदि असंभवप्राय नहीं तब अत्यधिक कठिन अवश्य बना दिया गया है। दिल्ली के तोमर राजवंश का इतिहास इस प्रवृत्ति के कारण बहुत अधिक विकृत हो गया है। उनका राज्य-क्षेत्र और राज्य-काल, दोनों ही, अनाथ भवन के समान माने गये हैं। जिस राजवंश के इतिहास-लेखक को जिस प्रदेश या जिस राज्य-काल की आवश्यकता पड़ी है, वह दिल्ली के तोमर-राजवंश के राज्य-क्षेत्र या राज्य-काल से अबाध रूप में कुतर लिया गया है। यदि प्रतीहार-सम्राटों की साम्राज्य-सीमा निर्धारण करने का प्रसंग आया तब उसे सतलज के किनारे तक पहुँचा दिया गया, बिना यह विचार किये कि वहाँ तोमर सम्राट् जमे हुए थे। जहाँ गहड़वाल-साम्राज्य का रूप-निरूपण किया गया, तब उन्हें भी दिल्ली का अधिपति दिखाया गया है। जब चौहानों के 'महाराज्य' का निर्धारण किया गया, तब उन्हें भी निस्संकोच रूप में दिल्लीपति घोषित कर दिया गया है, और उसके लिए, जिसको जैसी सुविधा हुई, उसकी काल-सीमा निर्धारित करदी गयी है।

ग्वालियर के तोमर राजवंश का सवासौ वर्ष का राज्यकाल तो इतिहास का विषय ही नहीं माना गया है। "दिल्ली से पालम" तक आठ मील के 'साम्राज्य' के अधिकारी, या चालीस-पचास वर्ष के राज्यकाल के छोटे-छोटे राजवंश और उनके राजा भारतीय इतिहास के प्रमुख वर्ण्य विषय माने गये हैं; परन्तु ग्वालियर के तोमर पूर्णतः उपेक्षणीय ही माने गये हैं। उनके विषय में भी सुल्तानों के इतिहासकारों ने इस प्रकार के अनर्गल और निराधार कथन किये हैं कि चित्त ग्लानि से भर जाता है।

इस प्रकार का क्रम, लगभग सोलहवीं शताब्दी से चल रहा है, जब सर्व-प्रथम अबुलफजल ने, उसे प्राप्त और उपलब्ध सामग्री के आधार पर, भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया था।

इसके पूर्व कि तोमर राजवंश का इतिहास प्रस्तुत किया जा सके उसके विषय में अब तक की गयी स्थापनाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

दिल्ली-राज्य की स्थापना के पूर्व का तोमर-इतिहास

दिल्ली के प्रथम तोमर राजा ने जब दिल्ली के राज्य की स्थापना की थी उसके पूर्व यह राजवंश कहाँ रहता था, इसका कुछ विवरण अबुलफजल ने आईने-अकबरी में दिया है। उसके अनुसार परीक्षित के वंश का कोई राजा इन्द्रप्रस्थ में पराजित हुआ और वहाँ से उस का वंश मालवा चला गया तथा धार में उसने तोमरवंश का राज्य स्थापित किया। इस वंश का अन्तिम राजा दिल्ली आ गया।[1] अबुलफजल ने अपने 'मालवा के तोमरों के इतिहास' की आधारभूत सामग्री का कोई उल्लेख नहीं किया है। उसने इसे भाटों से प्राप्त किया होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अबुलफजल के इस 'इतिहास' के आधार पर आगे सर जॉन माल्कम[2] तथा विन्सेण्ट स्मिथ[3] ने मालवा के तोमरों का इतिहास लिखा। ज्ञात यह हुआ कि यह समस्त इतिहास नितान्त काल्पनिक है। अतः इसका पुनरीक्षण आवश्यक हुआ।

दिल्ली के तोमरों का इतिहास—दो विरोधी धाराओं का सम्मिश्रण

सबसे अधिक कठिनाई सामने आती है दिल्ली के तोमरों के इतिहास के अध्ययन में। इन तोमरों के विषय में इतना अधिक, इतने लम्बे समय से और इतने प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा लिखा गया है कि यद्यपि उन कथनों का खण्डन करनेवाले अत्यन्त पुष्ट ऐतिह्य आधार उपलब्ध हैं, तथापि उनके विपरीत कुछ लिखना साहसिक कार्य है। तुर्कों और अफगानों की शक्ति छिन्न-भिन्न होने के पश्चात् जब बाबर के समय से चुगताई तुर्कों (मुगलों) का भारत-साम्राज्य दिल्ली को राजधानी बनाकर प्रारम्भ हुआ उस समय भारतीयों की अपने प्राचीन इतिहास के प्रति, विशेषतः दिल्ली के प्राचीन राजवंशों के विवरण जानने की, जिज्ञासा जाग्रत् हुई थी। उस समय, विभिन्न स्रोतों से, दिल्ली के तोमर-राज्य की समाप्ति के विषय में दो स्थापनाएँ की गयी थीं। एक स्थापना, किसी अज्ञात आधार पर अबुलफजल ने यह की कि चौहान विग्रहराज चतुर्थ ने पृथ्वीराज तोमर को रणाङ्गण में पराजित किया और उससे दिल्ली का राज्य छीन लिया और इस प्रकार दिल्ली का तोमर राज्य समाप्त हुआ।[4] यह वही अनुश्रुति है जो आगे इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध के रचयिता (अज्ञात) ने सन् १७१५ ई० के आसपास अपनी कृति में संग्रह की है। इस ग्रन्थ में बीसल चौहान और पृथ्वीराज तोमर के बीच घोर युद्ध का वर्णन किया गया है तथा उस युद्ध में पृथ्वीराज तोमर का पराजित होना तथा

१. आईने-अकबरी, ग्लैडविन और गैरेट, द्वितीय भाग, पृ० ३३३-३४०।
२. रिपोर्ट ऑन द प्राविन्स ऑफ मालवा एण्ड एडज्वाइनिंग डिस्ट्रिक्टस, पृ० १२-१३।
३. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४११-४१२।
४. आईने-अकबरी, ग्लैडविन और गैरेट, द्वितीय भाग, पृ० १०६-१०८।

बीसल चौहान द्वारा दिल्ली का राजा या सम्राट् हो जाना कहा गया है।[1]

इस घटना का दूसरा स्वरूप पृथ्वीराज रासो में मिलता है। रासो में, किसी कारण से, दिल्ली खोने वाले तोमर राजा का नाम "पृथ्वीराज" ग्रहण नहीं किया गया है, वरन् उसका नाम अनंगपाल दिया गया है। दिल्ली खोने की रीति को भी रासोकार भाटों ने बदल दिया है और पाने वाले चौहान राजा के नाम को भी बदल दिया है। रासो के अनुसार अनंगपाल तोमर ने अपने दौहित्र राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान[2]) को दिल्ली का राज्य दान में दे दिया और स्वयं तपस्या करने के लिए बदरिकाश्रम चला गया। जैन मुनियों द्वारा लिखे गये कुछ प्रबन्ध भी इस प्रकार के प्राप्त हुए हैं जिनमें राय पिथौरा की राजधानी अजमेर के बजाय दिल्ली बतलाई गई है।[3]

दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले राजाओं की अनेक वंशावलियाँ ईसवी सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में तथा उसके पश्चात् भी तैयार की गयी थीं, उनमें से प्राचीनतम उपलब्ध वह वंशावली है जिसे अबुलफजल ने आईने-अकबरी में दिया है। निश्चय ही वह अपनी उस जानकारी से प्रभावित था जिसमें कहा गया था कि चौहानों ने तोमरों से युद्ध के माध्यम से दिल्ली का राज्य छीन लिया था, अतएव अबुलफजल ने दिल्ली के तोमर राजाओं में पृथ्वीराज तोमर को अन्तिम माना और उसके पश्चात् बीसल चौहान से राय पिथौरा तक के चौहान राजाओं को दिल्ली के सिंहासन पर बैठा दिया। अबुलफजल के पश्चात् जितनी भी वंशावलियाँ बनायी गयीं उनमें उसका ही कथन दुहराया गया, केवल राजाओं के नामों और उनकी संख्या में यत्रतत्र परिवर्तन किये गये।

पृथ्वीराज रासो के अनुसार राय पिथौरा का समकालीन तोमर राजा कोई अनंगपाल था। परन्तु समस्त प्राप्त वंशावलियों में से किसी में भी दिल्ली के राजाओं की सूची बनाने में रासो का यह कथन नहीं माना गया। ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंगरेजों ने अपने साम्राज्य के नवीन घटक भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास से अवगत होने का प्रयास किया तब लैफ्टिनेण्ट-कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताने के इतिहास का विस्तृत अध्ययन किया और एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान (अथवा सेण्ट्रल वेस्टर्न राजपूत स्टेट्स ऑफ इण्डिया) नामक वृहदाकार ग्रन्थ प्रस्तुत किया। श्री टॉड ने तोमर और चौहानों का इतिहास देते समय पृथ्वीराज रासो को ही आधार बनाया। टॉड महोदय ने यद्यपि इस संदर्भ में अन्य पोथियों को देखने का भी उल्लेख किया है,[4] तथापि वे अनंगपाल तोमर द्वारा राय पिथौरा को दिल्ली दान में देने के तथ्य

१. इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध : सम्पादक डॉ० दशरथ शर्मा (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर), पृ० १६।
२. पृथ्वीराज चौहान और पृथ्वीराज तोमर में विभेद करने के लिए इस पुस्तक में हमने पृथ्वीराज चौहान को "राय पिथौरा" लिखा है।
३. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह, (सिंघी जैन-ग्रंथमाला) पृथ्वीराज-प्रबन्ध, पृ० ८६।
४. सन् १८६८ का संस्करण, पृ० २६८।

को ही स्वीकार करते हैं। अन्य पोथियों से संभवतः श्री टॉड को तोमरों द्वारा दिल्ली बसाने आदि की अनुश्रुतियाँ ही प्राप्त हुई थीं। श्री टॉड ही एक ऐसे इतिहासकार हैं जो तोमर-चौहान इतिहास का आधार पूर्णतः रासो को ही बनाते हैं।

मेजर जनरल एलैक्जेण्डर कनिंघम ने उन्नीसवीं शताब्दी में ही भारत का पुरातत्त्व विषयक सर्वेक्षण किया था। सन् १८६२-६३ ई० में उनके द्वारा दिल्ली-क्षेत्र का सर्वेक्षण किया गया। कनिंघम महोदय ने सबसे बड़ा काम यह किया कि दिल्ली के तोमरों के सम्बन्ध में समस्त उपलब्ध पोथियों और अनुश्रुतियों का संग्रह कर डाला, तोमरों द्वारा दिल्ली राज्य की स्थापना का समय, उनकी वंशावली और तोमरों के दिल्ली के राज्य की समाप्ति के सम्बन्ध में सामग्री तथा अनुश्रुतियाँ एकत्र कीं और अपने निष्कर्ष भी दे दिये। श्री कनिंघम ने दो तिथियाँ और तथ्य सुनिश्चित माने। एक तो यह कि सन् ११५१ में विग्रहराज चौहान ने दिल्ली का राज्य तोमरों से छीन लिया, और दूसरा यह कि सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गौरी ने दिल्ली हस्तगत कर ली। परन्तु श्री कनिंघम ने दिल्ली का राज्य खोने वाला तोमर राजा अनंगपाल ही माना, न कि पृथ्वीराज तोमर। इस मान्यता के कारण श्री कनिंघम ने सन् ११५१ के बाद के सब चौहान राजा दिल्लीपति माने।

यह बात ध्यान आकर्षित करती है कि मेजर जनरल कनिंघम ने न तो अबुल-फजल की ही बात पूरी मानी न पृथ्वीराज रासो की ही। दिल्ली लेने वाला चौहान राजा, अबुलफजल के अनुसार, विग्रहराज चतुर्थ माना गया, और दिल्ली खोने वाला तोमर राजा, रासो के अनुसार, अनंगपाल माना गया। चूंकि वंशावलियों और अनु-श्रुतियों में पहले दो अनंगपाल हो चुके थे, अतएव, श्री कनिंघम के लिए, यह तोमर राजा हो गया "अनंगपाल तृतीय"। वंशावलियों में अन्तिम तोमर राजा "पृथ्वीराज तोमर" था, अतएव कनिंघम साहब ने उसे फालतू मान लिया क्योंकि उसके कारण सन् ११५१ ई० की घटना बीस वर्ष और बढ़कर सन् ११७१ ई० में पहुँच रही थी[1]। दो विपरीत अनुश्रुति-परम्पराओं का सम्मिश्रण श्री कनिंघम द्वारा इस प्रकार किया गया मानो कपड़े की नाप का बना देने के लिए तोमर-इतिहास-शरीर का थोड़ा सा भाग काट दिया गया हो।

मेजर जनरल कनिंघम को वे सब मुद्राएँ उपलब्ध थीं, जिन्हें दिल्ली के तोमरों की मुद्राएँ कहा जा सकता है। उनके समक्ष केवल ठक्कुर फेरू की 'द्रव्यपरीक्षा' तथा 'खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि' नहीं थी। परन्तु फिर भी उन्हें इतनी सामग्री अवश्य उप-लब्ध थी जिससे उन्हें अनंगपाल द्वितीय के पश्चात् मदनपाल, पृथ्वीराज और चाहड़पाल तोमर राजाओं के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता, तथापि वे सन् ११५१ ई० की घटना के अतिरिक्त कुछ अन्य उलझनों से भी पीड़ित थे। कुछ राजाओं के नामसाम्य के कारण वे दिल्ली और कन्नौज दोनों पर ही तोमरों का राज्य मान बैठे थे[2],

---

१. आर्कों० सर्वे० रिपोर्ट्स, भाग २, पृ० १४९।

२. कॉयन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८०।

मदनपालदेव को कन्नौज का राठौर मानते थे[1] तथा पृथ्वीराज तोमर की मुद्राएँ वे राय पिथौरा की मानते थे। इसके साथ ही वे दिल्ली के चाहड़पाल तोमर और नरवर के चाहड़देव जज्वपेल्ल को अभिन्न मानते थे[2]। कुछ तोमर राजाओं को उनके द्वारा 'अज्ञात' खाते में डाला गया[3], यद्यपि इन 'अज्ञात' राजाओं के नाम भी श्री कनिंघम को प्राप्त वंशावलियों में उपलब्ध थे।

दिल्ली और कन्नौज पर एक ही राजवंश का राज्य होने की श्री कनिंघम की कल्पना विद्वानों द्वारा शीघ्र ही ध्वस्त कर दी गयी, तथापि उनके द्वारा अबुलफजल को प्राप्त अनुश्रुतियों के अनुसार उपलब्ध इतिहास और रासो से प्राप्त किये गये इतिहास के सम्मिश्रण के औचित्य और आधार पर विचार न हो सका। तोमर राज्य या साम्राज्य के अन्त के विषय में प्राप्त दो परस्पर विरोधी धाराओं का श्री कनिंघम का घोल-मेल लगभग अटल ही बना रहा; यह 'इतिहास' इस रूप में चल पड़ा : "सन् ११५१ ई० में चौहान विग्रहराज चतुर्थ ने तोमर अनंगपाल तृतीय से युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त कर दिल्ली छीन ली और फिर चौहान दिल्ली-सम्राट् बने।"

आधुनिक अखिल भारतीय इतिहासों में तोमर

समस्त भारत के सांगोपांग इतिहासों में एक राजवंश के इतिहास की विस्तृत खोजबीन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। तथापि दिल्ली और ग्वालियर भौगोलिक रूप से इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनके राजाओं के विषय में भी उनमें कुछ न कुछ उल्लेख करना अनिवार्य होता है। साथ ही तुर्कों के तोमरों से भी संघर्ष हुए थे, अतएव उनके इतिहासों के सन्दर्भ में भी उनका उल्लेख आवश्यक हुआ।

इन अखिल भारतीय इतिहासों के स्पष्टतः दो वर्ग हैं। पहले वर्ग के इतिहास केवल तुर्क सुल्तानों को केन्द्र बनाकर लिखे गये हैं और उनका मूलाधार मध्ययुगीन फारसी इतिहास ग्रन्थ हैं। इस वर्ग में सन् १९२८ में प्रकाशित कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया का तृतीय भाग सर्व प्रथम ग्रन्थ है और कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया का सन् १९७० में प्रकाशित पांचवां खण्ड, संभवतः, अन्तिम ग्रन्थ है। दूसरे वर्ग में प्रथम डॉ० हेमचन्द्र रे का डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया है, और अन्तिम है सन १९६० ई० में प्रकाशित द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपल के पांचवे और छठवें खण्ड। इन दो ग्रन्थों में भारतीय स्रोतों का भी सम्यक् उपयोग किया गया है और भारतीय मूल के विविध राजवंशों के इतिहास पर भी सविस्तर प्रकाश डाला गया है।

सर हेग का तोमर इतिहास

केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया का दूसरा भाग अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। अतएव इस ग्रन्थमाला के लेखकों द्वारा दिल्ली के तोमरों के तुर्कों से हुए संवर्ष के पूर्व के

---

१. कॉइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८७।

२. वही, पृ० ९२।

३. वही, पृ० ८८।

इतिहास का स्वरूप अज्ञात ही है। तृतीय खण्ड में तोमरों और तुर्कों के संघर्ष का विवरण लैफ्टिनेण्ट कर्नल सर वोल्सले हेग ने लिखा है। यह इतिहास केवल मध्ययुगीन फारसी इतिहासकारों के ग्रन्थों पर आधारित है।

दिल्ली के तोमरों के विषय में सर हेग ने लिखा है[1]—

"चौहान वंश के राजाओं की शृंखला ने सांभर के क्षेत्र पर राज्य किया था, जिसका प्रमुख नगर अजमेर बन गया था, और बारहवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश के विग्रहराज (वीसलदेव या वीसल देउ) ने उस तोमर वंश के एक राजा से, जिसने सन् ९९३-९४ ई० में वर्तमान कुत्बमीनार के पास लालकोट बनाकर दिल्ली की स्थापना की थी, उस नगर को छीन लिया। उस नगर का कोई महत्व नहीं था परन्तु विग्रहराज की विजय ने एक छोटे से वंश का अन्त कर दिया और संभव है उससे संगठन तथा शक्ति स्थापित हो जाती, यदि अन्य प्रतियोगी उपस्थित न होते।

"विग्रहराज का भतीजा तथा उत्तराधिकारी पृथ्वीराज, जिसे मुस्लिम इतिहासकार राय पिथौरा कहते हैं, अपने समय के भारत का अत्यधिक शौर्यशाली योद्धा था; परन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कन्नौज और अयोध्या का गहड़वाल राजा जयचन्द्र हुआ, जिसे मुसलमान 'बनारस का राजा जयचन्द' कहते थे। उसकी एक विवाह-योग्य पुत्री थी, जिसके लिए उसने स्वयंवर का आयोजन किया। प्राचीन प्रथा के अनुसार स्वयंवर में ऐसे राजकुमार बुलाए जाते थे जो कुमारी को वरण करना चाहते थे, और राजकुमारी उनमें से किसी एक को पति के रूप में अंगीकार कर लेती थी। स्वयंवर को प्रभुता के प्रस्थापन का प्रतीक माना जाता था, अतएव पृथ्वीराज स्वयंवर में उपस्थित न हुआ, परन्तु उसकी ख्याति राजकुमारी तक पहुँच चुकी थी और पृथ्वीराज ने सहमत-राजकुमारी का अपहरण कर जयचन्द्र के दम्भ को क्षति पहुँचाई। इस स्वच्छन्द कार्य ने उत्तर भारत की दो प्रमुख शक्तियों में कटुता उत्पन्न करदी, और ११८२ ई० में चन्देल राजा परमाल पर विजय तथा महोवा के प्रमुख गढ़ के हस्तगत ने पृथ्वीराज की ख्याति को अवश्य बढ़ा दिया, तथापि उसके द्वारा हिन्दुओं के पक्ष को निर्बल कर दिया गया, क्योंकि स्थानीय राजाओं में विद्वेष बढ़ गया।

"तथापि राजपुत्रों ने अपने विभेदों को विस्मरण कर दिया और तराओरी के प्रथम युद्ध में वे संगठित हो गये तथा उसमें मुहम्मद बिन साम की पराजय हुई। मुसलमान लेखक कहते हैं कि उस युद्ध में हिन्दुस्तान के सब राजा उपस्थित थे, परन्तु कन्नौज के जयचन्द्र को राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की प्रतिरक्षा के लिए भी अपने दामाद के साथ संगठित होना बहुत महँगा मूल्य ज्ञात हुआ, क्योंकि वह तराओरी के दूसरे युद्ध में भी हिन्दू संगठन से अलग रहा। इसी युद्ध के परिणाम स्वरूप हिन्दुस्तान में मुस्लिम राज्य की नींव पड़ी, और यदि हिन्दू अनुश्रुति पर विश्वास किया जाए, तब जयचन्द्र राष्ट्र के शत्रुओं से मिल भी गया था।"

यह इतिहास केवल अबुलफजल की आईने-अकबरी पर आधारित है। निश्चय ही सर हेग ने क्षत्रियों के इतिहास को जानने का प्रयास बिलकुल नहीं किया है। दुर्भाग्य से

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ५११-५१२।

सर हेग का इतिहास, यहाँ तक कि उनके कुछ वाक्य भी, अद्यतन इतिहासों में दुहराए जाते हैं। अंगरेज लेखक द्वारा अंगरेजी भाषा में लिखी गयी और इंग्लैण्ड देश में छपी पुस्तक का उस समय बहुत महत्व था।

सर हेग के इतिहास में दिल्ली के तोमरों के विषय में जो कथन यत्रतत्र बिखरे मिलते हैं, वे यह स्पष्ट प्रकट करते हैं कि उनके द्वारा यह विचार भी नहीं किया गया कि वास्तव में वे क्या लिख रहे हैं। यद्यपि ऊपर के उद्धरण से यह ज्ञात होता हैं कि उनका अभिमत था कि सन् ११५० ई० के आसपास विग्रहराज ने तोमरों से दिल्ली जीती थी, तथापि कुछ पृष्ठ पूर्व ही वे लिख चुके थे[1] —

"सुबुक्तगीन के विरुद्ध जयपाल प्रथम ने जो संघ बनाया था उसका प्रमुख सदस्य कन्नोज का राज्यपाल (जिसे मुस्लिम इतिहासकार जयचन्द्र लिखते हैं) तथा जिझौती का धंग था। सन् १००१ ई० में महमूद के विरुद्ध जो संघ बना था वह और अधिक शक्तिशाली था और पंजाब के आनन्दपाल का साथ सांभर या अजमेर का चौहान राजा विग्रहराज भी दे रहा था, जिसे सेना का नेतृत्व दिया गया था। उस संघ में विग्रहराज का करद दिल्ली का तोमर राजा भी था।"

सर हेग के अनुसार, इस प्रकार, सन् १००१ ई० में ही दिल्ली के तोमर अजमेर या सांभर के चौहानों के करद हो गये थे। वे करद कब और कैसे हो गये, यह सर हेग ने नहीं बतलाया, वे सन् १००१ ई० में चौहानों के करद थे अवश्य, केवल यही उक्त विद्वान ने बतलाया है; अर्थात् सर हेग के अनुसार किसी तोमर ने सन् ९९३-९४ ई० में दिल्ली के राज्य की स्थापना की और सन् १००१ ई० में वे चौहानों के करद हो गये। सात-आठ वर्ष स्वतंत्र रह सके, स्यात् उनके राज्य का जन्म ही करद के रूप में हुआ हो!

इस भीषण इतिहास के पश्चात् सर हेग की कृति से कोई मार्ग-दर्शन लेना बहुत उपयोगी नहीं माना जा सकता, तथापि उसे अनेक स्थलों पर दुहराया गया है। सर हेग ने कुछ अन्य तोमर राजाओं के नाम भी दिये हैं। सन् १०१४ ई० में वे दिल्ली का राजा 'बिजयपाल' बतलाते हैं और उसे निश्चय ही तोमर कहते हैं।[2] इस स्थल पर वे उसे चौहानों का करद नहीं कहते। आगे सन् १०४२ ई० में दिल्ली का राजा महीपाल माना गया है।[3] वह तोमर था या नहीं यह ज्ञात नहीं होता। परन्तु सर हेग के वर्णन से यह ज्ञात नहीं होता कि वह किसी का करद था।

सन् ११९०-९१ में पृथ्वीराज को 'दिल्ली का चौहान राजा' कहा गया है और 'गोविन्दराय' को उसका भाई बतलाया गया है।[4]

जिन फारसी इतिहासों के आधार पर सर हेग ने अपना इतिहास लिखा था, उनके कथनों के प्रकार और उद्देश्य को उन्होंने पकड़ा अवश्य था, तथापि उनकी कुछ

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ५०७।
२. वही, पृ० १८।
३. वही, पृ० ३२।
४. वही, पृ० ४०।

मजबूरियाँ भी थीं। वे भारतीय ऐतिह्य सामग्री से नितान्त अपरिचित थे।

ग्वालियर के तोमरों के संदर्भ में सर हेग ने कुछ सतर्कता दिखाई है, ऐसा ज्ञात होता है। तथापि वे फारसी इतिहासों के कथन से बंधे हुए थे। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है[1]—

"सन् १४६६ ई० में उड़ीसा से लौटने पर उसने (हुसेनशाह शर्की ने) ग्वालियर का गढ़ जीतने के लिए सेना भेजी, जहाँ राजा मानसिंह जौनपुर और दिल्ली दोनों से ही अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित किये था, परन्तु वह अभियान आंशिक रूप में ही सफल हो सका, और लम्बे घेरे के पश्चात्, राजा द्वारा क्षतिपूर्ति किये जाने पर सेना लौट आई।"

निश्चय ही सन् १४६६ ई० में ग्वालियर गढ़ का राजा मानसिंह नहीं था, उसने स्यात्, उस समय तक जन्म ही लिया होगा। पता नहीं सर हेग को यह "मानसिंह" नाम कहाँ से प्राप्त हुआ है। संभव है यह छापे की भूल हो, परन्तु वह दोहराई सन् १९७० में भी गयी है, और ऐसे विद्वान द्वारा दुहरायी गयी है जो मध्ययुगीन फारसी इतिहासों के प्रख्यात महापण्डित हैं[2], अतएव संभव है यह छापे की भूल न होकर किसी मध्ययुगीन इतिहासकार की कृपा हो। अहमद यादगार की तारीखेशाही के अनुसार तो मानसिंह सन् १४८९ ई० के पूर्व वहलोल के राज्यकाल में मर चुका था।[3]

सर हेग ने मानसिंह के भतीजे निहालसिंह को "हिजड़ा जिसका नाम रायहान था" लिखा है।[4] सन् १९७० में उसका नाम तो शुद्ध होकर "निहाल" हो गया है, परन्तु उसका हिजड़ापन कदापि दूर न हो सका।[5] वयालीस वर्ष की प्रगति में उसका नाम कुछ-कुछ शुद्ध हो गया, यह भी उसका पुण्यफल ही है।

कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री में तोमर-इतिहास

इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के तत्वावधान में प्रकाशित कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया का प्रथम भाग सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ था। बीच के तीन भाग छोड़ कर सन् १९७० ई० में उसका पांचवाँ भाग प्रकाशित हो गया है। इस इतिहास का वर्ण्य विषय सन् १२०६ ई० से सन् १५२६ ई० तक का भारत का इतिहास है। इस कालसीमा के निर्धारण से ही यह प्रकट है कि इसकी रचना तुर्कों और अफगानों के इतिहास को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से हुई है। राजपूतों के इतिहास की दृष्टि से "तुर्क-राजपूत-संघर्ष" युग का प्रारम्भ सन् ११९२ ई० से हुआ था और उसका एक चरण १६ मार्च सन् १५२७ ई० में खानवा के युद्ध में समाप्त हुआ था। परन्तु यह केवल

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० २५५।
२. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ७२५।
३. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ० ९१।
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० २४१।
५. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ६९५।

रुचि-भेद और दृष्टिकोण का अन्तर है। तथापि निश्चय ही 'सल्तनत' का यह इतिहास मूलतः मध्ययुगीन फारसी इतिहास ग्रन्थों पर आधारित है। यद्यपि इसका दसवाँ अध्याय "राजस्थान" कुछ राजपूत राजाओं का इतिहास भी देता है, परन्तु यह अध्याय इस ग्रन्थ का केवल औपचारिक अंग है। १५२६ ई० तक "राजस्थान" नामक कोई भौगोलिक अंश भारत में मान्य भी नहीं था। ग्वालियर के तोमरों को इसी कारण से इस परिच्छेद में स्थान नहीं दिया गया क्योंकि ग्वालियर आज के राजस्थान की सीमा में नहीं है। तथापि, उनके ही सामन्त, धौलपुर के तोमरों को इस परिच्छेद में स्थान दिया गया है क्योंकि धौलपुर आज के राजस्थान का अंश है। यदि ग्वालियर के तोमरों के सामन्तों का ही इतिहास देना अभीष्ट था तब अवन्तगढ़ के उनके सामन्त कैसे छूट गये यही आश्चर्य है, क्योंकि अवन्तगढ़ भी आज के राजस्थान की सीमा में है, वहाँ का डूंगर इतिहास-प्रसिद्ध भी है, वह हुसेन बन गया था।

परन्तु जहाँ तक तुर्कों और अफगानों के इतिहास का सम्बन्ध है, वह इस इतिहास में बड़े मनोयोग और श्रद्धापूर्वक लिखा गया है। इस्लाम के उद्भव और विकास का विवरण तथा चंगेज-तैमूर आदि का इतिहास अत्यन्त प्रामाणिक रूप से प्रो० हबीब महोदय ने प्रस्तुत किया है। तोमरों के इतिहास की सामग्री के लिए हम उसका कोई उपयोग नहीं कर सकते।

परन्तु १२०६ ई० के पूर्व के तुर्कों के इतिहास में प्रो० निजामी साहब ने पूर्वपीठिका के रूप में शहाबुद्दीन गौरी और उसके गुलामों के पराक्रम का भी अटूट बखान किया है। इस प्रकार सन् ११७५ ई० से १२०६ ई० तक का इतिहास भी उपलब्ध हो गया है। इसमें दिल्ली के तोमरों के इतिहास के भी कुछ सूत्र प्राप्त होते हैं।

प्रो० निजामी यह मानकर चले हैं कि तँवरहिन्दा राय पिथौरा के राज्य या साम्राज्य का अंश था। सन् ११६१ ई० में ताराइन के युद्ध-क्षेत्र से शहाबुद्दीन को भगा देने वाले व्यक्ति का नाम खाण्डीराय और गोविन्दराय दोनों माने गये है। उसे दिल्ली का राजा अवश्य कहा गया है, परन्तु उसका कौन सा नाम ग्रहण किया जाए, यह मार्ग-दर्शन नही किया गया। तथापि सन् ११६२ ई० के युद्ध के विवरण में उसका नाम गोविन्दराय लिखा गया है[1]—"दिल्ली का गोविन्दराय युद्ध-भूमि पर मारा गया। परन्तु जो नीति अजमेर के बारे में अपनायी गयी थी वह दिल्ली के बारे में भी अपनायी गयी। गोविन्दराय के उत्तराधिकारी ने मुईज़ुद्दीन (शहाबुद्दीन) की आधीनता स्वीकार करली।" इस कथन से केवल अनुमान ही किया जा सकता है कि प्रो० निजामी अजमेर के राज्य के समान दिल्ली के राज्य का भी पृथक् अस्तित्व मानते हैं।

'गोविन्दराय' तोमर था या चौहान, इस विषय में प्रो० निजामी ने कुछ नहीं लिखा है, परन्तु आगे लिखा है—"प्रारम्भ में तोमर राजा को सिंहासनारूढ़ बना रहने दिया गया था, परन्तु ५८६/११६३ में जब ऐबक को यह ज्ञात हुआ कि उसने राजद्रोही कार्यवाही प्रारम्भ करदी है तब उसने उसे राजगद्दी से हटा दिया और दिल्ली पर

१. कम्ब्रे० हि०, भाग ५, पृ० १६५।

अधिकार कर लिया।" इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गोविन्द-राय' तोमर ही था। इस महत् ग्रन्थ में गोविन्दराय के उत्तराधिकारी को 'तोमर' किस मूल स्रोत के आधार पर लिखा गया है, यह ज्ञात नहीं हो सका।[1] वह स्रोत कुछ भी हो, सर हेग के १९२८ ई० में प्रकाशित तोमर-इतिहास से यह स्थिति बहुत आगे है; सर हेग ने तो सन् १००१ ई० में ही दिल्ली के तोमरों को चौहान वीसलदेव का सामन्त बना दिया था। दिल्ली के तोमरों के इतिहास की यही बहुत बड़ी उपलब्धि है कि कुछ आधुनिक इतिहासकार यह मानते हैं कि कुतबुद्दीन ऐवक ने जिस राजा का सिर काट कर सन् ११९३ ई० में 'उसी के महल' में लटका दिया था वह तोमर ही था और जो गोविन्द या खाण्डी ताराइन के युद्ध में मारा गया था वह भी तोमर था। कुछ आभास यह भी मिलने लगा कि अजमेर के समान दिल्ली भी एक पृथक् राज्य था।

परन्तु ग्वालियर के तोमरों के सन्दर्भ में निजामी साहब का इतिहास सर हेग के ही आसपास है। उनके इस इतिहास के अनुसार भी सन् १४६६-७ ई० में सुल्तान हुसेनशाह शर्की ने ग्वालियर के मानसिंह के विरुद्ध सेना भेज दी और लम्वे अवरोध को सहन न करने के कारण मानसिंह ने आधीनता स्वीकार करली।[2] इस इतिहास में कुछ वे भूलें भी दुहराई गयी हैं जो ४०० वर्ष पूर्व संभवतः जानबूझकर, विद्वेषवश की गयी थीं। तुर्कों के मध्ययुगीन इतिहासकार राजपूत राजाओं के नाम अशुद्ध लिखते थे। कुछ अशुद्धि तो उनकी लिपि के कारण होती थी, परन्तु केवल लिपि ने ही यह गड़बड़ नहीं की है, वे इन 'कुफ्र के पुतलों' से घृणा करते थे और इसी कारण नाम विगाड़ कर लिखते थे। कीर्तिसिंह को सर हेग ने कीरतसिंह लिखा। यह समझ में आ सकता है, अंगरेज अपनी जिह्वा को कष्ट नहीं देना चाहता था, परन्तु प्राध्यापक निजामी सन् १९७० में उसे "कीरत" क्यों लिखते हैं, यह समझना कठिन है। आज वह समस्त सामग्री उपलब्ध और प्रकाशित है जिससे 'हिन्दू सुरत्राण कीर्तिसिंहदेव' का शुद्ध नाम ज्ञात किया जा सकता है। कीर्तिसिंह का राजकुमार 'कपूरचन्द्र' न होकर 'कल्याण-मल्ल' था इसकी खोजबीन आवश्यक थी। जितना प्रयास इस 'इतिहास' में तुर्कों और अफगानों के वर्बर कृत्यों के समर्थन और धर्मोपदेश देने में किया गया है, उससे दशमांश भी यदि उनसे संघर्ष करने वाले वर्ग के नाम-धाम, उद्देश्य और प्रवृत्तियाँ जानने के लिए किया जाता तव निश्चय ही यह भारत का इतिहास वन जाता।[3]

परन्तु हमें इस इतिहास से एक मार्गदर्शन अवश्य मिलता है—गोविन्दराय या

१. डॉ० आशीर्वादीलाल ने 'दिल्ली सल्तनत' के सन् १९७१ के संस्करण में भी गोविन्दराय के उत्तराधिकारी को तोमर माना है। पृ० ७७।

२. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० ७२५।

३. यह प्रयास डॉ० आशीर्वादीलाल ने 'दिल्ली सल्तनत' में किया अवश्य है, परन्तु वह पाठ्यक्रम की दृष्टि से लिखी जाने के कारण अति संक्षिप्त कृति है।

खाण्डीराय या चाहडपाल,' तोमर था, उसका पुत्र तेजपाल भी तोमर था। ऐवक ने दिल्ली तोमरों से ली थी।

डॉ० हेमचन्द्र रे की डायेनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया

भारतीय इतिहास को सही दिशा में गंभीरतापूर्वक लिखने का सूत्रपात करने का श्रेय डॉ० हेमचन्द्र रे को है। इनका बृहद्ग्रन्थ 'डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया' उत्तरभारत के किसी भी राजपूत वंश के इतिहास के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य पुस्तक है।

डॉ० रे ने उपलब्ध समस्त शिलालेखों के आधार पर उत्तरभारत के विभिन्न राजवंशों के इतिहास को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया और उसका विवेचन उपलब्ध अनुश्रुतियों के आधार पर भी किया। इस ग्रन्थ में दिल्ली और ग्वालियर के तोमरों का भी इतिहास दिया गया है[1]। ग्वालियर के तोमरों के सम्बन्ध में उनके द्वारा दो शिलालेखों के आधार पर कुछ लिखा गया है, एक मित्रसेन का वि० सं० १६८८ का रोहितारवगढ़ का शिलालेख[2] तथा दूसरा नरवर के जयस्तम्भ का संग्रामसिंह का शिलालेख[3]। प्रस्तुत प्रसंग में ग्वालियर के तोमरों के सम्बन्ध में डॉ० रे का विवेचन उपयोगी नहीं है, क्योंकि ग्वालियर के तोमरों के इतिहास-निर्माण की सामग्री बहुत अधिक परिमाण में उपलब्ध हो गयी है। यहाँ देखना यह है कि डॉ० रे ने श्री कनिंघम और श्री टॉड की तोमर-इतिहास की परम्परागत मान्यताओं में कहाँ तक सुधार या संशोधन किया है और कौन-कौन सी नवीन स्थापनाएँ की हैं।

डॉ० रे ने इस अनुश्रुति का उल्लेख किया है कि तोमरों ने दिल्ली के राज्य की स्थापना सन् ७३६ ई० में की थी। उनके अनुसार यह कथन नितान्त असत्य है कि राय पिथौरा ने तोमरों से दिल्ली दान में प्राप्त की थी। कुछ चौहान-शिलालेखों के आधार पर डॉ० रे ने यह स्थापना की है कि विग्रहराज चतुर्थ ने सन् ११६४ ई० में तोमरों से दिल्ली प्राप्त की।

इसके पश्चात् पेह्वा के गोग्ग तोमर के शिलालेख[4] का विवेचन किया गया है। उस शिलालेख के जाउल, वज्रट और गोग्ग को दिल्ली के तोमर मानकर डॉ० रे ने यह स्थापना की है कि प्रतीहार भोजदेव (प्रथम) (८३६-८८२ ई०) तथा महेन्द्रपाल (८९३-९०७ ई०) के समय में दिल्ली के तोमर उनके साम्राज्य की परिसीमा में आगये थे। इसका कुछ समर्थन भोजदेव के नाम के उल्लेख-युक्त पाण्डवों के किले में मिले प्रस्तर-खण्ड से भी प्राप्त किया गया है।

डॉ० रे ने तोमर मुद्राओं का भी उल्लेख किया है। अनंगपाल की मुद्राओं के विवेचन के सन्दर्भ में उक्त विद्वान ने लिखा है कि एक अनंगपाल की पहचान का कुछ

१. भाग २, पृ० ११४५।

२. ज० ए० सो० बं०, भाग ८, खण्ड २, पृ० ६९३-७०१।

३. ज० ए० सो० बं०, भाग ३१, पृ० ४०४।

४. एपी० इण्डि०, भाग १, पृ० २४२।

दुर्बल आधार भाटों की उस नाम के तीन तोमर राजाओं की अनुश्रुतियों और अमीर खुशरव के कथन से प्राप्त होता है।[1]

डॉ० रे के इस तोमर-इतिहास में रासो की कथा तथा श्री टॉड के कथन की अस्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु उनके द्वारा अनंगपाल 'तृतीय' के अस्तित्व की स्थापना का खण्डन नहीं किया गया है। डॉ० रे ने जो नवीन योगदान दिया है वह यह है कि पेह्वा-शिलालेख के वज्रट और गोग्ग दिल्ली के तोमरवंशी राजा थे, और वे सन् ८३६ तथा ९०७ ई० के बीच निश्चय ही प्रतीहारों के सामन्त थे। इन उद्भावनाओं ने दिल्ली के तोमर-इतिहास में कुछ नयी उलझनें बढ़ा दीं।

डॉ० गांगुलि का तोमर-इतिहास

'द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपल' के दो भागों का उल्लेख ही सम्बद्ध है। 'द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज' में डॉ० डी० सी० गांगुलि ने दिल्ली के तोमरों के इतिहास को लगभग एक पृष्ठ का स्थान दिया है[2] तथा अगले भाग 'द स्ट्रगल फॉर एम्पायर' में केवल एक वाक्य दिल्ली के तोमरों के हिस्से में आया है, जिसमें लिखा है "उसने (चौहान विग्रहराज ने) तोमरों से ढिल्लिका जीत ली और पंजाब के हिसार जिले में स्थित वर्तमान हाँसी, आशिका, पर कब्जा कर लिया।"[3]

द एज ऑफ इम्पीरियल कनौज के एक-पृष्ठीय तोमर-इतिहास में सन् ७३६ में दिल्ली की स्थापना की अनुश्रुति का उल्लेख करने के पश्चात् पेह्वा के शिलालेख का उल्लेख किया गया है। उसमें आए वज्रट का उल्लेख करते हुए यह स्थापना की गयी है कि इस समय तक दिल्ली के तोमर प्रतीहार भोज के अधीन हो गये होंगे, भोज का साम्राज्य पंजाब के सिरसा और कर्नाल जिलों तक फैला हुआ था। आगे यह भी संभावना व्यक्त की गयी है कि गोग्ग उस रुद्रेन (रुद्र) का वंशज होगा जिसे चाहमान चन्दन ने युद्ध-क्षेत्र में मारा था। "तोमर उस समय तक दिल्ली पर राज्य करते रहे जब उन्हें चौहान विग्रहराज चतुर्थ ने ईसवी बारहवीं शताब्दी के मध्य में अपदस्थ कर दिया।"

यह तोमर-इतिहास डॉ० हेमचन्द्र रे के कथनों की पुनरावृत्ति मात्र है। इसका कुछ आधार चौहानों के इतिहासकारों के कथनों से भी प्राप्त किया गया है। डॉ० गांगुलि ने कुछ सतर्कता भी दिखायी है। उनके द्वारा दिल्ली खोने वाले तोमर राजा का नाम नहीं दिया गया।

शहाबुद्दीन गौरी के सन् ११९१ ई० के आक्रमण के सन्दर्भ में डॉ० गांगुलि ने फारसी इतिहास लेखकों के विवरण के साथ हम्मीरमहाकाव्य का विवरण मिलाकर 'दिल्ली के राय' का इतिहास लिखा है[4]। डॉ० गांगुलि के अनुसार "मुसलमानों के सर-

---

१. डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, भाग २, पृ० ११४९-५०।

२. पृ० १११-११२।

३. पृ० ८२।

४. द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, (सन् १९६४ का द्वितीय संस्करण), पृ० १०९।

हिन्द तक बढ़ आने के कारण चाहमानों के पश्चिम के सामन्तों (फ्यूडटरीज) में चिन्ता व्याप्त हो गयी। दिल्ली के गवर्नर गोविन्दराज का पुत्र चन्द्रराज अन्य सामन्तों के साथ पृथ्वीराज (राय पिथौरा) के समक्ष शिष्ट-मण्डल लेकर पहुँचा ....। पृथ्वीराज (राय पिथौरा) दो लाख अश्वारोहियों और तीन हजार हाथियों के साथ मुईजुद्दीन मुहम्मद को दण्ड देने के लिए चल पड़ा। दिल्ली का गोविन्दराज तथा अन्य भारतीय राजा उसके साथ थे।" आदि आदि।

तबकाते-नासिरी के एक पाठ में दिल्ली के राय 'गोविन्द' का उल्लेख है। हम्मीर-महाकाव्य के एक अशुद्ध पाठ में अवश्य यह मिलता है "गोपालचन्द्राङ्गवितीर्णरङ्गम् श्रीचन्द्रराजं पुरतो निधाय"। परन्तु इस पाठ से भी 'गोविन्द' का पुत्र चन्द्रराज अर्थ नहीं निकलता। 'गोपाल' और 'गोविन्द' में कुछ अन्तर तो है ही। सन् १८७९ में, भूल से, श्री नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तने ने "श्री चन्द्रराज सन् ऑफ गोविन्दराज" लिख दिया था[1], उसे ही ज्यों का त्यों मान लिया गया है। डॉ० गांगुलि के समक्ष संभवतः शुद्ध पाठ नहीं था जो इस रूप में है: "गोपाचलद्रङ्गवित्तीर्णरङ्गम् श्रीचन्द्रराजं पुरतो निधाय"। नयचन्द्र के शिष्य ने हम्मीर-महाकाव्य की "हम्मीरकाव्यदीपिका" लिखी थी, उसके अनुसार राजा का नाम चन्द्र या चन्द्रराज है और वह गोपाचलवासी हैं[2]। इस शुद्ध पाठ की प्राप्ति के पश्चात् भी उसी की भूमिका में लिखे गये "हम्मीर-महाकाव्य में ऐतिह्य सामग्री" निबन्ध में "गोपालचन्द्र के पुत्र चन्द्रराज" का उल्लेख किया गया है।

चन्द्र हो, चन्द्रराज हो या गोविन्दराज या गोपालचन्द्र, यह राय पिथौरा का 'गवर्नर' था, यह कथन नयचन्द्र का नहीं है, नयचन्द्र ने उसे पश्चिम के राजागण का प्रमुख बतलाया है। तबकाते-नासिरी या फरिश्ता भी अपने राय गोविन्द, गोयन्द, चावुण्ड, या खाण्डी को 'दिल्ली का राय' ही लिखते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राय पिथौरा को अजमेर का राय लिखते हैं। डॉ० गांगुलि ने इसे राय पिथौरा का 'गवर्नर' कैसे बना दिया, इसके लिए चौहानों के कुछ आधुनिक इतिहासकारों के कथन देखना होंगे, ये ही डॉ० गांगुलि महाशय के इतिहास में प्रतिध्वनित हुए हैं।

रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का चौहान-तोमर इतिहास

तोमर-चौहान सम्बन्धी इतिहास के सन्दर्भ में अत्यधिक दृढ़ और ओजस्वी मत रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने व्यक्त किया था। पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता पर विचार करते हुए मान्यवर ओझा जी ने लिखा था[4]—

"पृथ्वीराजरासे में लिखा है कि 'देहली में तंवर राजा अनंगपाल ने अपनी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ किया जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ। अन्त में अनंगपाल देहली का राज्य अपने दौहित्र को देकर बद्रिकाश्रम में तप करने को चला

१. हम्मीरमहाकाव्य (राजस्थान पुरातत्व ग्रन्थमाला), श्री कीर्तने की प्रस्तावना, पृ० १२। २. वही, पृ० १४१। ३. वही, पृ० २८।
४. अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, संवत् १९७७, पृ० ४०४।

गया।.........न तो सोमेश्वर के समय देहली में तंवर अनंगपाल का राज्य था और न उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ हुआ था। इसलिए पृथ्वीराजरासे का यह कथन माननीय नहीं, क्योंकि देहली का राज्य तो विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे ने ही अजमेर के अधीन कर लिया था। वीजोल्यां के उक्त वि० सं० १२२६ के लेख में विग्रहराज के विजय के वर्णन में लिखा है कि 'ढिल्ली (देहली) लेने से थके हुए और आशिका (हांसी) प्राप्त करने में स्थगित अपने यश को उसने प्रतोली (पोल) और वलभी (झरोखे) में विश्रान्ति दी' अर्थात् देहली और हांसी को जीत कर उसने अपना यश घर-घर में फैलाया। देहली के शिवालीक स्तम्भ पर के उसके लेख में हिमालय से विन्ध्य तक के देश को विजय करना लिखा है। हांसी से मिले हुए पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) दूसरे के वि० सं० १२२४ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय वहाँ का प्रबन्धकर्ता उसका मामा गुहिलवंशी किल्हण था। ऐसा ही देहली का राज्य भी अजमेर के राजा के किसी रिश्तेदार या सामन्त के अधिकार में होगा। तबकाते-इ-नासिरी में शहाबुद्दीन गौरी के साथ की पहली लड़ाई में देहली के (राजा) गोविन्दराज का पृथ्वीराज के साथ होना और उसी (गोविन्दराज) के भाले से सुल्तान का घायल होकर लौटना तथा दूसरी लड़ाई में, जिसमें पृथ्वीराज की हार हुई, उस गोविन्दराज का मारा जाना लिखा है। इससे निश्चित है कि पृथ्वीराज (तीसरे) के समय देहली अजमेर के उक्त सामन्त के अधिकार में थी। 'तारीख फरिश्ता' में भी वैसा ही लिखा है परन्तु उसमें गोविन्दराज के स्थान पर खांडेराव नाम दिया है जो फारसी अक्षरों के दोष से ही मूल से भिन्न हुआ है।

"पृथ्वीराज की माता का नाम कमला नहीं किन्तु कर्पूरदेवी था और वह देहली के अनंगपाल की पुत्री नहीं किन्तु त्रिपुरी (चेदिदेश की राजधानी) के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल या अचलराज की पुत्री थी। नयचन्द्र सूरि ने भी अपने हम्मीर-महाकाव्य में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी ही दिया है।

"जब विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के समय में ही देहली का राज्य अजमेर के चौहानों के अधीन हो गया था और पृथ्वीराज अनंगपाल तंवर का भानजा ही न था तो उसका अपने नाना के यहाँ गोद जाना कैसे संभव हो सकता है? यदि पृथ्वीराज का देहली गोद जाना हुआ होता तो फिर अजमेर के राज्य पर उसका अधिकार ही कैसे रहता? पृथ्वीराज के राजत्वकाल के कई एक शिलालेख मिले हैं जिनमें से महोबे की विजय के लेखों[1] को छोड़कर वाकी सवके सव अजमेर के राज्य में ही मिले है। उनसे

---

१. महोवे की कथित विजय का समर्थन करने वाले अनेक लेख न होकर केवल एक मदनपुर का दो पंक्ति का लेख है जिसमें लिखा है—

"अर्णोराजस्य पौत्रेन श्री सोमेश्वर सूनुना
जेजाभुक्तिदेशोयं पृथ्विराजेन लुण्टितः सं० १२३९"

न जाने कैसे इस लुण्टित या लूटने को विजय करना मान लिया गया। फिर जेजाभुक्ति-देश केवल महोवा नगर तक ही केन्द्रित नही था। इन पंक्तियों का

भी निश्चित है कि पृथ्वीराज की राजधानी अजमेर ही थी न कि देहली। देहली का गौरव मुसलमानी समय में ही बढ़ा है। उसके पहले विग्रहराज के समय से ही देहली चौहानों के महाराज्य का एक सूबा था। चौहानों की राजधानी अजमेर थी, प्रान्त के नाम से वे सपादलक्षेश्वर कहलाते थे और पुरखाओं की राजधानी के नाम से शाकंभरी-नरेश।"

ओझा जी ने विग्रहराज चतुर्थ द्वारा दिल्ली जीतने का संवत् भी १२०८ (सन् ११५१ ई०) निर्धारित कर दिया था[1]।

सन् १९२० ई० में डॉ० ओझा जैसे धुरंधर विद्वान द्वारा अनेक शिलालेखों के आधार पर किये गये इन दृढ़ कथनों के पश्चात् सन् ११५१ ई० में दिल्ली के तोमर राज्य का अन्त माना जाना अवश्यंभावी था।

डॉ० श्रीमान् ओझा जी के सामने ठक्कुर फेरू की 'द्रव्यपरीक्षा' और 'खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि' नहीं थीं, यदि यह सामग्री उस महापण्डित के समक्ष होती तब निश्चय ही वे इन शिलालेखों का पुनर्परीक्षण करते। यदि डॉ० ओझा को अकाट्य प्रमाणों से यह ज्ञात हो जाता कि सन् ११५१ और ११६७ के बीच दिल्ली में मदनपाल नामक राजा राज्य कर रहा था, उसके पश्चात् पृथ्वीपाल या पृथ्वीराज तोमर तथा चाहड़पाल नामक दो राजा और हुए, ये तीनों तोमर थे और वे स्वतंत्र राजा के रूप में अपने सिक्के भी जारी कर रहे थे, तब निश्चय ही ओझा जी, राय पिथौरा के प्रताप और राष्ट्र-नायकत्व के हामी होते हुए भी, बीजोल्या के वि० सं० १२२६ के शिलालेख तथा अन्य चौहान शिलालेखों के कथनों पर पुनर्विचार अवश्य करते। दुर्भाग्य से इतिहास-संसार इस महापण्डित के इस विवेचन से वंचित रह गया, यह समस्त सामग्री बहुत विलम्ब से सामने आई।

दिल्ली-विजेता गहड़वाल—डॉ० त्रिपाठी का मत

दिल्ली के तोमरों की दुर्गति अजयमेरु के चाहमानों के इतिहासकारों के सक्षम हाथों तक ही सीमित नहीं रही। विद्वान इतिहासकार डॉ० रामशंकर त्रिपाठी के अनुसार दिल्ली के तोमरों को काशी के गहड़वालों से पराजित होकर भी अपना राज्य खोना पड़ा था।[2] इस इतिहास में एक गहड़वाल अभिलेख से यह आशय प्राप्त किया गया है कि, संभवतः, चन्द्रदेव (सन् १०९० -१०९९ ई०) ने इन्द्रप्रस्थ को जीत लिया था। इस गहड़वाल अभिलेख में उल्लेख है कि चन्द्रदेव ने काशी, कुशिक, उत्तरकोशल

आशय केवल उस लूट की स्मृति अंकित करना था जो राय पिथौरा के मंत्री कँमास ने बुन्देलखण्ड के भाग, वर्तमान लहार के पास सिरसागढ़ में की थी और वहाँ के प्रशासक मलखान को मार डाला था। राय पिथौरा महोबा तक, इतिहास में, कभी नहीं गये, किसी आख्यानकार के आख्यान में अवश्य उनकी लाल कमान महोबा में चमकी है। 'लूट' और 'विजय' में बहुत अन्तर है।

१. मुंहता नैनसी की ख्यात (ना० प्र० स०) भाग २, पृ० ४८२।
२. हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, डॉ० रामशंकर त्रिपाठी, पृ० ३०२।

तथा इन्द्रस्थान आदि तीर्थों का परिपालन किया था।[1] यह इन्द्रस्थान या इन्द्रास्थानीयक तीर्थ संभवतः इन्द्रप्रस्थ नहीं है। इस लेख के पाठ के अनुसार ही यह तीर्थ कहीं काशी, कुशिक (कन्नौज) और अयोध्या के आसपास होना चाहिए। किसी तीर्थ का परिपालन उसकी सैनिक विजय नहीं होती।

इस कथन के पश्चात् यह स्वाभाविक था कि उक्त विद्वान ने पृथ्वीराज रासो के वृहद् संस्करण का यह कथन सत्य नहीं माना कि विजयचन्द्र गहड़वाल ने दिल्ली के अनंगपाल को भी पराजित किया था।[2] उक्त विद्वान के अनुसार घटना क्रम यह है कि चन्द्रदेव गहड़वाल ने किसी तोमर राजा से सन् १०९० और १०९९ के बीच दिल्ली प्राप्त की तथा इस दिल्ली को विजयचन्द्र गहड़वाल से चौहान विग्रहराज चतुर्थ ने जीत लिया।[3] परवर्ती निष्कर्ष विग्रहराज के विक्रम सं॰ १२२० (सन् ११६४ ई०) के शिवालिक स्तंभलेख[4] से निकाला गया है।

यह स्मरण रखने योग्य है कि डॉ० त्रिपाठी ने केवल संभावनाएँ व्यक्त की थीं। सन् १९३७ में जो बात मात्र अनुमान के रूप में कही गयी थी, आगे अनेक इतिहास ग्रन्थों में वह सुनिश्चित इतिहास के रूप में मान्य करली गयी।

डॉ० शर्मा का तोमर-इतिहास

महामहोपाध्याय डॉ० ओझा द्वारा तोमर-चौहान इतिहास के विषय में की गयी स्थापनाओं के पश्चात् कुछ ऐसी ऐतिह्य सामग्री सामने आने लगी जिसके कारण सन् ११५१ में या उसके आगे-पीछे चौहानों द्वारा दिल्ली लेने की धारणा पर घोर आघात पहुँचता है। वह सामग्री यह प्रकट करती है कि सन् ११५१-११६७ ई० में दिल्ली पर मदनपाल (तोमर) राज्य कर रहा था,[5] अनंगपाल (द्वितीय) के पश्चात् दिल्ली पर मदनपाल, पृथ्वीराज तथा चाहड़पाल नामक तीन तोमर राजाओं का राज्य हुआ, उनके द्वारा सिक्के भी ढाले गये थे,[6] अतएव वे किसी के करद राजा या सामन्त नहीं माने जा सकते, तथा सन् ११९३ ई० में दिल्ली पर १५ दिन के लिए तेजपाल (तोमर) राजा हुआ था जिसे शहाबुद्दीन गौरी ने पराजित कर दिया।[7]

इस समस्त सामग्री को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ० दशरथ शर्मा को है। ठक्कुर फेरु की द्रव्यपरीक्षा और वि० सं० १६८३ की राजावली से डॉ०

---

१. इण्डि० एण्टि०, भाग २५, पृ० ७, भाग २८, पृ० १८।
२. पृथ्वीराज रासो, ना० प्र० स० का वृहद् संस्करण, पृ० १२३।
३. हिस्ट्री ऑफ कनौज, पृ० ३१९-३२०।
४. इण्डि० एण्टि०, भाग १९, पृ० २१५।
५. खतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, (सिंघी जैन-ग्रन्थमाला,) पृ० २१-२२।
६. द्रव्यपरीक्षा : ठक्कुर फेरू, (रत्नपरीक्षादि-सप्त-ग्रन्थ-संग्रह, राजस्थान-प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर) पृ० ३१।
७. दिल्ली का तोमर (तंवर) राज्य, राजस्थान-भारती, जुलाई १९५३, श्री अगरचन्द नाहटा की टिप्पणी, पृ० २६।

दशरथ शर्मा को श्री अगरचन्द नाहटा ने अवगत करा दिया था। इस समस्त सामग्री पर डॉ० शर्मा ने बहुत लम्बे समय तक विचार किया और अनेक लेख लिखे, उनमें से हमें कुछ ही उपलब्ध हो सके हैं।

वि० सं० १९९६ (सन् १९३९) में खरतरगच्छ पट्टावलि में आधार पर डॉ० शर्मा ने लिखा था[१]—

"दिल्ली के वीसलदेव के अधीन होने पर भी तोमर राजाओं का वहाँ रहना संभव है। जिनपालकृत 'खरतरगच्छ पट्टावली' में संवत् १२२३ के लगभग मदनपाल नामक एक राजा का नाम दिल्ली के शासक के रूप में मिलता है। समसामायिक ग्रन्थ होने के कारण यह पट्टावली अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ है। अतएव इसके आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संवत् १२२० के बाद भी दिल्ली चौहानेतर वंश के शासन में थी।"

सन् १९४० ई० में डॉ० शर्मा ने ललित-विग्रह-राज नाटक के आधार पर इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया[२]—

"परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि अन्तिम तोमर राजा ने दिल्ली वीसलदेव को, जो सोमेश्वर का सौतेला भाई था, दहेज में दे दी हो, रासो के किसी अन्तिम वाचनाकार ने इस कहानी को सोमेश्वर के नामे लिख दिया हो ? हमें ललित विग्रहराज नाटक से यह ज्ञात होता है कि वीसलदेव चतुर्थ वास्तव में दिल्ली की ओर प्रयाण करने के लिए उद्यत हो गया था, जहाँ के राजा की राजकुमारी वीसलदेव के साथ प्रेम करने लगी थी। दुर्भाग्य से वह नाटक जिस रूप में हमें मिला हैं, पूर्ण नहीं है।"

इसके पश्चात् डॉ० शर्मा के पास श्री अगरचन्द नाहटा ने कुछ वंशावलियाँ और ठक्कुर फेरू का उद्धरण भी भेजा। इसी बीच डॉ० शर्मा के पास जैन पण्डित श्री परमानन्द शास्त्री ने श्रीधर के पार्श्वनाथ चरित की प्रशस्ति की कुछ पंक्तियाँ भी भेज दीं। इस सब सामग्री के आधार पर उक्त विद्वान ने सन् १९५३ ई० में "दिल्ली का तोमर (तंवर) राज्य" शीर्षक लेख लिखा।[३] यह लेख ही आगे के तोमर-इतिहासों का आधार बन गया, और उसे हिन्दी विश्व-कोश में भी ग्रहण किया गया,[४] अतएव उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

उस लेख के प्रथम पद में डॉ० शर्मा ने बड़े-बुड्ढों के कथन के आधार पर यह कहा है कि आज से (सन् १९५३ ई० से) चार हजार वर्ष पहले महाराजाधिराज युधिष्ठिर ने वर्तमान दिल्ली के स्थान पर इन्द्रप्रस्थ नगर की स्थापना की थी। फिर

---

१. पृथ्वीराज रासो की एक पुरानी प्रति और उसकी प्रामाणिकता, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग २०, पृ० २८२।
२. द एज एण्ड हिस्ट्री ऑफ द पृथ्वीराज रासो, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १६, दिसम्बर १९४०।
३. राजस्थान भारती, जुलाई, १९५३, पृ० १७।
४. खण्ड ५, पृ० ४३७।

ओझा जी को प्राप्त 'पांडवों के मन्दिर' के प्रस्तर खण्ड के आधार पर उन्होंने यह स्थापना की है कि दिल्ली के आसपास का भू-भाग कुछ समय तक प्रतीहार-साम्राज्य के अन्तर्गत था। फिर गहड़वाल "महाराजा चन्द्र" द्वारा दिल्ली लेने की संभावना भी व्यक्त की गयी है।

आगे पेह्वा के शिलालेख के आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि संभव है गोग्ग दिल्ली और थानेश्वर का स्वामी हो। आगे तोमर और चौहान दोनों को प्रतीहारों का सामन्त मानकर वि० सं० १०३० के हर्षनाथ के शिलालेख के आधार पर तोमर रुद्र और 'सलवण' के साथ हुए चौहानों के विग्रहों का विवेचन है। फिर महमूद और उसके वंशजों का तंवरों के साथ हुए संघर्ष का उल्लेख है। इसी क्रम में 'महीपाल' तोमर के शौर्य की प्रशंसा है। फिर एकाएक इस इतिहास ने दिशा वदली और कहा गया "तंवर लगातार इसी नीति का अनुसरण करते तो भारत उनका चिर कृतज्ञ रहता"। फिर कुछ तथ्यों के कथन के वाद लिखा गया है। "शायद इन्हीं कारणों से तंवरों ने अपनी नीति वदली। अपने दक्षिण पड़ौसी चौहानों से उनकी शत्रुता शायद इसी कारण हो। प्रतीहार साम्राज्य में सम्राट् का आश्रय लेकर तंवरों ने चौहानों से युद्ध किया था। सन् १०७९ से सन् ११३२ के बीच में किसी समय। अव उन्होंने गजनी के सुलतानों से मैत्री की और संभवतः चौहानों के विरुद्ध मुसलमानों की सहायता प्राप्त की।"

इस भीषण स्थापना का आधार भी डॉ० शर्मा को प्राप्त हो गया था "संवत् ११८९ में[1] अनंगपाल (तृतीय) राज्य कर रहा था। पार्श्वनाथ चरित (रचना संवत् ११८९) के रचयिता कवि श्रीधर ने उसके राज्य राजधानी और ऐश्वर्य का अच्छा वर्णन किया है।" फिर पार्श्वनाथ चरित के एक उद्धरण का अनुवाद देकर डॉ० शर्मा ने यह स्थापना की है कि इस अनंगपाल तृतीय ने वीर अमीर यानी गजनी के सुल्तान का दल आगे वढ़ाया। फिर अनंगपाल तृतीय के देशद्रोह के लिए उसकी भर्त्सना की गयी है। अनंगपाल तृतीय के इस कुकृत्य के कारण डॉ० शर्मा का ब्रह्मरोष उभड़ पड़ा और संभवतः उसके प्रभाव में ही आधुनिक तंवरों (तोमरों) को डाट पिलाते हुए 'भरतवाक्य' के रूप में उन्होंने लिखा—

"तंवर अव भी आशा करते हैं कि दिल्ली में किसी न किसी दिन तंवरों का राज्य होगा। तंवर सरदार मूंछों पर ताव देते हुए जब 'जव कद दिल्ली तंवरां' कहते हैं तो प्रतीत होता है कि स्वप्न संसार में भी कुछ आनंद है। आठ सौ वर्ष से[2] तंवर दिल्ली पर अधिकार जमाने का स्वप्न लेते रहे हैं। तलवार के वल पर इस लम्वे अर्से में किसी तंवर ने दिल्ली को पुनः हस्तगत करने का प्रयत्न भी नहीं किया।"

भले ही नाराजी में हो, यदि हजार-आठ सौ वर्ष पूर्व का भारत का इतिहास

१. अर्थात् सन् ११३२ ई० में।

२. अर्थात् १९५३−८००=११५३ ई० से। संभव है उक्त लेख १९५१ में लिखा गया हो, अतएव ११५१ ई० से।

वर्तमान में अवशिष्ट जातियों के परिपेक्ष्य में अथवा उनकी रुचि, अरुचि या प्रवृत्तियों के परिपेक्ष्य में लिखा जाने लगे तब वह "इतिहास" नहीं होगा, और चाहे जो हो। मध्य-युग के चारण-भाट अपने राजाओं के पुरखों का इतिहास अवश्य अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुसार लिख देते थे और उनके शत्रुओं की भर्त्सना भी कर देते थे। अब उस परम्परा का कोई आधार शेष नहीं रह गया है। सन् १९५३ ई० में दिल्ली सार्वभौम भारतीय गणतंत्र की राजधानी हो गयी थी, यदि आधुनिक चौहान, तोमर या तुर्क उस पर अपना दावा स्थापित करें तब उनके लिए मानसिक चिकित्सालय में ही स्थान मिल सकेगा। कभी चौहान तोमरों से झगड़ते थे या तुर्कों ने उनसे दिल्ली छीनी थी इस कारण उनके कुछ अतिदूरस्थ वंशज कोई स्वप्न या दुस्वप्न सँजोए रहते हैं, इसका उल्लेख गंम्भीर इतिहास में करना, हमारे विनम्र मत में, उचित नहीं है। इस प्रवृत्ति से जो कुछ हाथ आएगा वह चौहानों, तोमरों और तुर्कों का इतिहास न होकर उनके चारण-भाटों का झगड़ा होगा। फिर उत्वी, ऊफी आदि मध्ययुगीन फारसी इतिहास लेखकों को भी क्या दोष दिया जाए जो अपने सुल्तानों के विरोधी भारतीयों को काफिर, बदजात, कुत्ते आदि उपाधियों से विभूषित करते हैं। इस प्रकार की कटूक्तियों का सत्य की खोज से कोई सम्बन्ध नहीं है।

दिल्ली के तोमर किसी के सामन्त थे या स्वतंत्र राजा या सम्राट् थे, कोई अनंग-पाल 'तृतीय' हुआ था या नहीं, पार्श्वनाथ चरित के उद्धरण का अर्थ क्या है और उससे कोई अनंगपाल देशद्रोही सिद्ध होता है या नहीं, इन सब प्रश्नों का विवेचन स्वतंत्र रूप से करना होगा, यह किये विना दिल्ली के तोमरों का इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता, वह आगे किया गया है, यहाँ अभी केवल यह देखना है कि उपलब्ध ऐतिह्य सामग्री के आधार पर विद्वद्वर डॉ० दशरथ शर्मा ने क्या मार्ग-दर्शन किया है। डॉ० शर्मा लिखते हैं[1]—

"तत्कालीन प्रमाणों से और अनुश्रुति से भी सिद्ध होता है कि चौहानों ने तंवरों को हराया और दिल्ली और हांसी के दुर्गों को हस्तगत कर लिया।"

आगे डॉ० शर्मा ने लिखा है—

"तंवरों के स्वाधीन राज्य की इतिश्री हुई। इस समय दिल्ली का राजा संभवतः मदनपाल तंवर था। ठक्कर फेरु ने अनंगपाल और मदनपाल की मुद्राओं का मान दिया है। मदनपाल ने ये मुद्राएँ अपनी स्वाधीनता के समय निकाली होंगी। श्री जिनपाल रचित खरतरगच्छ पट्टावली से हमें ज्ञात है कि संवत् १२२३ में यही मदनपाल दिल्ली का राजा था। मुसलमानी सेनाएँ उस समय भी दिल्ली के आसपास मंडरा रही थीं। इस उल्लेख से दो बातों का अनुमान किया जा सकता है, एक तो यह कि तंवर उस समय स्वतंत्र थे। दूसरी संभावना यह है कि विग्रहराज ने दिल्ली पर विजय तो प्राप्त की, किन्तु तंवरों को सामन्त के रूप में राज्य करने दिया। यद्यपि सं० १२२६ के बिजोल्या के शिलालेख में दिल्ली की विजय का सर्वप्रथम उल्लेख होने के कारण, पहली

---

१. दिल्ली के तंवर (तोमर) राज्य, राजस्थान भारती, जुलाई, १९५३, पृ० २१।

संभावना असंगत प्रतीत नहीं होती, तो भी संवत् १२२० के विग्रहराज चतुर्थ ने हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के सब प्रदेश को करद करने और म्लेच्छ विच्छेदन द्वारा आर्यावर्त को यथार्थ में आर्यावर्त बनाने का दावा किया है। शायद दिल्ली की विजय के बाद ही विग्रहराज के विषय में अभिलेख रचयिता ने ऐसा दावा किया हो। ठक्कर फेरु ने पृथ्वीपाल और चाहड़पाल नाम के तोमर राजाओं की मुद्राओं का भी उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीपाल और चाहड़पाल मदनपाल के उत्तराधिकारी थे। किन्तु उनके विषय में इतिहास में हमें कुछ ज्ञान नहीं है। [डॉ० शर्मा की पादटिप्पणी—'विशेष विवरण के लिए मेरा प्राचीन चौहान राज्य का इतिहास (प्रकाश्य) देखें'।]

यह "प्रकाश्य" अब (सन् १९५९ ई० में) प्रकाशित इतिहास भी देखा। दिल्ली के तोमरों के विषय में स्थापनाएँ वही है जो उक्त लेख में हैं। परन्तु इस प्रकाशित इतिहास में सन् १९३९-४० में प्रस्तुत किये गये विचारों के विवेचन का पूर्ण अभाव अवश्य है। संभव है, यह पुस्तक १९३९-४० ई० के पूर्व लिखली गयी हो, और प्रकाशित होते समय उसमें परिवर्तन करना उचित न समझा गया हो।

कुछ समय पश्चात् वीरनिर्वाण संवत् २४२८ में (स्यात् सन् १९५८ ई० में) डॉ० शर्मा ने अपने अभिमत को किंचित् बदला। "इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध" की विद्वतापूर्ण प्रस्तावना में डॉ० शर्मा ने अनंगपाल तृतीय को तो क्षमा नहीं किया और लिखा "इसकी नीति आदि के मूल्यांकन के लिए पाठक राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४ में दिल्ली का तंवर राज्य नामक लेख पढ़े" तथापि प्राप्त ऐतिह्य सामग्री के आधार पर उन्होंने लिखा[1]—

"प्रबन्ध और वंशावलियों में इतिहास प्रसिद्ध मदनपाल के नाम का कम से कम मदनपाल रूप में अभाव है।[2] यद्यपि खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि के आधार पर यह निश्चित है कि संवत् १२२३ में यह दिल्ली के सिंहासन पर वर्तमान था।[3] प्रबन्ध के कथन से ही नहीं अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध है कि वीसलदेव ने दिल्ली-राज्य हस्तगत किया था। मदनपाल और विग्रहराज की सम-सामयिकता को देखते हुए हम इससे पूर्व भी संभावना कर चुके हैं कि विग्रहराज ने मदनपाल को पराजित कर अपने अधीन किया होगा।"

---

१. इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर), पृ० ७।

२. यह कथन अत्यन्त विडम्बनापूर्ण है। डॉ० शर्मा के राजस्थान भारती के लेख के परिशिष्ट में भी उसका नाम 'रावलु मदनपाल' के रूप में मिलता है, और इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध के परिशिष्ट में भी।

३. गुर्वावलि को ध्यान से पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि मदनपाल वि० सं० १२११ (सन् ११५४ ई०) के पूर्व भी दिल्ली का राजा था, जब उसने जिनदत्त सूरि को दिल्ली में कभी प्रवेश न करने का "उपरोध" किया था। यह घटना जिनदत्त सूरि की मृत्यु (वि० सं० १२११) के पूर्व की, सम्भवतः, सन् ११५१ ई० की है।

इस पूर्वधारणा के अनुरूप 'अलंकार महोदधि' के श्लोक का भाष्य करने के पश्चात् डॉ० शर्मा ने लिखा है —

"प्रबन्ध ने और १८४५ की वंशावली ने पृथ्वीराज को अन्तिम तंवर राजा माना है। ठक्कुर फेरू ने पृथ्वीपाल तंवर की मुद्राओं का उल्लेख किया है, इसलिए इसका तंवर होना असंभव नहीं है। शायद इसी को, पृथ्वीराज चौहान के समय के आसपास दिल्ली का राजा होने के कारण, भोले भाले लोग कुछ समय के बाद यह मानने लगे हों कि तंवरों ने दिल्ली का राज्य अपने दोहित्र पृथ्वीराज चौहान को दे दिया था। प्रबन्ध में रासो की इस प्रसिद्ध वार्ता का उल्लेख नहीं है कि अनंगपाल पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य देकर तपस्या के लिए चला गया था। प्रबन्ध ने पृथ्वीराज तंवर को ही वीसलदेव चौहान द्वारा पराजित दिल्ली का अन्तिम राजा माना है। विषय अभी और गवेषणीय है।"

मध्ययुग के भोले-भाले लोगों ने क्या समझा और क्या माना, यह विशेष महत्व की बात नहीं है, आधुनिक प्रबुद्ध महापण्डित गवेषणा के मार्ग की अर्गला केवल इस प्रतिबन्ध के साथ खोलते हैं कि यह मानकर चला जाए कि वीसलदेव ने दिल्ली का राज्य हस्तगत किया था, फिर यह गवेषणा की जाए कि दिल्ली का राज्य खोने वाला तोमर कौन था, अनंगपाल, मदनपाल या पृथ्वीराज तोमर !

सन् १९५९ ई० के पश्चात् डॉ० शर्मा ने दिल्ली के तोमरों के विषय में यदि कुछ लिखा हो तब वह हमारे देखने में नहीं आया।

डॉ० सिंह का चौहान-इतिहास

डॉ० आर० बी० सिंह का चौहानों का इतिहास सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ है[1]। उनके समक्ष तोमरों-चौहानों के आपसी सम्बन्ध के बारे में समस्त सामग्री थी, और अपेक्षा यह की जाती थी कि वे सन् ११५१ की घटना पर इसके आधार पर अधिक प्रकाश डालेंगे। परन्तु डॉ० सिंह ने डॉ० त्रिपाठी के उस कथन को प्रमाण माना है जिसके अनुसार चन्द्रदेव गहड़वाल ने दिल्ली को जीता था और गोविन्दचन्द्र या विनय-चन्द्र गहड़वाल से फिर चौहान विग्रहराज चतुर्थ ने जीता था[2]। परन्तु साथ ही उनका यह भी मत है कि चौहानों ने तोमरों से दिल्ली जीती थी[3]। इस इतिहास की, इस दिशा में, स्थापना कुछ स्पष्ट नहीं है। परन्तु डॉ० सिंह ने अपने इतिहास में ललित-विग्रहराज-नाटक के आधार पर डॉ० शर्मा को प्राप्त निष्कर्ष को समुचित स्थान दिया है और लिखा है कि विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली के तोमर राजा की राजकुमारी देसलदेवी से विवाह किया था[4]। परन्तु वह तोमर राजा कौन था, इसके निरूपण के लिए डॉ० सिंह

१. द हिस्ट्री ऑफ द चाहमान्स (नन्दकिशोर एण्ड सन्स)।
२. वही, पृ० १७३-१७४।
३. वही, पृ० १४४ तथा १४६।
४. वही, पृ० १४३। डॉ० शर्मा भी देसलदेवी को विग्रहराज की रानी तथा अपरगांगेय की माता मानते हैं।

ने ठक्कुर फेरू अथवा खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि को न देखते हुए श्री कनिंघम की एक वंशावली को देख कर उसे 'अनंगपाल' निर्धारित किया है। श्री कनिंघम के अनुसार यह 'अनंगपाल' 'तृतीय' था, अतएव डॉ० सिंह ने उसे ही अन्तिम तोमर राजा माना है। डॉ० सिंह, इस प्रकार, तीन परस्पर विरोधी विचारधाराओं में उलझ गये, विग्रहराज चतुर्थ दिल्ली के तोमरों का दामाद था, उसने दिल्ली तोमरों से जीती थी, और उसने दिल्ली किसी गहड़वाल राजा से भी जीती थी, अर्थात्, गहड़वाल पहले ही दिल्ली जीत चुके थे।

आधुनिक इतिहासों से प्राप्त निष्कर्षों का निष्कर्ष—एकला चालो रे

भारतीय इतिहास के विद्वानों के ऊपर लिखे अभिमतों को यदि सारणीवद्ध रूप में प्रस्तुत कर देखा जाए तब वहुत ही अद्भुत और विसंगत चित्र सामने आता है। इनसे ज्ञात होता है—

(१) सन् ७३६ ई० में तोमरों ने दिल्ली राज्य की स्थापना की, ऐसी अनुश्रुति है। एक अभिमत है कि तोमरों द्वारा दिल्ली-राज्य की स्थापना सन् ९९६-७ ई० में हुई थी।

(२) सन् ८३६ ई० से ९०७ ई० तक दिल्ली के तोमर प्रतीहारों के सामन्त रहे। या सन् १००१ ई० में दिल्ली के तोमर चौहानों के सामन्त थे। या सन् १०९०-१०९९ ई० के वीच चन्द्र गहड़वाल ने तोमरों से दिल्ली छीन ली। या सन् ११५१ ई० में विग्रहराज चतुर्थ ने गहड़वालों से दिल्ली छीन ली।

(३) सन् ११३२ ई० में दिल्ली पर कोई अनंगपाल "तृतीय" राज्य कर रहा था, वह देशद्रोही हो गया, अतएव वीरवर वीसल चौहान ने उसे सन् ११५१ ई० में समरभूमि में पराजित कर दिया। संभावना यह भी व्यक्त की गयी है कि मदनपाल ने वीसलदेव को दिल्ली दहेज में दे दी हो। एक अन्य विद्वान के अनुसार यह घटना या दुर्घटना सन् ११६४ ई० में हुई थी।

(४) अनंगपाल "तृतीय" की राजकुमारी देसलदेवी का विवाह विग्रहराज चतुर्थ के साथ हुआ था, इस विग्रहराज ने गहड़वालों से दिल्ली छीन ली।

(५) श्री टॉड के अनुसार पृथ्वीराज रासो की वात सही है कि अनंगपाल "तृतीय" ने राय पिथौरा को दिल्ली दान में दे दी, अवुलफजल कहता है कि दिल्ली के पृथ्वीराज तोमर ने वीसल से पराजित होकर दिल्ली खोई। एक विद्वान का निर्देश है कि इस तथ्य की गवेषणा की

जाए कि वास्तव में दिल्ली खोने वाला तोमर राजा पृथ्वीराज तोमर था या अनंगपाल तृतीय या कोई और ? होना जरूर चाहिए, नाम कुछ भी है, स्यात् मदनपाल ही हो।

इस भीषण मतवैषम्य की पृष्ठभूमि में दिल्ली के तोमरों के इतिहास का विद्यार्थी किस मार्ग पर चले ? गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में, जो बड़े-बड़े (विद्वत्ता के) 'नृप' अति अगाध सरित-सरों के सेतु बाँध देते हैं, उन पर से (भोली-भाली) लघु पिपीलिकाएँ भी पार हो जाती हैं। परन्तु तोमरों के इतिहास के मार्ग के ये सेतु आपस में ही टकरा रहे हैं, इनकी सहायता से पार होना कठिन है। फिर यही मार्ग शेष रह जाता है कि समस्त उपलब्ध ऐतिह्य सामग्री का निरपेक्ष भाव से पुनर्परीक्षण किया जाए, न आज के तोमरों की सुनी जाए, न चाहमानों की और न तुर्क-सैयद या पठान सुल्तानों के वंशजों की; अर्थात्, कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में "एकला चालो रे"।

दिल्ली के तोमरों के इतिहास के विषय में उत्पन्न की गयी भ्रान्तियों के कारण, उनके इतिहास को दो खण्डों में प्रस्तुत करना आवश्यक हुआ है। प्रथम खण्ड में ऐतिह्य सामग्री का विवेचन किया गया है। इस ऐतिह्य सामग्री का कुछ अंश अत्यन्त प्रामाणिक एवं पुष्ट है। प्रारंभिक परिच्छेदों में उसका विवेचन किया गया है। उससे प्राप्त तथ्य और तिथियों के आधार पर आगे के परिच्छेदों में उस सामग्री का विवेचन किया गया है जो भ्रम की मूल रही है। इस प्रकार कुछ सुनिश्चित तथ्य प्राप्त किये गये हैं।

यह अवश्यम्भावी है कि इस प्रकार एक ही विषयवस्तु का दो खण्डों में विवेचन करने के कारण पुनरावृत्तियाँ हों। परन्तु अन्य कोई मार्ग भी नहीं था। इतिहास की रूपरेखा में ही ऐतिह्य सामग्री का विवेचन समाविष्ट कर देने से न तो किसी स्थापना के कारण स्पष्ट हो सकते थे और न वह इतिहास की रूपरेखा ही पठनीय रह जाती। विवशता के कारण की गयी पुनरावृत्तियों के लिए अग्रिम क्षमा माँगते हुए, "विषय-प्रवेश" समाप्त कर अब विषय, अर्थात्, "ऐतिह्य सामग्री" का विवेचन प्रारम्भ करना ही उचित है।

परिच्छेद २

तोमर मुद्राएँ

किसी भी राजवंश के इतिहास के निर्माण में उसकी मुद्राओं को बहुत सुदृढ़ आधार माना गया है। भारत में अनेक राजवंश ऐसे हैं जिनके इतिहास का निर्माण मूलतः प्राप्त मुद्राओं के आधार पर ही किया गया है। नागों के विषय में अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख पुराणों में प्राप्त होते हैं, कुछ शिलालेख हैं और प्रचुर संख्या में मुद्राएँ (सिक्के)। उनके आधार पर ही उनका इतिहास लिखा जा चुका है[1]। दिल्ली के तोमरों की मुद्राएँ प्राप्त हैं। परन्तु उनके आधार पर उनका इतिहास लिखने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ हैं। उस युग में अनेक राजवंशों के राजाओं के समान नाम मिलते हैं। 'अनंगपाल', 'जयपाल', 'मदनपाल', जैसे नाम अनेक राजवंशों में प्रचुर संख्या में मिलते हैं। अंत में 'पाल' लगाने की प्रथा भी अनेक राजवंशों में प्राप्त हुई है।

फिर भी, कुछ तथ्य ऐसे हैं जिनका बारीकी से परीक्षण करने पर तोमरों के सिक्के अन्य राजवंशों के सिक्कों से पृथक् किये जा सकते हैं। संयोग से उनके कुछ नाम ऐसे हैं जो अन्य राजवंशों में प्राप्त नहीं होते। जाउल या जाजू, पीपल, सुलक्षणपाल, जैसे नाम तत्कालीन या समकालीन राजवंशों में नहीं हैं। इन नामोंयुक्त जो मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, उनके विवेचन से, उनके लांछन (सिम्वल्स) तथा श्रुतिवाक्यों (लीजेण्डस्) के आधार पर अन्य तोमर मुद्राएँ पहचानी जा सकती हैं और उन्हें अन्य राजवंशों के राजाओं की होने की सम्भावना से मुक्त किया जा सकता है।

इसके पहले कि आधुनिक अन्वेषकों को प्राप्त सिक्कों का विवेचन किया जाए, सन् १३१८ ई० में[2] लिखे गये ठक्कुर फेरू के ग्रन्थ 'द्रव्यपरीक्षा' का उल्लेख आवश्यक है[3]।

ठक्कुर फेरू की द्रव्यपरीक्षा

ठक्कुर फेरू अलाउद्दीन खलजी का कोई राज्याधिकारी ज्ञात होता है, जिसे सुल्तान ने रत्नों और मुद्राओं की परीक्षा के लिए नियुक्त किया था। अपने ग्रन्थ 'द्रव्यपरीक्षा' में फेरू ने मुद्राओं के मूल उपादान, धातुओं की चासनी, धातु-शोधन-प्रक्रिया, अनेक प्रकार की मुद्राओं के नाम, टकसालें, आकार-प्रकार, तौल, माप, धातु के मिश्रण तथा मुद्राएँ जारी करने वाले राजाओं के नाम दिये हैं।

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल : अन्धकार युगीन भारत; द्विवेदी : मध्यभारत का इतिहास, भाग १।

२. 'तेरह पणहत्तरे वरिसे'।

३. नाहटा : रत्नपरीक्षादि-सप्त-ग्रन्थसंग्रह (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर), पृ० ३१।

ठक्कुर फेरू ने शहाबुद्दीन गौरी के पूर्व की सभी मध्ययुगीन टकसालों का उल्लेख किया है। सुल्तान 'सहाबुदीन' की मुद्राओं के पूर्व उसने ढिल्लिकासत्कमुद्रा, जालंधरी मुद्रा, चंदेरिकापुरसत्कमुद्रा, नलपुरमुद्रा, मालवीमुद्रा, गुर्जरीमुद्रा, विक्रमार्कमुद्रा के नाम दिये हैं।

ठक्कुर फेरू ने दिल्ली की टकसाल की तोमरों की मुद्राओं की जो जानकारी दी है वह बहुमूल्य है[1] :—

अथ ढिल्लिकासत्कमुद्रा यथा—

अणग मयणप्पलाहे पिथउपलाहे य चाहडपलाहे।
सय मज्झि टंक सोलह रुप्पउ उणवीस करि मुल्लो ॥
॥ एता मुद्रा राजपुत्र-तोमरस्य ॥

प्रति	नामानि मुद्रानां	शत १	मध्ये	रूप्य	तोला	मासा
१९	अणगपलाहे	सत १	„	„	५	४
१९	मदनपलाहे	सत १	„	„	५	४
१९	पिथउपलाहे	सत १	„	„	५	४
१९	चाहड पलाहे	सत १	„	„	५	४

ठक्कुर फेरू असंदिग्ध रूप में कहता है कि अनंगपाल के पश्चात् मदनपाल हुआ, फिर हुआ पृथ्वीपाल तथा उसके पश्चात् हुआ चाहड़पाल। "चाहड़पाल" फारसी इतिहासकारों का वह राय "चावुण्ड, खण्डी, खण्ड, कन्द, गोयन्द, गवन्द, गोवन्दह या गोविन्द"[2] है जो 'दिल्ली के राजा' के रूप में सन् ११९२ ई० में ताराइन के युद्ध में मारा गया था। ठक्कुर फेरू ने इन मुद्राओं के लांछन तथा श्रुतिवाक्य नहीं दिये हैं, केवल उनकी तौल दी है।

कनिंघम, रेप्सन तथा प्रिन्सेप

इन मुद्राओं के लांछन और श्रुतिवाक्य आधुनिक काल के मुद्रा पारखियों ने दिये है। उनके आधार पर बहुत महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

श्री कनिंघम ने एक मुद्रा का उल्लेख किया है जिस पर एक ओर घुड़सवार है और उस पर "श्रीज+" पढ़ा जाता है। इस मुद्रा की दूसरी ओर बैठा हुआ नन्दी अंकित है तथा "श्रीसमन्तदेव" श्रुतिवाक्य (लीजेण्ड) पढ़ा गया है।[3] श्री कनिंघम ने इस मुद्रा को कन्नौज के राठोरों की माना है। यह मुद्रा तोमर राज्य के संस्थापक जाउल या जाजू की है।

---

१. रत्नपरीक्षादि-सप्त-ग्रन्थ-संग्रह, पृ० ३१ (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित)।

२. मेजर रेवर्टी : तबकाते-नासिरी, भाग १ पृ० ४५९ की पादटिप्पणी।

३. कॉइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८८ (फलक ९, क्र० १९)।

श्री प्रिन्सेप ने कुछ मुद्राएँ श्री आपृच्छदेव की भी देखी थीं, जिनमें पीछे की ओर 'श्री सामन्तदेव' पढ़ा गया था[1]। यह निश्चय ही तोमर राजा की मुद्रा है। वंशावलियों में यह नाम 'वच्छहर' 'विछराज' या 'वछराज' के रूप में उल्लिखित है।

पीपलदेव नाम आज के युग में कुछ अटपटा ज्ञात होता है, परन्तु वि० सं० १६८३ की तोमर वंशावली में यह छठे क्रमांक पर दिया गया है, अन्य दो वंशावलियों में भी वह "पोपट" तथा "पीवक" के रूप में विद्यमान है। श्री प्रिन्सेप ने इसकी मुद्रा की परीक्षा की थी, जिसके एक ओर "श्रीपीपलराजदेव" पढ़ा था तथा दूसरी ओर "असावरी श्रीसमन्तदेव" पढ़ा था[2]।

श्री कनिंघम और श्री थॉमस को भी पीपलदेव की मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं। उन मुद्राओं के एक ओर अश्वारोही तथा 'श्रीपीपल' अंकित है। दूसरी ओर श्री थॉमस ने 'असावरी श्रीसमन्तदेव' पढ़ा था तथा श्री कनिंघम ने 'कुतामान श्रीसमन्तदेव' पढ़ा था[3]।

श्री कनिंघम ने एक और मुद्रा का उल्लेख किया है जिसके एक ओर अश्वारोही पर 'श्री भिख' पढ़ा गया है और दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर 'श्री सामन्तदेव' है[4]। अल्लामा अबुलफजल ने इसका नाम 'बिक' दिया है। 'बिक' या 'भिख' वृक्षराज पीपल का ही रूपान्तर है। श्री कनिंघम इस 'पीपल' को परिहार राजाओं में खोजते रहे। परन्तु इन मुद्राओं का लांछन तथा श्रुतिवाक्य किसी सन्देह को स्थान नहीं छोड़ते।

वंशावलियों में तोमरों के तेरहवें राजा सुलक्षणपालदेव हैं। मुद्राओं पर वे 'श्रीसल्लक्षणपालदेव' के रूप में पाये जाते हैं। श्री प्रिन्सेप ने भी इनकी मुद्राओं की परीक्षा की थी और उन्हें अनंगपाल की मुद्राओं के समान ही बतलाया था[5]। श्री कनिंघम ने भी 'सल्लक्षणपालदेव' की मुद्राओं की परीक्षा की थी। उनके एक ओर भाले सहित अश्वारोही के ऊपर 'श्रीसल्लक्षणपालदेव' पढ़ा गया है तथा दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी के ऊपर 'श्रीसमन्तदेव' है।

प्रत्येक वंशावली में अनंगपाल (द्वितीय) के पूर्व 'कंवरु' या 'कंवरपाल' के नाम से एक तोमर राजा प्राप्त होता है। एक वंशावली में वह 'किरपाल' नाम से भी आया है। श्री कनिंघम ने कुछ मुद्राओं की परीक्षा की थी, जिनमें एक ओर बैठी हुई चतुर्भुजा लक्ष्मी है, तथा दूसरी ओर 'मद्‌कुमारपालदेव' लिखा हुआ है। कनिंघम ने इन्हें तोमर-वंशी कुमारपाल की मुद्रा माना है[6]। ये मुद्राएँ कुंवरपाल तोमर की ज्ञात नहीं होतीं।

---

१. प्रिन्सेप, भाग १, पृ० ३०४, फलक क्र० २१।
२. प्रिन्सेप : एसेज ऑन इण्डियन एण्टीक्विटीज (एडवर्ड थोमस द्वारा सम्पादित), प्रथम खण्ड, पृ० ३३१।
३. कनिंघम : कॉइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८८, फलक ९, क्रमांक १८।
४. वही पृ० ८८, फलक ९, क्र० २०।
५. प्रिन्सेप, भाग १, पृ० ३३०।
६. कनिंघम: मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८५, फलक ९, क्र० ३।

स्पष्ट प्रमाण के अभाव में, लक्ष्मी के लांछन-युक्त मुद्राओं को तोमर मुद्राएँ मानना अभी उचित नहीं है।

अनंगपाल (द्वितीय) की मुद्राएँ श्री प्रिन्सेप ने भी परखी थीं और श्री कनिंघम ने भी। श्री प्रिन्सेप ने इसकी मुद्राओं में एक ओर नन्दी के ऊपर 'श्रीसमन्तदेव' पढ़ा था तथा दूसरी ओर 'श्रीअनंगपालदेव' पढ़ा था[1]। श्री कनिंघम ने अनंगपाल की मुद्राओं के एक ओर भाले सहित अश्वारोही होना प्रकट किया था और दूसरी ओर 'माधव श्रीसमन्तदेव' पढ़ा था[2]।

कुछ मुद्राएँ ऐसी प्राप्त हुई हैं जिनमें 'श्रीकिल्लदेवपाल' पढ़ा गया है। इन मुद्राओं की परख श्री प्रिन्सेप ने भी की थी[3]। श्री कनिंघम ने इन मुद्राओं के एक ओर अश्वारोही के ऊपर 'श्रीकिल्लिदेव' पढ़ा था और दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी के ऊपर 'पालश्रीसमन्तदेव''।[4] दोनों ओर के पाठ को एक साथ पढ़ने से समस्त पाठ 'श्रीकिल्लिदेवपालश्रीसमन्तदेव' है। अर्थात् 'किल्लिदेवपाल' नाम है और 'श्रीसमन्तदेव' विरुद। नाम का एक अंश दूसरी ओर ले जाने के कारण यह तथ्य इसी मुद्रा से स्पष्ट होता है। परन्तु इस वर्ग की मुद्राएँ स्वयमेव एक समस्या हैं। 'किल्लिदेव' नाम तो नहीं होता, किसी भी वंशावली में किसी तोमर राजा का ऐसा अटपटा नाम मिला भी नहीं है।

हमारा अनुमान है कि इस मुद्रा का सम्बन्ध उस किल्ली से है जो ढिल्ली में आज भी विद्यमान है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब किसी राजा ने अपने राज्यकाल की किसी विशेष उपलब्धि की स्मृति में मुद्राएँ जारी की हों, यह संभव है कि अनंगपाल (द्वितीय) ने जब इस किल्ली को कहीं से लाकर अपने प्रासाद के प्रांगण में स्थापित किया हो तब उस घटना की स्मृति में 'किल्लिदेवपाल' नाम से ये मुद्राएँ जारी की गयी हों।

श्री कनिंघम ने दो महीपाल नामक राजाओं की मुद्राओं को परखा था, उनके स्वयं के पास जो महीपाल नामयुक्त मुद्रा थी उसके एक ओर चारभुजायुक्त बैठी हुई लक्ष्मी है और दूसरी ओर 'श्रीमत् महीपालदेव' लिखा है। इस मुद्रा को श्री कनिंघम ने 'दिल्ली और कन्नोज' के तोमरों की मुद्रा माना है[5]। महीपाल तोमर का अस्तित्व तो था, परन्तु ये मुद्राएँ महीपाल तोमर की मानने का कोई आधार नहीं है। संभव है, ये मुद्राएँ महीपालदेव तोमर की हों, संभव है नहीं भी हों।

दिल्ली के तोमर राजा मदनपाल का वि० सं० १२०८ तथा १२२३ (सन् ११५१ से ११६६ ई०) में अस्तित्व होने के विषय में खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि के उल्लेख को देखते हुए सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता। ठक्कुर फेरू ने भी उसकी मुद्राओं की परीक्षा

१. प्रिन्सेप, भाग २, पृ० ३३०।
२. कनिंघम : मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८५, फलक ९, क्रमांक ५।
३. प्रिन्सेप, भाग २, पृ० ३३१।
४. कनिंघम, मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८८, फलक ९, क्र० १५।
५. मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८५, फलक ९, क्र० ६ तथा ७।

की ही थी, और श्री प्रिन्सेप और श्री कनिंघम ने भी। श्री प्रिन्सेप ने इसकी मुद्राओं के एक ओर नन्दी के ऊपर 'श्रीमदनपालदेव' पढ़ा था और दूसरी ओर 'माधव श्रीसमन्तदेव' पढ़ा था[1]। श्री कनिंघम ने भूल से मदनपाल को कन्नौज का राजा माना है तथापि उनकी मुद्राओं में एक ओर भाले सहित अश्वारोही देखा था जिसके ऊपर 'श्रीमदनपाल देव' अंकित था तथा दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर 'माधव श्रीसमन्तदेव' पढ़ा था[2]। ये मुद्राएँ निश्चित ही दिल्ली के तोमर राजा मदनपाल की हैं।

डॉ० त्रिपाठी ने इन मुद्राओं को मदनचन्द्र गहड़वाल की मुद्राएं माना है।[3] डॉ० त्रिपाठी के समक्ष ठक्कुर फेरू की द्रव्यपरीक्षा नहीं थी जिसमें मदनपाल को तोमर कहा गया है। उनके समक्ष श्री कनिंघम का वह सिद्धान्त था जिसके अनुसार दिल्ली के तोमरों को कन्नौज का भी राजा माना गया था।

चाहड़पालदेव को ठक्कुर फेरू ने दिल्ली का तोमर राजा माना है और उसने उसकी मुद्राओं के मान भी दिये हैं। वर्तमान मुद्राशास्त्रियों ने दिल्ली के तोमर राजा चाहड़ को तथा नरवर के जजपेल्ल चाहड़ को एक मानकर उन दोनों की मुद्राओं को एक ही राजा की होना लिखा है। श्री कनिंघम ने 'कॉइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया' के पृष्ठ ९२-९३ पर तीन राजवंशों की मुद्राओं को एक ही राजवंश 'राजपूतस् ऑफ नरवर' में समेट लिया है। श्री कनिंघम के इस फलक पर दी गयीं क्र० १, २ तथा ३ मलयवर्मदेव की मुद्राएँ हैं। यह मलयवर्मदेव प्रतीहार था और गोपाचलगढ़ पर उस समय राज्य कर रहा था जब इल्तुतमिश ने सन् १२३० में ग्वालियर गढ़ जीता था। इसका राज्य नरवर तक था तथापि उसका जजपेल्ल वंश से कोई संबंध नहीं था। चाहड़देव तोमर की मुद्राएँ केवल वे हैं जिनका विवरण ई० थॉमस ने दिया है तथा जिनके एक ओर अश्वारोही के साथ 'श्रीचाहड़देव' लिखा है तथा दूसरी ओर 'असावरी श्रीसमन्तदेव' श्रुतिवाक्य है[4]। श्री कनिंघम ने इन मुद्राओं का चित्र नहीं दिया है।

पृथ्वीराज या पृथ्वीपाल नामक राजा सभी तोमर-वंशावलियों में मिलता है। ठक्कुर फेरू ने 'द्रव्यपरीक्षा' में पृथ्वीपाल तोमर की मुद्राओं के मान दिये हैं। इस राजा की मुद्राएँ आधुनिक युग में भी मिली हैं। यह स्वाभाविक था कि पृथ्वीराज नाम देखते ही श्री कनिंघम ने उन्हें चौहानों के राजवंश की मुद्राएँ मान लिया। उनके एक ओर

१. प्रिन्सेप, भाग २, पृ० ३०४ फलक पर क्रमांक २७।
२. कनिंघम: मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८७, फलक ९, क्र० १५।
३. हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ३०६।
४. प्रिन्सेप ने उन मुद्राओं का उल्लेख किया है, जिनमें एक ओर 'असावरी श्रीसमन्त देव' है और दूसरी ओर 'श्रीचाहड़देव' है। इसी प्रकार की मुद्रा पर 'श्री चाहड़-देव' के स्थान पर 'श्री समसोरलदेव' का ठप्पा लगाया गया था। ये मुद्राएँ भी चाहड़देव तोमर की ही ज्ञात होती हैं जिनका रूप शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने बिगाड़ा था (प्रिन्सेप, एसेज, भाग १, पृ० ३३१)।

भाले सहित अश्वारोही के ऊपर 'श्रीपृथ्वीराजदेव' है तथा दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर 'असावरी श्रीसमन्तदेव'।[1] श्री प्रिन्सेप ने जिन मुद्राओं को परखा था उनमें पीछे 'श्री समन्तदेव असवारी' पढ़ा था[2]। ये पृथ्वीराज तोमर की मुद्राएँ हैं, पृथ्वीराज चौहान से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

लांछनों का अध्ययन

तोमरों की मुद्राओं के अध्ययन के लिए उनमें प्राप्त श्रुतिवाक्यों (लीजेन्डस्) तथा लांछनों (सिम्वल्स) का अध्ययन उपयोगी होगा। एक ही राजवंश के विभिन्न राजाओं की मुद्राओं में ये लांछन और श्रुतियाँ बदलती अवश्य पाई जाती हैं, तथापि यदि सभी राजाओं की मुद्राओं पर वे समान पाई जाएँ तब स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है।

श्रुतिवाक्य तीन रूप में प्राप्त होता है—

"श्री समन्तदेव"

"श्री सामन्तदेव"

"असावरी श्रीसमन्तदेव"

"माधव श्रीसमन्तदेव"

इनके सम्भाव्य अर्थों पर विचार करना आवश्यक है। 'समन्त' शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। स्थानीय-क्षेत्र के रूप में वह कुरुक्षेत्र का पर्यायवाची है। समन्त-पंचक तीर्थ पुराण प्रसिद्ध है जहाँ भार्गव परशुराम ने क्षत्रियों का संहार कर रक्त के पांच कुण्ड भरे थे और अपने पिता का तर्पण किया था। वह स्थान 'समन्त' प्रदेश में था अतएव उस तीर्थ का नाम हुआ 'समन्त-पंचक'। इस अर्थ में 'श्रीसमन्तदेव' का अर्थ होगा समन्त-क्षेत्र अर्थात् कुरुक्षेत्र का स्वामी।

समन्त का एक और अर्थ सीमा' या 'सिरा' भी है। यदि इस अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है तब यह माना जाएगा कि मध्यदेशीय भारत की सीमा का जो स्वामी हो, वह 'समन्तदेव' है। दिल्ली के प्रथम तोमर राजा के समय तक प्रतीहार, राष्ट्रकूट या गौड़-बंगाले के पालों के साम्राज्य की सीमा श्रीपथ अथवा कुरुक्षेत्र तक नहीं पहुँची थी, केवल काश्मीर के कुछ राजाओं की सीमा कुरुक्षेत्र से मिलती थी। यदि समन्त का अर्थ "सीमा" या "सिरा" लिया जाए तब यह मानना पड़ेगा कि उत्तर-पश्चिम के काश्मीर के राज्य को शेष भारत से सुरक्षित रखने वाले प्रदेश के स्वामियों को 'समन्तदेव' माना गया। उधर मुलतान तक मुसलमानों का भी राज्य हो गया था, तोमर उनके राज्य की सीमा को भी छूते थे।

'सामन्त' या तो भूल से 'समन्त' के स्थान पर लिख दिया गया है, या संभव है वह पढ़ा ही अशुद्ध गया हो। सामन्त का एक अर्थ वीर भी होता है। संभव है, इसी अर्थ में 'श्रीसामन्तदेव' लिखा गया हो।

---

१. कनिंघम: मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८६ फलक ६, क्र० १०।

२. प्रिन्सेप, भाग १, पृ० ३०४, फलक २५ क्र० ३०।

'समन्त' शब्द के साथ अनंग, अनंग-प्रदेश, अनंगपुर और अनंगपाल शब्दों पर भी विचार करना होगा। जो किसी साम्राज्य का अंग न हो, वह अनंग प्रदेश है। प्रथम तोमर राजा ने उस प्रदेश पर अधिकार किया, अतएव उसे स्वतंत्र राज्य स्थापना का अवसर मिला। यह अनंग-प्रदेश समन्त, कुरुक्षेत्र, है। समन्त को कुरुक्षेत्र का पर्यायवाची मानना ही हमें युक्ति-संगत ज्ञात होता है।

'असावरी' शब्द भैरवराग की इसी नाम की रागिनी का स्मरण दिलाता है। यह रागिनी सवेरे सात बजे से नौ बजे तक गायी जाती है। असावरी शब्द अस् धातु से बना है, जिससे अस्तित्व दृढ़ हो। दिन का अस्तित्व प्रथम प्रहर में दृढ़ होता है। जिस राजा ने समन्तदेव के राज्य के अस्तित्व को पुष्ट किया उसने 'असावरी श्री समन्तदेव' श्रुतिवाक्य अपनी मुद्राओं पर लिखवाया। पीपलराजदेव, पृथ्वीराज या पृथ्वीपालदेव तथा चाहड़देव ने वह विरुद ग्रहण किया है।

अनंगपाल (द्वितीय) तथा मदनपाल दो ऐसे तोमर राजा हैं जिनकी मुद्राओं पर 'माधव श्रीसमन्तदेव' वाक्य प्राप्त होता है। माधव के अनेक अर्थ हैं, कामदेव का सखा वसन्त भी माधव है, इन्द्र, परशुराम और कृष्ण को भी 'माधव' कहते हैं। अतएव अनंग-प्रदेश का सखा भी माधव हो सकता है, इन्द्रपुर-इन्द्रप्रस्थ का राजा भी माधव हो सकता है, परशुराम जैसा पराक्रमी या समन्त-क्षेत्र का स्वामी भी माधव हो सकता है तथा कृष्ण के समान पराक्रमी भी माधव हो सकता है। इन अनेक अर्थों में से किसी भी अर्थ में तोमरों ने अपनी मुद्राओं पर माधव शब्द का प्रयोग किया है।

इसका कुछ समाधान सोमदेव के 'ललित-विग्रहराज-नाटक' से प्राप्त होता है[1]। उस नाटक में इन्द्रपुर के राजा का नाम 'वसंतपाल' दिया गया है। वसंतपाल मदनपाल ही है क्योंकि वही विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन था। इन्द्रपुर "इन्द्रप्रस्थ" के लिए है। ऐसी दशा में संभव है कि मुद्राओं के "माधव" का आशय इन्द्रप्रस्थ के अधिपति से हो। अनंगपाल (द्वितीय) ने माधव विशेषण इस कारण प्रयोग किया होगा क्योंकि वह परम कृष्णभक्त था। उसके महलों और मन्दिरों के अवशेषों पर बनी कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद के खम्भों पर कृष्ण-कथाएँ अंकित पाई गई हैं[2]। परन्तु ज्ञात यह होता है कि इस अनेकार्थी "माधव" विशेषण का प्रयोग जानबूझकर किया गया है, वह अनंग प्रदेश के सखा के रूप में, इन्द्रपुर के अधिपति के रूप में, परशुराम के पराक्रम के द्योतक के रूप में तथा कृष्ण के भक्त के रूप में अनंगपाल द्वितीय और मदनपाल के लिए सार्थक माना गया होगा।

लांछन का अध्ययन

इस प्रसंग में हमने अभी केवल उन मुद्राओं को ही दिल्ली के तोमरों की मुद्राएँ माना है जिन पर घुड़सवार या नन्दी का लांछन प्राप्त हुआ है। अपने युग की घोड़ों की प्रसिद्ध मण्डी पृथूदक के स्वामी तोमरों ने अश्वारोही को अपनी मुद्राओं के लांछन

१. इण्डि० एण्टि०, भाग २०, पृ० २०१।
२. दिल्ली की खोज, पृ० ३२; आर्को० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १८७।

के रूप में स्वीकार किया हो यह स्वाभाविक ही है। नन्दी को नागों के समय से ही भारतीय मुद्राओं में स्थान मिल रहा था। तोमरों का आदिक्षेत्र तँवरघार भी नागों का क्षेत्र था और दिल्ली तथा कुरुक्षेत्र भी।

यद्यपि चारभुजा लक्ष्मी के लांछन युक्त कुछ मुद्राएँ भी दिल्ली के तोमरों की हो सकती हैं, तथापि यह कार्य विशेषज्ञों के लिए छोड़कर, अभी न्यूनतम विवाद के मार्ग पर चलना ही उचित है।

दिल्लियाल या देहलीवाल मुद्राएँ

इस संदर्भ में कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा निर्मित मस्जिद कुव्वतुल-इस्लाम पर हिजरी सन् ५८७ के शिलालेख का उल्लेख भी आवश्यक है। उसके अनुसार उस मस्जिद के निर्माण में पांच करोड़ "दिल्लियाल", दिल्ली की मुद्राओं, के मूल्य का मसाला लगा था। कुत्बुद्दीन का दिल्ली की मुद्राओं से ही परिचय था। उस समय दिल्ली में वहीं की टकसाल के सिक्के चलते थे। हसन निजामी के ताजुल-मआसिर में भी देहलीवाल मुद्राओं का ही उल्लेख मिलता है[1], ये 'देहलीवाल' दिल्ली के तोमरों की ही मुद्राएँ थीं जिन पर कुत्बुद्दीन ऐबक ने कब्जा कर लिया था।

तथाकथित चौहान मुद्राएँ

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व चौहान राजाओं की तथाकथित मुद्राओं पर भी विचार कर लेना उचित है।

अजयपाल चौहान ने वि० सं० ११९० (सन् ११३३ ई०) तक राज्य किया और उसके बाद अपने पुत्र अर्णोराज को गद्दी पर बैठा दिया[2]। डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि चारभुजा लक्ष्मीयुक्त तथा दूसरी ओर 'श्रीअजयपालदेव' नाम की मुद्राएँ इस अजयराज चौहान की हैं। 'अजयराज' का दूसरा नाम क्या 'अजयपाल' भी था, ऐसा उक्त विद्वान ने नहीं बतलाया? अजयपालदेव वह प्रतिहार राजा है जिसके वि० सं० १२५० तथा १२५१ के शिलालेख गोपाचलगढ़ के गंगोलाताल में प्राप्त हुए हैं।[3] श्री कनिंघम ने उन्हें तोमरों के खाते में लिख दिया है।[4] निश्चय ही वे तोमर मुद्राएँ नहीं हैं, परन्तु वे अजयराज चौहान की हों, यह भी सम्भव नहीं है। वे प्रतिहारों की मुद्राएँ हैं, जैसा कि लक्ष्मी के लांछन से स्पष्ट है। अजयराज की रानी सोमल्लदेवी की मुद्राओं का अस्तित्व भी डॉ० शर्मा मानते हैं।[5] अन्य प्रमाणों के साथ डॉ० शर्मा ने यह प्रमाण भी दिया है

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २४२।
२. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ४५।
३. गंगोलाताल के ये शिलालेख अभी अप्रकाशित ही हैं। इस पुस्तक में हमने डॉ० सन्तराम कटारे की व्यक्तिगत छापों का उपयोग किया है। यह सुविधा देने के लिए हम उक्त विद्वान के बहुत आभारी हैं।
४. मेडीवल कॉइन्स, पृ० ८५।
५. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ४१।

कि उनके एक ओर अश्वारोही अंकित है। इस तर्क के अनुसार तो 'पीपलराजदेव', 'अनंगपाल', 'मदनपाल' आदि की मुद्राएँ भी चौहान राजाओं की ही होना चाहिए, क्योंकि उन पर भी अश्वारोही है। श्री कनिंघम ने सोमलदेव पढ़ा था न कि सोमलदेवी।[1] किसी राजा के साथ उसकी रानी का भी नाम मुद्राओं पर लिखा हो यह तो समझ में आता है, परन्तु अजयराज चौहान के जीवित रहते उसकी रानी ने केवल अपने नाम की मुद्राएँ जारी कर दी थीं, यह कल्पना भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं है।

यहाँ विचार करने की वात यह है कि जव चौहान अजयपाल अपनी मुद्राओं के लिए लक्ष्मी का लांछन पसन्द कर चुके थे, तव सोमेश्वर और पृथ्वीराज तृतीय ने अश्वारोही क्यों स्वीकार किया ? सोमलदेवी को भी यह अश्वारोही क्यों स्वीकार हुआ ? राजवंशों की मुद्राओं पर लांछन वदले हैं, परन्तु ऐतिहासिक या साम्प्रदायिक कारणों से। सोमेश्वर चौहान के नामयुक्त जो मुद्राएँ हैं वे जाली हैं। कैमास और कर्पूरदेवी ने कुछ तोमर मुद्राओं पर ही सोमेश्वर के नाम का ठप्पा लगवा दिया है। पृथ्वीराज के नाम युक्त जो मुद्राएँ प्राप्त होती हैं वे पृथ्वीराज तोमर की हैं। शाहवुद्दीन गोरी ने सोमेश्वर का अनुकरण किया। उसने पृथ्वीराज तोमर की मुद्राओं के पीछे 'असावरी श्रीमुहमदसामे' का ठप्पा लगवा दिया। मुद्राशास्त्री यदि इन मुद्राओं का इस दृष्टि से पुनर्परीक्षण करेंगे तव स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। ठक्कुर फेरू ने अजयमेरु की टकसाल का उल्लेख नहीं किया है, उसका चौहानों की मुद्राओं के विषय मे मौन रहना अकारण नहीं है। अजयमेरु की तथाकथित टकसाल का न कहीं अस्तित्व था और न चौहानों के सिक्के ढले थे। अर्णोराज के समय से चौहान चौलुक्यों के सामन्त (भृत्य) हो गये थे, उन्होंने अपनी मुद्राएँ नहीं ढलवाईं। सोमेश्वर की भी यही स्थिति रही।

मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष

दिल्ली के तोमर राजाओं की मुद्राओं के अस्तित्व से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जाजू (अनंगपाल प्रथम), आपृच्छदेव, पीपलराजदेव, सुलक्षणपालदेव, अनंगपाल (द्वितीय), मदनपालदेव, पृथ्वीराजदेव तथा चाहड़पालदेव, दिल्ली के इन आठ तोमर राजाओं का अस्तित्व था और वे किसी के करद, सामन्त या भृत्य नहीं थे, स्वतंत्र दिल्ली सम्राट् थे।

---

१. मेडीवल कॉइन्स, पृ० ५३, फलक ६, क्र० १२।

परिच्छेद ३

स्थापत्य और शिलालेख

दिल्ली-हरियाने में तोमरों ने राज्य किया था, इस वात को कोई मध्ययुगीन या आधुनिक इतिहासकार अस्वीकार नहीं करता। उनके अधिकार में दिल्ली, हाँसी, थानेश्वर, मथुरा जैसे अनेक महत्वपूर्ण नगर और गढ़ थे इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। 'पार्श्वनाथ-चरित' का लेखक श्रीधर कवि और अमीर खुसरो उनकी राजधानी के वैभव का भी उल्लेख करते हैं। निश्चित ही उनके द्वारा विशाल प्रासाद, सुदृढ़ गढ़, विस्तृत तालाव, भव्य मंदिर भी वनवाये गये थे। तोमरों के दिल्ली के किले को देखकर तो उस समय के आक्रामक भी दंग रह गये थे। कुत्वुद्दीन ऐवक का समकालीन इतिहास लेखक हसन निजामी अपने ताजुल-मआसर में कवित्वमय शैली में लिखता है[1] :—

"अजमेर के मामले निपटाकर विजेता (शहावुद्दीन गौरी) ने दिल्ली की ओर कूच किया जो हिन्द के प्रमुख नगरों में है। जव वह दिल्ली आया तव उसने एक ऐसा गढ़ देखा जिसकी ऊंचाई और दृढ़ता के वरावर अथवा उससे दूसरे क्रम पर भी सातों लोक के विस्तार में कोई अन्य गढ़ नहीं है।"

जैसी उस समय की रीति थी, इन निर्माणों में से कुछ में अवश्य ही तोमर राजाओं ने अपने शिलालेख लगवाये होंगे।

ये सव निर्माण, भवन और शिलालेख कहाँ गये ? पद्मावती (वर्तमान पवायँ) के विषय में अनुश्रुति है कि पवायँ उलट गयी थी, कोई भूकम्प आया, सिन्धु-पारा-लवंणा उद्वेलित हुईं और पद्मावती खण्डहर हो गयी। परन्तु दिल्ली के विषय में कोई ऐसी अनुश्रुति भी प्राप्त नहीं होती।

तोमर-स्थापत्य का ध्वंस — कुव्वतुल-इस्लाम

ईसवी वारहवीं शताव्दी समाप्त होते ही दिल्ली, हांसी, अजमेर सभी नगर एक ऐसे व्यक्ति के आधिपत्य में आ गये थे जो भारतीय स्थापत्य के इतिहास में एक नवीन निर्माण-शैली का जन्मदाता माना जा सकता है। इस शैली का अनुकरण तुर्कों ने भी पूरी तरह किया और चुगताई-तुर्क मुगलों ने भी। उसने अपनी इस अभिनव निर्माण-प्रणाली का सविस्तर वर्णन एक शिलालेख में किया है।

दिल्ली पर आधिपत्य करते ही कुत्वुद्दीन ऐवक ने कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद का निर्माण कराया। उसमें हिजरी ५८७ (सन् ११९१ ई०) वर्ष डालकर एक शिलालेख भी लगाया। निश्चय ही यह सन् दो वर्ष पहले का डाल दिया गया है

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २१६।

क्योंकि ऐवक ने दिल्ली सन् ११६३ ई० में प्राप्त की थी। इस शिलालेख में ऐवक ने अपनी मस्जिद-निर्माण-प्रणाली का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह मस्जिद ऐसे सत्ताइस वुतखानों (मन्दिरों) को तोड़कर वनायी गयी है, जिनमें से प्रत्येक के निर्माण में वीस लाख दिल्लियाल व्यय हुए थे।[1] इस प्रकार पाँच करोड़ चालीस लाख दिल्लियाल की लागत के भवन नष्ट कर उनके मसाले से यह मस्जिद वनी है। मसाला इस प्रकार प्राप्त किया गया और मजदूरी के लिए विजितों के असंख्य कारीगर थे ही।

मन्दिरों से प्राप्त किये गये खम्भों और तोरणों पर मूर्तियाँ खुदी हुई थीं, उन्हें छुपाने के लिए उन पर चूने का पलस्तर चढ़ाया गया और कुर्आन की आयतें लिखवा दी गयीं। इस प्रकार कुव्वतुल-इस्लाम खड़ी हो गयी।

कुव्वतुल-इस्लाम फिर आगे वढ़ी। सुल्तान इल्तुतमिश ने उसे और वढ़ाया। जितना पुराना मसाला प्राप्त किया जा सकता था वह और लगा दिया गया और जब वह निपट गया तव नयी खदानों की खोज हुई।

इस तोड़-फोड़ और मसाले की खोज के पश्चात् तोमरों के शिलालेख और स्थापत्य दिल्ली में खोजना व्यर्थ है।

अनेक शताब्दियों के पश्चात् कुत्वुद्दीन द्वारा लगवाया गया चूना खम्भों और तोरणों को छोड़-छोड़ कर गिरने लगा। अत्यन्त मनोहर मूर्तियों से सज्जित स्तम्भ उभर आए, जो रूप अव दिखाई देता है वह अद्भुत है, समस्त खम्भे हिन्दू शैली के हैं, और मिम्वर की महरावें मुस्लिम शैली की।

प्रकृति और कालचक्र द्वारा किये गये इस पुनरुद्धार के पश्चात् यह निश्चित रूप से कहा जा सकता था कि कुव्वतुल-इस्लाम के अवशेष दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी की तोमर स्थापत्य कला की प्रदर्शिनी हैं। तथापि उसके दो दावेदार इतिहास में उत्पन्न हो गये हैं।

कुव्वतुल-इस्लाम के मलवे के पहले दावेदार – जैन

कुव्वतुल-इस्लाम के अवशिष्ट प्रस्तरों के पहले प्रवल दावेदार जैन विद्वान हैं। उनका कहना है[2] "जहाँ यह मस्जिद वनी है वहाँ पहले पार्श्वनाथ का मन्दिर था। वह तोमरवंशीय राजा अनंगपाल तृतीय के मंत्री अग्रवालवंशी साहू नट्टुल द्वारा ११३२ ई० से पूर्व वनाना वताते हैं। इसके वारे में कवि श्रीवर ने पार्श्वपुराण में भी उल्लेख किया है। निकटवर्ती जिन-मन्दिरों को कुत्वुद्दीन ऐवक ने ११६३ ई० में विध्वंस किया, उनमें यह मन्दिर मुख्य था जिसके अवशिष्ट चिह्नों में से हाथी दरवाजा तथा दो ओर के सभागृह अव भी देखने को मिलेंगे। उनके कहने के अनुसार कीली के पार्श्व भाग में शिखर-युक्त पीठिका में मुख्य वेदी स्थापित थी तथा इसी केन्द्र के चारों ओर सभागृह था जिसके स्तम्भों व दीवालों पर तीर्थंकरों की मूर्तियाँ देखने में आती हैं। द्वार को छोड़कर वाकी

१. प्रिन्सेप, एसेज, भाग २, पृ० ३२६।
२. दिल्ली की खोज, पृ० ३२।

तीन ओर से सभागृह में तीन अतिरिक्त वेदियों की स्थापना का आभास पाया जाता है। जैनियों का कथन है कि यह सम्पूर्ण मन्दिर एक सरोवर के मध्य में स्थित था।"

अत्यन्त सर्वग्राही और प्रशस्त दावा है यह! श्रीधर ने पार्श्वनाथ-चरित पुस्तक अवश्य लिखी है, परन्तु उसने पार्श्वनाथ के मन्दिर के निर्माण होने का उल्लेख नहीं किया है। अनंगपाल 'तृतीय' नामक किसी राजा का अस्तित्व इतिहास में नहीं है। अनंगपाल द्वितीय के समय में किसी अल्हण साहू नामक व्यापारी ने चन्द्रप्रभु का मन्दिर बनवाया था और विजयपाल तोमर के राज्यकाल में सन् ११३२ के आसपास अल्हण के तीसरे पुत्र नट्टुल ने आदिनाथ का मन्दिर बनवाया था।[1] खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि से यह पता चलता है कि सन् ११६६ ई० में दिल्ली में एक पार्श्वनाथ मन्दिर भी था। परन्तु वह लौहस्तम्भ से बहुत दूर था। खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि तथा श्रीधर के ग्रन्थ से यह भी स्पष्ट है कि विजयपालदेव और मदनपालदेव तोमर के सम्बन्ध जैन साधुओं से अच्छे नहीं थे, बुरे ही थे। यह भी निर्विवाद ही है कि अनंगपाल द्वितीय का राज-प्रासाद लालकोट के भीतर ही था। जिस समय तेजपाल तोमर ने शहाबुद्दीन की आधीनता स्वीकार कर ली थी तब वह लालकोट में ही रहता था। इस लालकोट के मध्य में लौहस्तम्भ है। यह कल्पनातीत है कि राजा का महल और उसके मन्दिर लालकोट के बाहर हों और पार्श्वनाथ का मन्दिर लालकोट के भीतर हो। हमारा अनुमान तो यह भी है कि शहाबुद्दीन या कुत्बुद्दीन ने जैन मन्दिर नहीं तोड़े, उनका जैन व्यापारियों एवं साधुओं से कोई झगड़ा होने के प्रमाण इतिहास में नहीं मिलते। कुव्वतुल-इस्लाम के खम्भों पर कोई जिन-विग्रह भी प्राप्त नहीं हुआ है, यद्यपि बुद्ध की मूर्ति स्पष्टतः पहचानी जाती है। उस समय तक बुद्ध को दशावतार में सम्मिलित कर लिया गया था।

कुव्वतुल-इस्लाम के मलवे के दूसरे दावेदार — राय पिथौरा

कुव्वतुल-इस्लाम के मलवे के दूसरे दावेदार हैं चौहान राय पिथौरा[1]। कुछ आख्यानों को छोड़कर किसी भी ग्रन्थ या शिलालेख में यह उल्लेख नहीं मिलता कि चौहान राय पिथौरा या उनका कोई पूर्वज कभी दिल्ली में रहा हो। समकालीन ग्रन्थ पृथ्वीराज-विजय-काव्य उसकी राजधानी अजमेर घोषित करता है तथा खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि में भी उसकी राजधानी अजमेर ही बतलायी गयी है।[2] सन् ११८२

---

१. मध्ययुगीन फारसी इतिहास लेखक "पृथ्वीराज" को सर्वत्र "पिथौरा" लिखते थे। "पृथ्वीराज चौहान" का नाम उन ग्रन्थों में "राय पिथौरा" के रूप में मिलता है। हमने भी कहीं-कहीं उनका यही नाम प्रयोग किया है। इसका एक मात्र उद्देश्य उन्हें "पृथ्वीराज तोमर" से विभेदित करना है। समकालीन "चौहान" और "तोमर" पृथ्वीराज के नामसाम्य के कारण पर्याप्त भ्रम उत्पन्न हुए हैं।

२. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, पृ० २६।

(वि० सं० १२३६) में ज़िनदत्त सूरि अजमेर में ही पृथ्वीराज चौहान से मिले थे और उससे जयपत्र प्राप्त किया था। समस्त समकालीन फारसी इतिहासकार भी उसकी राजधानी अजमेर ही बतलाते हैं, और उसे अजमेर के राजा के नाम से ही सम्बोधित करते हैं। सन् ११६१ ई० (हिजरी ५८७) में शहाबुद्दीन गौरी ने राय पिथौरा के पास सद्र किवामुल्मुल्क रूहुद्दीन हम्जा को दूत बनाकर भेजा था, तब वह अजमेर में ही उससे मिला था।[1] पृथ्वीराज चौहान कभी दिल्ली पधारे हों ऐसा उल्लेख किसी इतिहास-ग्रन्थ में नहीं मिलता। केवल आख्यानकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' और उसका अनुसरण करने वाले कतिपय ग्रन्थ ही उनकी राजधानी दिल्ली बतलाते हैं, जो तथ्य न होकर केवल कवि-कल्पना है।

"पिरथीनिरपःस्तंभो" या कुत्बमीनार

कुव्वतुल-इस्लाम के पास ही दक्षिण की ओर वह स्तम्भ खड़ा हुआ है जिसे आजकल कुत्बमीनार कहा जाता है। यदि कुव्वतुल-इस्लाम तोमरों का प्रासाद था तब यह स्तम्भ किसने बनवाया था? इसे संसार का सबसे ऊंचा कीर्ति-स्तम्भ तथा मध्य-युगीन स्थापत्य का श्रेष्ठतम उदाहरण माना जाता है। यह किसकी कीर्ति की स्मृति को सुरक्षित किये हुए है?

अनुश्रुति यह है कि इसे राजा "पृथ्वीराज" ने अपनी दुहिता के लिए बनवाया था। पृथ्वीराज की यह दुहिता परम भक्त थी और यमुना में स्नान किये बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं करती थी। प्रतिदिन प्रातःकाल यमुना स्नान के लिए जाना राजकुमारी के लिए श्रमसाध्य था अतएव पृथ्वीराज ने अपनी पुत्री को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह इस स्तम्भ पर चढ़कर यमुना के दर्शन कर लिया करे। इस प्रयोजन से यह स्तम्भ खड़ा किया गया। यह अनुश्रुति आज भी गहरी जमी हुई है।[2]

यह स्वाभाविक है कि पृथ्वीराज चौहान को दिल्ला का राजा माने जाने के कारण अनुश्रुति का यह 'पृथ्वीराज' राय पिथौरा माना गया, यद्यपि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, राय पिथौरा आजीवन अजमेर के प्रासादों में ही रहे, वे और उनकी राज-कुमारी या राजकुमार कभी दिल्ली नहीं पधारे। यदि कुत्ब की अनुश्रुति का विवेचन करने वाले विद्वान तोमर पृथ्वीराज अथवा उसके उत्तराधिकारी चाहड़ से परिचित होते, तब उनके द्वारा इस अनुश्रुति का विवेचन अन्य प्रकार से किया जाता।

यह कीर्तिस्तम्भ किसने बनवाया है, इसके विषय में भीषण विवाद हुए हैं। इस परिच्छेद को 'बृहद्-कुत्ब-ग्रन्थ' का रूप देने का हमारा अभिप्राय तथा उद्देश्य नहीं है। स्वर्गीय डॉ० नन्दलाल चटर्जी ने उस विवाद का विवरण पर्याप्त विस्तार से दिया है।[3]

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २१२।

२. डॉ० नन्दलाल चटर्जी, दि आर्किटेक्चरल ग्लोरीज ऑफ डेल्ही (अल्फा पब्लिशिंग कन्सर्न, कलकत्ता), पृ० २३।

३. वही, पृष्ठ २३-३०।

उसका एक पहलू अत्यन्त ग्लानिकारक है। श्री कनिंघम के एक अधीनस्थ अधिकारी श्री वेगलर ने पुष्ट तर्कों से यह सिद्ध किया था कि इस स्तम्भ का निर्माण तुर्कों द्वारा न किया जाकर उनके आगमन के पूर्व भारतीयों ने किया था। श्री सय्यद अहमद भी इस स्थापना से सहमत थे। परन्तु श्री कनिंघम ने अपने प्रभाव का प्रयोग किया और वेगलर तथा सय्यद अहमद, दोनों को, अपना मत वदलने के लिये विवश होना पड़ा[1]। श्री कनिंघम ने ऐसा क्यों किया ? तोमर-राजवंश के इतिहास में उन कारणों का विवेचन अपेक्षित नहीं है। यह पर्याप्त है कि आज की पीढ़ी यह जान ले कि हमें 'ज्ञान' किस प्रकार के स्रोतों से प्राप्त हुआ था।

श्री कनिंघम के इस असद् कार्य की प्रतिक्रिया हुई और डॉ० त्रिवेद ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि कुत्व को समुद्रगुप्त ने ईसा पूर्व २८० में विष्णुध्वज या नक्षत्रों के निरीक्षण के स्तम्भ के रूप में बनवाया था[2]। डॉ० त्रिवेद ने समस्त क्षेत्रों से अपनी स्थापना पर विचार आमंत्रित किये हैं। इस ओर से हम यहां पलायन करना ही उचित समझते हैं।

डॉ० नन्दलाल चटर्जी का सुझाव है कि इस स्तम्भ को हिन्दुओं ने बनवाया था या मुसलमानों ने, अब यह प्रश्न महत्वहीन है क्योंकि इस स्तम्भ को भारतीय प्रतिभा का प्रतीक माना जा सकता है। आज के परिपेक्ष्य में यह सद्विचार है, तथापि इस कीर्ति-स्तम्भ में हमें तोमर वंश के इतिहास के कुछ सूत्र मिलने की आशा है, अतएव इस प्रश्न पर कुछ विचार तो करना ही होगा।

कुत्व के देवनागरी लिपि के शिलालेख

इस कीर्ति-स्तंभ या कुत्बमीनार पर जो फारसी और अरबी के शिलालेख हैं उनसे हमें तोमरों के इतिहास की कोई सामग्री नहीं मिलती; केवल यह ज्ञात होता है कि इनमें से किसी में भी किसी सुल्तान ने उनके द्वारा इस स्तम्भ को निर्मित करने का दावा नहीं किया है, उनके द्वारा मरम्मत अवश्य की गयी है।

देवनागरी अक्षरों के कुत्ब के लेखों के विषय में डॉ० त्रिवेद ने एक भयंकर रहस्योद्घाटन किया है[3]—

"उस पर विक्रम संवत् १२०४ तथा १२५६ के लेख मिले थे। वे सन् ११४७ तथा ११९९ ई० के थे। ये वर्ष निश्चय ही कुत्वुद्दीन ऐबक के राज्यकाल के पूर्व के हैं। इन वर्षों के लेखों को वेग्लर ने देखा था परन्तु उसके पश्चात् उन्हें छील डाला गया ताकि उन्हें फिर न पढ़ा जा सके।"

---

१. वही, पृ० २६।
२. डॉ० डी० ए० त्रिवेद, विष्णुध्वज और कुत्व मनार (चौखम्भा संस्कृत सीरीज) पृ० १५४। (यह पुस्तक एनाल्स ऑफ़ भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग ४०, में प्रकाशित लेख का पुनर्मुद्रण है।)
३. वही, पृ० २४४।

डॉ० त्रिवेद का यह लेख सन् १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ था। गत वर्षों में उक्त कथन के विरुद्ध कुछ नहीं कहा गया है। डॉ० नन्दलाल चटर्जी की पुस्तक सन् १९६९ में प्रकाशित हुई है। उसमें डॉ० त्रिवेद की स्थापना का उल्लेख है, अतएव उक्त विद्वान ने निश्चय ही डॉ० त्रिवेद की पुस्तक को पढ़ा था। वेग्लर के मत-परिवर्तन का इतिहास भी डॉ० चटर्जी ने दिया है, परन्तु उक्त भयंकर तथ्य के विषय में उन्होंने कुछ नहीं लिखा है। डॉ० त्रिवेद का कथन यदि सत्य है तब दिल्ली के तोमरवंश के इतिहास के विद्यार्थी की यही चिन्ता है कि 'इतिहास' में भी कुटिल राजनीति का प्रवेश करने वाले भारत-विजेता अंग्रेजों ने उनके इतिहास के और कौन-कौन से सूत्र छिलवा डाले होंगे !

इस पृष्ठभूमि में जो उपलब्ध है, उसे देख-परख कर ही संतोष करना होगा। श्री कनिंघम ने इस स्तंभ के देवनागरी अक्षरों के केवल १० लेख प्रकाशित किये हैं। उनमें से हमारे लिए उपयोगी निम्नलिखित हैं—

(१) पिरथी निरपः स्तम्भो (श्री कनिंघम ने 'निरयः' पढ़ा था, जो स्पष्टतः अशुद्ध है।)
(२) श्री गोविंदपलो भोजपलो।
(३) संमत १२५६।
(४) मलिकदीन की कीरतिस्तंभ स्वस्ति भवतु।
(५) ओं स्वस्ति श्री सुरित्राण फेरोजशाहि विजयराज्ये संवत् १४२६ वरिप फाल्गुण सुदि ५ शुक्रदिने मुकरो जीर्णोद्धार कृतं श्री विश्वकर्मा प्रासादे सूत्रवारि चाहड़देवपाल सुतदौहित्र सूत्रपातः प्रतिष्ठा नियातित उदे गज ९२।

यदि, जैसा डॉ० त्रिवेद ने लिखा है, संवत् १२०४ (सन् ११४७ ई०) का कोई उल्लेख इस स्तंभ पर था, तब हमारे गणित से इस स्तंभ का अस्तित्व विजयपालदेव तोमर के समय में था।

श्री कनिंघम द्वारा प्रकाशित क्र० (१) के लेख में जिस 'जिस पिरथीनिरप' का उल्लेख है, वह था पृथ्वीराज या पृथ्वीपाल "तोमर", इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है।

क्र० (२) में 'गोविन्द' और 'भोज' के पश्चात् 'देव' शब्द नहीं है, अतएव वे राजाओं के नाम नहीं है। परन्तु उनका 'पलो' उन्हें तोमर राजवंश का प्रकट करता है। (मिलाएँ ठक्कुर फेरू का 'अणग पलाहे, पिथउपलाहे' आदि।)

क्र० (३) का संवत् १२५६ (सन् ११९९ ई०) उस समय डाला गया था जब कुत्बुद्दीन ऐबक भारत का सुल्तान नहीं बना था उस समय वह शहाबुद्दीन गौरी का सेनापति मात्र था।

क्र० (४) से हम केवल यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि इस मीनार, मनार या कुत्ब-मीनार का नाम "कीर्तिस्तम्भ" था।

क्र० (५) हमारी दृष्टि से कुछ अधिक महत्व का है। इसमें 'चाहड़देवपाल' निश्चय ही राजा का नाम है। यह वह चाहड़देव तोमर है जिसकी मुद्राएँ ठक्कुर फेरू

ने परखी थीं और जो पृथ्वीराज तोमर के पश्चात् दिल्ली का राजा बना था। एक अन्य देवनागरी शिलालेख के अनुसार 'मुहम्मद सुरत्राण की राजि भादव मादि (मासि या माहि) बीजु पडि सातमि दिने घटिक २५ जणकमालाः संवत् १३८२ वर्ष।' देवनागरी लिपि में होने के कारण इस लेख को महत्व नहीं दिया गया है। इस शिलालेख के अनुसार इस स्तंभ पर सन् १३२५ ई० में मुहम्मद तुगलुक के राज्यकाल में गाज गिरी थी। भादों का महिना था, सप्तमी तिथि थी और दिन २५ घटिका वढ़ा था, अर्थात्, संध्या के लगभग चार-पांच बजे थे। पूरे ३४ वर्ष तक उसका चौथा खण्ड टूटा पड़ा रहा। फाल्गुन सुदि ५ शुक्रवार वि० सं० १४२६ (सन् १३६९ ई०) में फीरोज तुगलक ने इसका जीर्णोद्धार कराया।[1]

फीरोजशाह के फारसी शिलालेख का यह कथन कि हिजरी ७७० में इस मीनार पर बिजली गिरी थी असत्य है, संभव है उसका अर्थ अशुद्ध लगाया गया हो, और उसका आशय यह हो कि 'यह मीनार टूट गयी थी, ७७० (सन् १३६९ ई०) में महान और सर्वशक्तिमान अल्लाह की दया से फीरोजशाह तुगलुक ने उसकी मरम्मत कराई"।

यह मरम्मत किससे कराई गई थी इसका उल्लेख फारसी के शिलालेख में नहीं है, देवनागरी के लेख में भी नहीं है। वह जो भी हो कोई दिल्ली का पुराना 'सूत्रधार' ही था। फीरोज तुगलक के समय तक भी तुर्कों ने इतना गणित नहीं सीखा था कि वे इस स्तम्भ के अनुपात को समझ सकते। अलाउद्दीन खलजी भी इसी कारण, प्रयास करके भी, इस स्तम्भ का प्रतिरूप न बनवा सका था। इस स्तम्भ की मरम्मत करने वाले सूत्रधार को यह ज्ञात था कि दिल्ली के तोमर राजा चाहड़पालदेव ने इस कीर्ति स्तम्भ को पूरा कराया था। उक्त शिलालेख का अर्थ हमारे अभिमत में यह है—

"श्री सुल्तान फीरोज शाह के विजयराज्य में, संवत् १४२६ वर्ष, फाल्गुन सुदि ५ शुक्रवार को ('शुक्रदिने मुकरो' नहीं 'शुक्रदिनेमु करो') इस स्तंभ का जीर्णोद्धार कराया गया, श्री विश्वकर्मा के प्रसाद से (मैं) सूत्रधार यह कर सका। (मूलतः) इस स्तंभ का सूत्रपात 'चाहड़देवपाल' राजा ने अपने सुत तथा दौहित्र द्वारा करवाया था। इसकी ऊंचाई ९२ गज की थी।"

यदि डॉ० त्रिवेद द्वारा उल्लिखित सं० १२०४ (सन् ११४७ ई०) के अप्राप्त या अप्राप्य या छील दिये गये लेख पर विचार किया जाए तब ज्ञात यह होता है कि इस कीर्तिस्तम्भ का निर्माण अनंगपाल द्वितीय (सन् १०५१-१०८१ ई०) ने उस समय कराया जब उसने लौहस्तम्भ की स्थापना की थी तथा 'श्री किल्लिदेवपाल' नामयुक्त मुद्राएँ जारी की थीं और सन् ११४७ ई० में विजयपालदेव के समय में उस पर वह अप्राप्य संवत् डाल दिया गया। संभव है कभी उल्कापात से उसे कोई क्षति हुई हो, और चाहड़पाल तोमर ने उसे पुनः बनवाया हो।

---

१. देवनागरी लिपि में यह लेख जिसने खुदवाया था वह कारीगर अपने कथन में असावधानी नहीं कर सकता था, उसे अपने प्राणों का भय था। हिन्दी का व्याकरण भी सरल है और अक्षर भी सुनिश्चित। भूल फारसी- अरबी में ही हो सकती है।

अनुश्रुतियों में भी सत्य का अंश होता है। यदि पृथ्वीराज और उसकी राजकुमारी की अनुश्रुति में कुछ भी सत्य है तब इस स्तम्भ का निर्माण पृथ्वीराज तोमर ने किया और उस पर किसी ने अंकित कर दिया "पिरथीनिरपः स्तंभो"। वि० सं० १४२६ के लेख (ऊपर के क्रमांक ५) का भी इसके साथ सामंजस्य स्थापित हो सकता है। संभव है चाहड़पालदेव ने अपने सुत, अर्थात्, तेजपाल, और चौहान नागार्जुन के द्वारा उसे ६२ गज ऊंचा करा दिया हो। इस 'दौहित्र' से कोई उलझन उत्पन्न नहीं होती। नागार्जुन मदनपाल तोमर की दुहिता देसलदेवी का पुत्र था। वह अपनी ननसाल, दिल्ली में रहता था, वहाँ वह 'दौहित्र-राजा' ही कहा जाता होगा।

कहा नहीं जा सकता कि हमारा यह निर्वचन कहाँ तक मान्य हो सकेगा। परन्तु यह बात सुनिश्चित है कि कुत्बुद्दीन ऐवक का उसके निर्माण में कोई हाथ नहीं है। सूफी सन्त कुत्बुद्दीन काकी का मजार पास में ही बन जाने से इसे कुत्व की लाट कहा जाने लगा। समुद्रगुप्त का समय ईसापूर्व २८० में ले जाने की सामर्थ्य हममें है नहीं, क्योंकि हम उसका समय सन् ३४० ई० के पश्चात् का मानकर चले हैं और हमारा यह भी दृढ़ मत है कि गुप्त सम्राटों का समय भारतीय संस्कृति के ह्रास का समय है[1]। उधर सुल्तानों के अनेक इतिहासकार दिल्ली-विजय के उपलक्ष में सब-कुछ तुर्कों को भेंट करने पर तुले हुए हैं।

हमें आशा है कि कभी-न-कभी कुत्व का रहस्योद्घाटन होगा, कालचक्र ऐसी सामग्री उठाकर फेंक देगा कि इस कीर्तिस्तम्भ का वास्तविक निर्माता कोई तोमर सम्राट् सिद्ध किया जा सके। परन्तु आज जो स्थिति है उसमें हमारे लिए उचित मार्ग यही है कि 'ऐतिह्य-सामग्री' में कीर्ति-स्तम्भ का विवेचन करने के पश्चात् अभी इसे 'दिल्ली के तोमरों के इतिहास की रूपरेखा' में सम्मिलित न करें।

महीपालपुर के निर्माण

दिल्ली के तोमरों की वंशावली में एक महीपाल तोमर नाम का राजा है जिसने सन् ११०५ से सन् ११३१ तक राज्य किया था। कुत्व मीनार की पूर्व-उत्तर-पूर्व की ओर दो मील दूर पर महीपालपुर नामक ग्राम था उसके कुछ आगे मलकापुर की बस्ती है। इस समस्त इलाके में महीपाल तोमर ने बहुत बड़े निर्माण कराए थे। अब वहाँ अनेक मकबरे बने हुए हैं। सन् १२३१ ई० में इल्तुतमिश ने अपने बड़े शाहजादे अब्दुल फतह मुहम्मद का मकबरा बनवाया था। यह मकबरा महीपाल तोमर के शिव-मन्दिर को तोड़ कर बनाया गया था। श्री कनिंघम को इस मकबरे के फर्श में शिवलिंग की योनि प्राप्त हुई थी[2]। इस मकबरे के संगमरमर और लाल पत्थर के स्तम्भ भी उनके मूल रूप के साक्षी है। इस मकबरे के अवशेषों को भी जैन मन्दिर का अवशेष

---

१. मध्यभारत का इतिहास, भाग १।

२. आर्की० सर्वे रि०, भाग १, पृ० १५५, पाद टिप्पणी।

कहा जाता है।[1] ऐसा ज्ञात तो नहीं होता। जैन-मन्दिरों में शिव-विग्रह की पूजा का विधान नहीं मिल सका है।

कस्रे सफेद (श्वेत महालय)

दिल्ली के तोमरवंश के राजाओं ने चार-पाँच शताब्दियों के लम्बे समय में जो प्रासाद, महल या मन्दिर, बनवाये होंगे अथवा जो भवन उनके व्यापारियों या नागरिकों द्वारा बनवाये गये होंगे, अब उनकी खोज बहुत लाभकारी नहीं हो सकती। तोमरों के महल का ही रूप परिवर्तन कर कुत्बुद्दीन ऐबक ने अपना निवास स्थान बनाया था और उसका नाम बदल कर 'कस्रे सफेद' (श्वेत महालय) कर दिया था। आज यह माना जाता है कि कस्रे सफेद उस महल का नाम था जो रायपिथौरा का था। वह न पृथ्वीराज चौहान ने बनवाया था, न पृथ्वीराज तोमर ने, वह अनंगपाल द्वितीय का निर्माण था, उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य पृथ्वीराज तोमर के समय तक होते रहे होंगे। इस प्रासाद में भित्ति चित्र भी बने हुए थे। फीरोज तुगलुक ने प्राणियों के चित्रों को धार्मिक कर्तव्य-वश पुतवा दिया और उनके स्थान पर बगीचों के दृण्य अंकित करा दिये। कालान्तर में यह कस्रे सफेद भी भग्न हो गया और उसके अवशेष मुगलों के प्रासादों में लग गये।

प्राचीन ढिल्लिका अब मकबरों और मजारों की बस्ती है। उसमें जो कुछ ऐतिह्य सामग्री होगी भी, उसकी प्रतीक्षा व्यर्थ है। परवर्ती श्मशान में पूर्ववर्ती जीवन की उपलब्धि का प्रयास इतिहास का विषय नहीं है। उसके मलबे के लिए झगड़ने से भी इतिहास हाथ नहीं आएगा। अब जो दिल्ली बन रही है, बढ़ रही है, वह न किसी सम्प्रदाय-की है न किसी धर्मविशेष की, वह भारत के गणतन्त्र की है।

तटबन्ध और कुण्ड

दिल्ली के आसपास आज भी ऐसे अनेक तालाब हैं जो तोमरों की दिल्ली की अनुश्रुति सुरक्षित रखे हुए हैं। आज जिसे 'अड़गपुर' या 'अनकपुर' कहते हैं वह मूल अनंगपुर है जहाँ प्रथम तोमर राजा ने अपनी राजधानी बनाई थी। वहाँ आज भी २८९ फुट लम्बा विशाल तटबन्ध बना हुआ है। दिल्ली के तोमरों की यह प्राचीनतम अवशिष्ट स्मृति है।

अनंगपाल प्रथम के एक पुत्र सूर्यपाल ने अनंगपुर से एक मील दूर सूर्यकुण्ड बनवाया था।[2]

प्राप्त शिलालेख और उनका स्वरूप

लगभग एक सहस्राब्दी तक राजनीतिक और सामरिक उथल-पुथल, निर्माण तथा पुनर्निमाण और उनके परिणामस्वरूप होने वाली तोड़फोड़ के पश्चात् तोमरों की ढिल्लिका में उनके विस्तृत शिलालेख प्राप्त न हो सकना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ तोमर-लेख दिल्ली के अवशेषों में मिले अवश्य हैं। ये लेख या शिलालेख न होकर मात्र

१. दिल्ली की खोज, पृ० ५८।
२. दिल्ली की खोज, पृ० ३०।

विगतें हैं, जिस प्रकार मध्ययुग में प्रशस्तियाँ लिखी जाती थीं और उत्कीर्ण की जाती थीं, उस प्रकार के ये लेख नहीं हैं।

लौहस्तम्भ पर श्री कनिंघम को दो छोटे-छोटे लेख मिले थे, जिन्हें तोमरों के इतिहास से सम्बद्ध माना जा सकता है। एक शिलालेख में 'सं० ४१८ राज तुंवर आदि अनंग' मिला था[1]। इस संवत् को गुप्त संवत् मान कर श्री कनिंघम ने ईसवी सन् ७३६ गिना था।

लौहस्तम्भ का दूसरा शिलालेख है 'सम्वत दिहालि ११०९ अंगपाल वहि[2]।' इसका अर्थ श्री कनिंघम ने यह किया था "संवत् ११०९ या १०५२ ई० में अंग (अनंग) पाल ने दिल्ली बसाई"। वास्तव में इसका अर्थ यह है 'दिल्ली में प्रचलित संवत् ११०९ में अनंगपाल ने इस लौहस्तम्भ का वहन किया"।

डॉ० ओझा ने लिखा है "कुत्बुद्दीन ऐबक की मस्जिद के पास एक तालाव की पाल पर अनंगपाल के वनाए हुए एक मन्दिर के स्तंभ अब तक खड़े हैं, जिनमें से एक पर अनंगपाल का नाम खुदा है[3]।"

कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद पर भी कुछ लेख मिले हैं। वे कारीगरों द्वारा प्रासादों के स्तम्भों तथा तोरण-प्रस्तरों को वनाते समय डाले गये अंक हैं। इन अंकों के सहारे वे विभिन्न प्रस्तर-खण्डों को यथास्थान जमाते थे। कभी कोई शिल्पी अपना नाम भी खोद देता था। इसमें से एक पत्थर पर एक ओर शब्द 'कवल' लिखा मिला था, और दूसरी ओर ११२४। इन अंकों को संवत् सूचक मानकर श्री कनिंघम ने यह अनुमान लगाया था कि वह मन्दिर जिसका यह तीर है सन् १०६७ ई० में वना था। सत्ताईस मन्दिरों से प्राप्त कुव्वतुल-इस्लाम के लगभग ५०० स्तम्भ तोमर-इतिहास की केवल इतनी सी सामग्री दे सके हैं।

मथुरा तोमर-साम्राज्य के अन्तर्गत थी। सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने यहाँ के विशालतम मन्दिर को ध्वस्त कर दिया था। संवत् १२०७ (सन् ११५० ई०) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि महाराज विजयपालदेव के राज्य में जज्ज नामक व्यक्ति ने नवीन मंदिर का निर्माण कराया था। यह 'विजयपालदेव' नाम दिल्ली की तोमर वंशावली में प्राप्त होता है।

---

१. कनिंघमः कॉइन्स आफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८१।
२. कनिंघम, आर्कीलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग १, पृ० १५१।
३. राजपूताने का इतिहास, भाग १, पृ० २६५।

पार्श्वनाथ चरित

वि० सं० ११८९ (सन् ११३२) में श्रीधर नामक कवि ने दिल्ली में पार्श्वनाथ चरित नामक पुस्तक लिखी थी —

विक्कमणरिंदसुपसिद्धकालि
ढिल्लीपट्टणि धणकणविसालि ।
सणवासि(य)एयारहसएहिं,
परिवाडिएँ वरिसहिं परिगएहिं ।
कसणट्ठमीह आगहणमासि
रविवारसमाणिउ सिसिरभासि ॥

श्रीधर ने अपने ग्रन्थ में अपने आश्रयदाता नट्टुल साहु का सविस्तर बखान किया है । सन्दर्भ में दिल्ली का भी कुछ विवरण दिया हैं और दिल्ली के राजा अनंगपाल का भी । श्रीधर का यह मूल ग्रन्थ, प्रयास करके भी, हम नहीं देख सके, केवल उसका उतना ही अंश उपलब्ध है जो श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह[1] में प्रकाशित किया है । वह पाठ नितान्त शुद्ध है यह कहना संभव नहीं है ।

श्रीधर के प्रकाशित पाठ के अतिरिक्त प्रस्तावना में श्री परमानन्द ने कुछ ऐसी बातें भी लिखी हैं जो उक्त पाठ में उपलब्ध नहीं है, वह जानकारी उक्त विद्वान ने मूल ग्रन्थ से ली होगी । नट्टुल के विषय में लिखा है कि "उसका व्यापार अंग, बंग, कलिंग, कर्नाटक, नेपाल, भोट, पांचाल, चेदि, गौड़, टक्क, केरल, मरहट्ट, भादानक (वयाना), मगध, गुर्जर, सोरठ और हरियाना आदि देशों में चलता था ।"

नट्टुल साहु अल्हण साहु का तीसरा पुत्र था । अल्हण साहु भी समृद्ध व्यापारी थे । श्री परमानन्द जैन शास्त्री के अनुसार नट्टुल के "कुटुम्बीजन तो नगर सेठ थे, और आप तोमरवंशी अनंगपाल तृतीय के आमात्य थे ।"[1]

पार्श्वनाथ चरित में उल्लिखित अनंगपाल नट्टुल का समकालीन था, इसकी स्थापना पूर्व में डॉ० दशरथ शर्मा भी कर चुके थे ।[2]

वास्तविकता यह है कि दिल्ली का यह राजा अनंगपाल नट्टुल का समकालीन नहीं था, वह उसके पिता अल्हण का समकालीन था । श्रीधर ने किसी कारण से

---

१. वीर-सेवा-मन्दिर-सोसाइटी, २१, दरियागंज, दिल्ली ।

१. जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ८४ ।

२. दिल्ली का तंवर (तोमर) राज्य, राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृष्ठ २० ।

अपने समकालीन राजा का नामोल्लेख नहीं किया है।[1] अतएव श्रीवर के उल्लेख का परीक्षण एक तो इस दृष्टि से करना आवश्यक है कि जिस अनंगपाल का उल्लेख श्रीवर ने किया है वह उसके ग्रन्थ की रचना के समय, अर्थात् वि०सं० ११८९ में विद्य-मान था या उस समय वह भूतकाल की स्मृतिमात्र था।

श्रीवर के उद्धरण से प्राप्त एक अन्य निष्कर्ष भी विवेचनीय है। पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने पार्श्वनाथ चरित की कुछ पंक्तियाँ सन् १९५३ ई० के पूर्व श्री डॉ० दशरथ शर्मा के पास भेजी थीं, जिनसे उक्त विद्वान ने यह परिणाम निकाला था कि श्रीवर द्वारा उल्लिखित अनंगपाल देशद्रोही हो गया था, यानी गजनी के सुल्तान से मिल गया था।[2] श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने डॉ० दशरथ शर्मा के इस भाष्य को सन् १९६३ ई० में कुछ परिमार्जित करना चाहा और लिखा—

"श्रीवर ने इस ग्रन्थ की रचना दिल्ली में उस समय की, जब वहाँ तोमरवंशी क्षत्रिय अनंगपाल तृतीय राज्य कर रहा था। इसने हम्मीर वीर की सहायता की थी। यह अनंगपाल अपने दो पूर्वजों से भिन्न था। बड़ा प्रतापी एवं वीर था। इसने हम्मीर वीर की सहायता की थी। ये हम्मीर और कोई नहीं, ग्वालियर के परिहारवंश की द्वितीय शाखा के हम्मीरदेव जान पड़ते हैं, जिन्होंने सं० १२१२ से १२२४ तक ग्वालियर में राज्य किया।"

पं० परमानन्द जैन शास्त्री द्वारा अनंगपाल "तृतीय" के राष्ट्रीय चरित्र की प्रति-रक्षा इतिहास के क्षेत्र में नहीं हो सकी क्योंकि सन् ११५५-११६७ ई० में किसी हम्मीरदेव प्रतीहार का होना सुनिश्चित नहीं है, यद्यपि खड्गराय के गोपाचल आख्यान में इसका उल्लेख अवश्य मिलता है।[3] परन्तु, जैसा आगे विवेचित किया गया है, श्रीधर का आशय यह नहीं है कि अनंगपाल ने किसी हम्मीर या हम्मीरदेव की सहायता की थी।

श्रीधर का अनंगपाल विषयक पाठ

अनंगपाल श्रीवर के पार्श्वनाथ चरित की रचना के समय (वि० सं० ११८९) विद्यमान था या नहीं, तथा उसने हम्मीर के साथ क्या किया था, इन प्रश्नों का विवेचन करने के लिए पार्श्वनाथ चरित की उपलब्ध पंक्तियों का परीक्षण आवश्यक है।[4] प्रथम चार पंक्तियों में मंगलाचरण है। उसके पश्चात् १० पंक्तियों में श्रीवर ने

१. मध्ययुग में यह प्रवृत्ति एकाधिक ग्रन्थों में प्राप्त हुई है। यदि वर्तमान राजा जैन सम्प्रदाय के अनुकूल नहीं होता था तब उसके पूर्व के उस राजा का नाम लिख दिया जाता था जो उसके अनुकूल होता था।

२. दिल्ली का तंवर (तोमर) राज्य, राजस्थान भारती, १९५३, भाग ३, अंक ३-४, पृ० २१।

३. कनिंघम : आर्को० सर्वे०, भाग २, पृ० ३७८।

४. जैन-प्रशस्ति-संग्रह, पृ० ४५।

अपना परिचय दिया है, तत्पश्चात् १५ पंक्तियों में यमुना नदी का परम सुन्दरी के रूप में काव्यमय वर्णन किया है और फिर लिखा है—

विउलामल-पुलिण-णियंब जामु
उत्तिण्णी णयणहिं दिट्ठु तामु ।
हरियाणए देसे असंखगामे
गामियणजणियअणवरयकामे ।

घत्ता—

परचक्क-विहट्टणु सिरि-संघट्टणु जो सुरवइणा परिगणिउ ।
रिउरुहिरावट्टणु विउलपवट्टणु ढिल्ली णामेण जि भणिउ ॥

× × ×

जहिं असि-वर-तोडिय-रिउ-कवालु
णरणाहु पसिद्धु अणंगवालु ।
णिरदलु[1] वट्ठियहम्मीरवीरु
वंदियण-विंद-पवियण्ण[2] चीरु ।
दुज्जण-हियया वणि-दलण-सीरु
दुण्णय-णीरयणिरसण-समीरु ।
बल-भर-कंपाविय-णायराउ
माणिणि-यण-मण-संजणिय-राउ ।
तहिं कुल-गयणंगणसिय-पयंगु
सम्मत्तविहूसणभूसियंगु ।
गुरुभत्तिणवियतेल्लोक-णाहु
दिट्ठुउअल्हणणामेण साहु ।
तेण विणिज्जियचंदप्पहासु
णिसुणेवि चरिउ चंदप्पहासु ।

इस अंश का अर्थ, हमारे विनम्र मत में, इस प्रकार है—

"जब (जामु) [यह यमुना] पार की गयी तब हरियाणा देश दिखाई दिया, जिसमें असंख्य ग्राम थे और लोग निरन्तर कार्यरत थे।

"[उस हरियाने में] दिल्ली नामक नगर है जो परचक्र (शत्रु सैन्य) को नष्ट करने वाला, श्री (लक्ष्मी) का आगार है, जिसे देवताओं (इन्द्र) ने मान्य किया है, जिसमें रिपुओं के रुधिर का आवट्टन किया गया तथा (जो दिल्ली) प्रवृत्तिशीला है।

"उस (दिल्ली) में वह प्रसिद्ध अनंगपाल हुआ था जिसने अपनी श्रेष्ठ तलवार से रिपुओं के कपाल तोड़े, जिस वीर ने निश्चय ही हम्मीर का दलन कर उसे पीस डाला

१. संभव है यह पंक्ति "णिअदलवड्ढियहम्मीरवीरु" हो।
२. अर्थात् 'पविइण्ण' (प्रवितीर्ण)।

था, (या जिसने अपने दल द्वारा हम्मीर जैसे वीर को नष्ट [वट्टिय] किया था), जिसने वन्दीजनों को वस्त्रदान किये थे, जो दुर्जनों के हृदय रूपी खेतों को खोद डालने वाले हल के फल के समान था, जो कुनीति के मेघों को उड़ा देने वाले समीर के समान था, जो अपनी सेना द्वारा अभिमानी राजाओं (या शेपनाग) को कम्पायमान कर देता था, जो मानिनियों के हृदयों को मुग्ध करने वाला था ··

"वहाँ (उस दिल्ली में) हुआ था (दिखा था—दिट्ठउ) वह अल्हण साहु जो अपने विशाल परिवार रूपी आकाश के प्रकाशमान सूर्य के समान था····"

डॉ० शर्मा का अनुवाद

जैसा ऊपर सूचित किया जा चुका है, इस प्रशस्ति का कुछ अंश श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने सन् १९५३ के पूर्व कभी डॉ० श्री दशरथ शर्मा के पास भेजा था। उसके एक अंश का मूल तथा कुछ अंश का अनुवाद डॉ० शर्मा ने प्रकाशित किया था।[1]

डॉ० शर्मा का अनुवाद इस रूप में है—

"असंख्य ग्राम वाले हरियाणा देश में ढिल्ली नाम का नगर था। वह सुदृढ़ आकार, उच्च गोपुरों, आनंदकर मन्दिरों और सुन्दर उपवनों से शोभित था। उसमें असंख्य घोड़े, हाथी और सैनिक थे। वह अनेक नाटकों और प्रेक्षणकों से सम्पन्न था।

'वहाँ अपनी श्रेष्ठ तलवार से रिपुओं के कपाल भग्न करने वाला अनंगपाल नाम का राजा था। उसने निश्चित ही हम्मीर वीर (वीर अमीर यानि गजनी के सुल्तान) के दल को वढ़ाया और वन्दीजनों में वस्त्र वितीर्ण किये थे।"

प्रथम पद में जो अर्थ किया गया है उसका मूल पाठ प्रशस्ति संग्रह में प्रकाशित नहीं हुआ है। उसका मूल पाठ डॉ० शर्मा ने भी नहीं दिया है। परन्तु दूसरे पद का मूल डॉ० शर्मा ने दिया है—

जहि असिवर तोडिय रिउकवालु
ण रणाहु, पसिद्ध अणंगवालु।
णिरु दल वढ्ढिय हम्मीर वीरु
वंदियणविंद पवियण्ण चीरु।

पं० परमानन्द जैन शास्त्री द्वारा प्रकाशित मूल पाठ में और डॉ० शर्मा को प्राप्त मूल पाठ में महत्व के अन्तर हैं। 'णिरदलु', यहाँ 'णिरु दल' के रूप में मिलता है और 'वट्टिय' प्राप्त होता है 'वढ्ढिय के' रूप में। इस उद्धरण द्वारा डॉ० शर्मा ने जो भयंकर निष्कर्प प्राप्त किये हैं उनको देखते हुए इतना अन्तर ही महत्वपूर्ण है।

किसी प्राचीन ग्रन्थ की एकमात्र प्रति के आधार पर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उतारी गयी पंक्तियों के आधार पर मनमाना भाष्य कर कोई दृढ़ निष्कर्प प्राप्त करना अत्यन्त साहसिक कार्य है। पार्श्वनाथ चरित की यह प्रतिलिपि कब की गयी थी यह

१. राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० २०।

प्रशस्ति-संग्रह के उद्धरण से ज्ञात नहीं होता। उसका प्रतिलिपिकार भी भूल कर सकता था और पं० परमानन्द शास्त्री ने तो निश्चय ही कहीं-न-कहीं भूल की है, या तो डॉ० दशरथ शर्मा को भेजे जाने वाले पाठ में या प्रशस्ति-संग्रह के पाठ में। प्राचीन प्रतियों में 'अ' और 'रु' में निश्चित विभेद करना कठिन होता है, यह भी सामान्य अनुभव की बात है।

पाठ सुनिश्चित कर लेने के पश्चात् फिर उसकी अर्थ-निष्पत्ति में भी सामान्य बुद्धि के प्रयोग की अपेक्षा की जाती है। अनुमान यह करके चलना पड़ता है कि मूल लेखक को पिंगल तथा व्याकरण का ज्ञान था और वह अपने संदर्भ के अनुसार ही कोई बात लिख रहा होगा। दुर्भाग्य से डॉ० शर्मा ने यह कुछ नहीं किया और वे तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँच गये—'दल' माने सेना, 'णिरु' माने 'निश्चय ही' और 'बढ्ढिय' माने "बढ़ाया"। विद्वद्वर ने यह नहीं विचार किया कि 'दल' का अर्थ 'दलन करना' भी माना गया है, 'वढ्ढिय' का प्रयोग 'बढ़ा हुआ' के अर्थ में भी होता है और 'खण्डित किया हुआ' या 'काटा हुआ' के अर्थ में भी।

ये चारों पंक्तियाँ अनंगपाल के शौर्य के वर्णन में लिखी गयी हैं। तृतीय पंक्ति में भी 'कर्त्ता' अनंगपाल है और कर्म 'हम्मीर' है। यदि यह माना जाए कि तृतीय पंक्ति के वाक्य में क्रिया सूचक भूत कृदन्त शब्द 'वट्टिय' न होकर 'बड्ढिय' है तब उसका प्रयोग *'खण्डित', 'भग्न' अथवा 'परास्त' के रूप में किया गया है, न कि 'बढ़ाया' के रूप में।* यह भी विचार करने की बात है कि जब दूकान 'बढ़ायी' जाती है, तब उसे आगे बढ़ाई जाती है या समेटी जाती है, इसे कोश नहीं बतला सकता। मराठी भाषा में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा की चूड़ियाँ 'बढ़ाई' जाती हैं। गुजराती में भी यह प्रयोग इसी प्रकार होता है। यहाँ कुछ बढ़ता नहीं हैं, नष्ट ही होता है। प्रान्तीय भाषाओं के ये मुहाविरे प्राकृत और अपभ्रंशों से ही प्राप्त हुए हैं।

श्रीधर ने जिस संदर्भ में उक्त वाक्य लिखा है उसको भी ध्यान में रखना आवश्यक है। वह अनंगपाल के शौर्य का वर्णन कर रहा था। रिपुओं का कपाल भग्न करने, गर्विष्ट राजाओं को *अपने बल से कम्पायमान करने जैसा कृत्य ही* 'णिरु दल' या 'णिरदलु' 'वढ्ढिय हम्मीरवीर' होना चाहिए, किसी अन्य के दल को बढ़ाना ऐसा कार्य नहीं हो सकता जिसे प्रशस्ति में स्थान दिया जाए या जिसके कारण वन्दीजन विरुद गाएँ या वन्दीजनों में चीर बाँटे जाएँ। जिस राजा की राजधानी को 'परचक्र विघट्टण' तथा 'रिपु रुधिरावट्टन' कहा गया हो, उसको दूसरे का दल बढ़ाने वाला, उसी प्रशस्ति में, नहीं कहा जा सकता।

जिस भ्रष्ट-पाठ का अनुसरण डॉ० शर्मा ने किया है उसके व्याकरण सम्मत तथा सन्दर्भ के अनुसार निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं—

"जिसने (अनंगपाल ने) [अपने] दल द्वारा हम्मीरवीर को [भी] खण्डित किया था" या "जिस वीर ने बढ़ते हुए हम्मीर का दलन किया था।"

तथापि यह सुनिश्चित है कि डॉ० शर्मा द्वारा गृहीत पाठ भ्रष्ट है और उसके आधार पर प्राप्त निष्कर्ष भी पूर्णतः विपर्यस्त हैं।

कुछ अन्य विद्वानों के अभिमत

मध्यप्रदेश के संस्कृत और प्राकृत भाषा के माने हुए प्रतिष्ठित विद्वान प्राध्यापक श्री रामचन्द्र ज्ञानेश्वर लद्दु महोदय से हमने श्रीधर के ग्रन्थ की उक्त पंक्तियों का भाषान्तर करने की प्रार्थना की थी। उक्त विद्वान ने उनका भाषान्तर निम्नलिखित रूप में किया है—

घत्ता

"The city of Delhi—

—which is the pounder of the enemy's armies (or calamities from the enemy); which (city) has amassed wealth and affluence—

—and which was recognised (perhaps as an *urba prima*) by the Lord of Gods (Indra)[—This has to do something with the traditional name इन्द्रप्रस्थ of Delhi].

—the city of Delhi which saw streams of blood of the enemy (annihilated by its brave kings).

—which (city) was vast and expansive and (always) progressively active.

जहिं असिवर—

—where (*i. e.*, in the city of Delhi) there was (or ruled) the famous king Anangapala, who cut off the skulls (*lit.* heads) of his enemy by means of his great sword, who (Anangapala) by (*i, e.* through) his own (णिअ) force (=army) had broken down (*i. e.* destroyed—वड्डिय) (even) the brave Hammira.

—(King Anangapala) who had made (rich and liberal) gifts of (costly) cloth to hosts of bardfolk.

—who (Anangapala) was the veritable plough-share to break (*lit.* pound) the fields in the form of the (hard) hearts of the wicked,

—who (further) was the veritable gale to blow off the clouds of bad faith (*or* bad polity of the enemy),

—who by dint of the weight of his army caused the Great Serpent (Vasuki) to quake (perhaps, *punningly*—who caused to tremble the haughty kings around),

—who (at the same time) aroused love and fondness in the hearts (*lit*, minds) of the fair sex.

तहिं कुलगयण—

[And] there—[in that city] was (once on a time) seen (by—? *subject wanting here*) a pious layman by name Alhana who was the veritable brilliant (सिय) Sun to the expansive (vast *i. e.* big) sky of his family—

—who (Alhana) was imbued with (*lit.* whose person was adorned with) the embellishment of Samyaktva (*i. e.* Ratnatraya).

अपभ्रंश के माने हुए विद्वान, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० रामसिंह तोमर से भी हमने इस उद्धरण का अर्थ भेजने के लिए निवेदन किया था। उक्त विद्वान के निष्कर्ष निम्न रूप में हैं—

"..........मैं ऐसा समझता हूँ—जहाँ प्रसिद्ध राजा अनंगपाल की श्रेष्ठ तलवार ने रिपु-कपाल को तोड़ा, बढ़े हुए हम्मीर वीर का दलन किया, वंदिजन वृन्द से चीर प्राप्त किया (बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में एक स्थान पर 'उभिलो चीरा' मिलता है जिसका अर्थ है यशोगान किया, ध्वजा फहराई)।"

'तृतीय' नहीं, द्वितीय अनंगपाल

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि श्रीधर ने किसी "तृतीय" अनंगपाल की सृष्टि नहीं की है, वह उस द्वितीय अनंगपाल का उल्लेख कर रहा था जिसका समय सन् १०५१-१०८१ ई०, अन्य आधारों से, सुनिश्चित है। श्रीधर की रचना के वर्ष ११३२ ई० से यह अनंगपाल ५० वर्ष पूर्व हुआ था। श्रीधर का आश्रयदाता नट्टुल अल्हण साहु का तीसरा पुत्र था। यह अल्हण श्रीधर द्वारा वर्णित अनंगपाल का समकालीन था। उसे श्रीधर की रचना (११३२) का समकालीन बनाने के लिए डॉ० शर्मा के ही अनुवाद के अनेक 'था-था' थैली में बन्द कर उनके स्थान पर 'है-है' जोड़ना पड़ेंगे, जो श्रीधर की पंक्तियों के व्याकरण को देखते हुए संभव नहीं है।

नट्टुल ने व्यापार में जब उस प्रकार की समृद्धि प्राप्त की होगी जैसी जैन पंडित परमानन्द शास्त्री ने बतलाई है, उस समय उसकी वय ५० वर्ष की मानी जा सकती है। अर्थात्, उसका जन्म १०८० ई० के पूर्व ही कभी हुआ होगा। अपने तीसरे पुत्र को जन्म देते समय अल्हण सेठ ४० वर्ष के हो सकते है, अतएव उनका जन्म सन् १०४० ई० के आसपास माना जा सकता है। श्रीधर द्वारा वर्णित अनंगपाल के राज्य के समाप्त होते-होते अल्हण ४० वर्ष के हो चुके होंगे। साहु परिवार की समृद्धि-प्राप्ति और तृतीय पुत्र-लाभ की वय के विषय में थोड़ी-बहुत भूल होने पर भी अल्हण साहु अनंगपाल द्वितीय के समकालीन ही बने रहेंगे।

डॉ० शर्मा द्वारा प्राप्त राजनीतिक निष्कर्ष

श्रीधर की पंक्तियों के अपने भाष्य के आधार पर डॉ० शर्मा ने बहुत बड़ी राजनीतिक स्थापना भी की है। डॉ० शर्मा ने लिखा है[1]—

"इस उद्धरण को देखने से प्रतीत होता है कि बारहवीं शताब्दी में भारतीय राजाओं की नीति मुगलकालीन और ब्रिटिशकालीन राजाओं से कुछ भिन्न न थी। राजा मानसिंह, जयसिंह, और रायसिंह आदि को अपने भारतीय भाइयों के विरुद्ध युद्ध करने का अभिमान था। हमारे समय के राजाओं को अंगरेजों के मित्र होने का अभिमान रहा है। ऐसा ही अभिमान अनंगपाल [तृतीय] तंवर जैसे राजाओं को हृदय में शायद जागृत

१. दिल्ली का तंवर (तोमर) राज्य, राजस्थान भारती, भाग ३ अंक ३-४, पृ० २१।

हुआ था। गजनी के निर्बल सुल्तानों ने भी भारत के अनेक प्रदेशों में जो आक्रमण किये उसमें स्वयं भारतीय राजाओं का हाथ शायद कम न था।"[1]

हिन्दी-विश्व-कोश का तोमर-इतिहास

बात एक लेख तक ही रह जाती, तब उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। परन्तु यह आर्पकथन काशी की नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी-विश्व-कोश" में भी प्रतिध्वनित हुआ है[2]—

"द्वितीय अनंगपाल ने मेहरौली के लौहस्तम्भ की दिल्ली में स्थापना की। शायद इसी राजा के समय तोमरों ने अपनी नीति बदली। अपने राजपूत पड़ोसियों से उन्होंने युद्ध चालू रखा किन्तु मुसलमानों से सन्धि करली। इस नई नीति से क्रुद्ध होकर चौहानों ने दिल्ली पर और प्रबल आक्रमण किये।"

"विश्वकोश" का यह कथन डॉ० शर्मा के लेख के आधार पर ही किया गया है, ऐसा उसके सन्दर्भों को देखने से ज्ञात होता है। फिर यह 'तृतीय', 'द्वितीय' कैसे हो गया? तब तक क्या यह बात मानी जाने लगी थी कि 'तृतीय' संख्यक कोई अनंगपाल नहीं था। फिर 'द्वितीय' अनंगपाल श्रीधर का समकालीन कैसे रहा? विश्वकोश के किसी संपादक ने संभवतः यह अनुभव किया कि श्रीधर का कथन किसी समकालीन अनंगपाल के लिए नहीं है, अतएव उसने उसे 'द्वितीय' कर दिया; परन्तु अपराधी तो कोई होना ही चाहिए, जब भेड़िये को मेमना खाना ही हो तब अपराध उसका न होकर उसकी मां का होगा!

तोमर-तुर्क-सन्धि का एक अन्य अभिनव कारण

डॉ० शर्मा के श्रीधर के महाभाष्य का अनुसरण अभी हाल में एक अन्य विद्वान ने किया है। डॉ० शर्मा के अनुसार तोमरों की तुर्कों के साथ सन्धि करने के कारण अजमेर के चौहानों को उन पर क्रोध आ गया था, और डॉ० वुद्ध प्रकाश के अनुसार काश्मीर के राजा कलश (१०६३-१०८९ ई०) के आक्रमण से घबराकर तोमरों ने तुर्कों से सन्धि कर ली थी।[3] डॉ० वुद्धप्रकाश ने डॉ० शर्मा के निष्कर्ष के आधार का स्वयं परीक्षण नहीं किया है, वे उसे स्वयंसिद्ध मानकर चले हैं। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि डॉ० शर्मा ने तुर्कों से सन्धि करने वाले अनंगपाल का अस्तित्व सन् ११३२ ई० में माना है, उस समय कलश को मरे हुए बहुत समय बीत चुका था।

अनेक सहस्राब्दियों से प्रवाहित भारतीय-इतिहास-मन्दाकिनी की धारा में राष्ट्रकूट,

---

१. डॉ० शर्मा के इस दुर्भाग्यपूर्ण आरोप का विवेचन, इतिहास की घटनाओं के आधार पर, आगे परिच्छेद २५ में "चौहानों से सम्बन्ध" तथा "विजयपाल तोमर और अर्णोराज चौहान" शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

२. खण्ड ५, पृ० ४३७।

३. डॉ० वुद्धप्रकाश : काश्मीर एण्ड हरियाना इन द इलेवन्थ सेंचुरी (पं० कुन्जीलाल दुबे स्मृति-ग्रन्थ), पृ० १७२।

चौलुक्य, पाल, प्रतीहार, चौहान, तोमर आदि वंशों के राजा अत्यन्त लघु-कण हैं, आए और चले गये। उनके पूर्व और पश्चात् की पीढ़ियों ने वर्तमान भारत के चरित्र का निर्माण किया है, उसका अशिव अंश त्याग, उसके अमृत को ग्रहण करने की क्षमता और इच्छा वर्तमान पीढ़ी में उत्पन्न हो, और फिर कोई गजनी के निर्बल सुल्तानों जैसी शक्ति हमारे राष्ट्रीय गौरव पर आघात न कर सके यह क्षमता हम अर्जित कर सकें, इतिहास इसीलिए लिखे जाते हैं, इसीलिए लिखे जाने चाहिए।

श्रीधर कवि की रचना सन् ११३२ ई० की है अतएव अनंगपाल श्रीधर का समकालीन था, वह अनंगपाल 'तृतीय' था, और यह अनंगपाल वह अधमनर (?) था जो उस समय के 'अंगरेज' अर्थात् तुर्कों से मिल गया था और संभवतः उसने उस समय के 'मुगलों' से वैसे ही मधुर सम्बन्ध स्थापित किये थे जैसे आगे भारमल, मानसिंह, जयसिंह और रायसिंह ने किये थे। दिल्ली के तोमरों के गजनी या गौर के सुल्तानों से कोई विवाह सम्बन्ध हुए हों, ऐसा प्रमाण हमें देखने को नहीं मिल सका, चौहानों से होने का प्रमाण अवश्य मिला है; तथापि भारमल, मानसिंह, जयसिंह या अंगरेज-काल के राजाओं से भी इतिहासकार को कोई शिकायत नहीं होना चाहिए, वे भी भारतीय चरित्र के एक अंग के प्रतीक हैं, वह सद् हो या असद्, आगे ग्राह्य हो या अग्राह्य। मुगलों और अंगरेजों के कृत्य भी भारतीय इतिहास के अंश हैं, उनको भी इस देश के इतिहास के पृष्ठों से हटाया तो नहीं जा सकता, उनसे भविष्य के लिए मार्गदर्शन ही प्राप्त किया जा सकता है।

इतिहासकार 'न्यायाधीश' के पावन पद पर आसीन माना जाता है। बाणभट्ट, वाक्पति, केशव निगम या पृथ्वीराज-विजय-काव्य के लेखक के समान आज का इतिहासकार किसी राजा या राजवंश का आश्रित नहीं है। उत्बी, ऊफी या मिनहाज सिराज के समान वह किसी सुल्तान का भी सेवक नहीं है। 'भारतीय राजाओं' ने अनेक असमर्थनीय कार्य किये हैं, न किये होते तब उन्हें बारहवीं शताब्दी के अन्त में भीषण राष्ट्रीय पराजय न उठानी पड़ती; साथ ही उन्होंने अद्‌भुत पराक्रम भी किये हैं, न किये होते तब उनके द्वारा रक्षित भारतीय जीवन-पद्धति आज जीवित न मिलती। परन्तु उन कुकृत्यों या सुकृत्यों का सम्बन्ध आजके उनके दूरस्थ वंशजों से नहीं है, उनकी कसौटी तो आज के परिपेक्ष्य में किये गये उनके कृत्य ही हो सकते हैं। डॉ० शर्मा ने श्रीधर के उद्धरण के कच्चे भाष्य के आधार पर आधुनिक तोमरों पर जो रोष प्रकट किया है, वह इतिहास-लेखन की सीमा के बाहर है, उसे यहाँ पुनः उद्धृत करना अनुपयोगी है[1]।

इस सन्दर्भ में अधिक लिखना व्यर्थ है। आधुनिक इतिहास-लेखन के इतिहास की यह भी एक उल्लेखनीय घटना है कि सन् १९५३ ई० में एक विद्वान द्वारा किये गये भाष्य के आधार का फिर किसी ने कभी पुनरीक्षण करने का कष्ट नहीं किया और आँखें बन्द कर उसी ध्वनि को प्रतिध्वनित किया जाता रहा। किसी ने यह सोचने की कृपा

१. पीछे पृ० ४५ देखें।

न की कि एक व्यक्ति से, चाहे वह कितना ही दिग्गज विद्वान क्यों न हो, कैसा भी सतर्क क्यों न हों, भूल हो सकती है।

पार्श्वनाथ चरित से प्राप्त निष्कर्ष

श्रीधर के 'पार्श्वनाथ चरित' की एक पंक्ति के भाष्य के अप्रिय अवान्तर के पश्चात्, उसकी कृति से तोमरों की दिल्ली के राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक इतिहास के कुछ तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं।

ढिल्लिका को शत्रुओं की सेनाओं की टक्करें बारम्बार सहन करना पड़ रही थीं; परन्तु वह उन्हें पराभूत करने में समर्थ रही। अनंगपाल द्वितीय ने भी किसी हम्मीर को पराजित किया था।

व्यापारिक दृष्टि से दिल्ली उस समय बहुत समृद्ध थी। उसका व्यापार जैन व्यापारियों के हाथ में था, जिनके महासार्थ देश के सभी भागों में जाते रहते थे।

अनंगपाल द्वितीय के समय में जैन साधु और जैन व्यापारियों को पर्याप्त सुविधा और प्रोत्साहन प्राप्त थे। परन्तु दिल्ली का जो तोमर राजा सन् ११३२ ई० में राज्य कर रहा था (विजयपाल तोमर) उससे जैन साधु प्रसन्न नहीं थे। श्रीधर ने इसी कारण, अपने काव्य में उसका नाम न लिखकर अनंगपाल का नाम लिख दिया। विजयपाल तोमर ने संभवतः नट्टुल के मामा "जेजा" को मथुरा में केशवदेव का मन्दिर बनाने के लिये विवश किया। हमारा अनुमान है कि पार्श्वनाथ चरित का "जेजा" उस जज्ज सार्थवाह से अभिन्न है जिसने केशवदेव का मन्दिर बनवाया था। किसी जैन व्यापारी को कृष्ण का मन्दिर बनाने के लिए विवश करना, श्रीधर की दृष्टि में, अक्षम्य था। दिल्ली के तोमरों की जैन-विरोधी परम्परा, इस प्रकार, विजयपाल तोमर के समय से प्रारंभ हुई और मदनपाल तोमर के समय तक चलती रही। इस अपराव का दण्ड भी इस राजवंश को पूरा-पूरा भुगतना पड़ा।[1]

---

१. परिच्छेद ६ तथा २६ देखें।

परिच्छेद ५

ललित-विग्रह-राज नाटक

चौहान विग्रहराज चतुर्थ की राजसभा में सोमदेव नामक महाकवि था। उसने ललित-विग्रहराज नाटक की रचना की थी। विग्रहराज को यह नाटक बहुत अच्छा लगा। उसने उसे प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण कराकर अजयमेरु के अपने सरस्वती-मन्दिर में जड़वा दिया। तुर्कों ने इस भवन को नष्ट-भ्रष्ट कर वहाँ मस्जिद बनवा दी जो 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' के नाम से अवशिष्ट है। चौहान विग्रहराज स्वयं कवि था। उसने भी हरकेलि नामक नाटक लिखकर इसी सरस्वती-मन्दिर में, वि० सं० १२१० में उत्कीर्ण कराया था। प्रो० कीलहॉर्न को इन दोनों नाटकों के कुछ अंश प्राप्त हुए थे जिन्‍ उन्होंने अपनी टिप्पणियों सहित प्रकाशित किया था।[1]

हरकेलि नाटक से तोमरों के इतिहास का सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ज्ञात यह होता है कि ललित-विग्रहराज नाटक न केवल विग्रहराज चतुर्थ का इतिहास अंकित करता है वरन् वह उसके समकालीन दिल्ली सम्राट् मदनपाल तोमर का इतिहास भी अपने अंकों में छिपाये है। यह नाटक पूरा प्राप्त नहीं हो सका है।

कथानक

इस नाटक के अनुसार विग्रहराज इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की राजकुमारी देसलदेवी से प्रेम करता है। देसलदेवी ने विग्रहराज को स्वप्न में देखा और उसने अपनी सखी शशिप्रभा को विग्रहराज के पास उसकी भावनाओं को परखने के लिये भेजा। शशिप्रभा ने विग्रहराज से राजकुमारी के उसके प्रति प्रेम का निवेदन किया और जब विग्रहराज ने भी देसलदेवी के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया तब शशिप्रभा प्रसन्न होकर लौटने लगी। राजा ने उसे लौटने न दिया और अपने महल में ही सत्कार के साथ रखा और राजकुमारी के पास अपनी दूती कल्याणवती को इस संदेश के साथ भेजा कि वह तुरुष्कों से युद्ध करने के लिए उस ओर आरहा है तथा इसी प्रसंग में उनका मिलन होगा। शशिप्रभा के ठहरने की समुचित व्यवस्था करने के पश्चात् राजा विग्रहराज मध्याह्न के कार्य के लिए चला गया। यहाँ नाटक का तीसरा अंक समाप्त हुआ है।

चौथा अंक तुरुष्कों की हलचल के वर्णन से प्रारम्भ होता है। दो तुरुष्क भेदिये वन्दी बनाकर लाये जाते है। वे चौहान राजा का वैभव और सैन्यबल देखकर चमत्कृत होते हैं। इधर चौहान राजा अपने भेजे हुए गुप्तचर के न लौटने से चिंतित है और तभी वह गुप्तचर आ जाता है तथा तुरुष्कों के राजा की सेना और उसकी सतर्कता का वर्णन

१. इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग २०, पृष्ठ २०१-१२।

करता है। गुप्तचर यह भी सूचना देता है कि तुरुष्कों की सेना वव्वेर नामक स्थान से तीन योजन दूर थी और अब एक योजन दूर रह गई है। श्री कीलहॉर्न ने वव्वेर को वघेरा से अभिन्न माना है जो अजमेर से दक्षिण में ४७ मील दूर है। परन्तु खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि के भूगोल को देखने से यह स्थान हाँसी के बहुत पास ज्ञात होता है।[1]

विग्रहराज यह समाचार सुनकर अपने मामा सिंहवल तथा मंत्री श्रीवर से परामर्श करता है। श्रीधर यह परामर्श देता है कि राजा को इस प्रबल शत्रु से विग्रह मोल नहीं लेना चाहिए। राजा विग्रहराज, नाटक के अनुसार, 'सुहृदों को अभयदान' देने आदि के उद्देश्य से तुरुष्कों से लड़ने का अभिमत प्रकट करते हैं। यह चर्चा चल रही थी कि इसी बीच हम्मीर अर्थात् तुरुष्क राजा का राजदूत आ जाता है। नाटक यहीं खंडित हो जाता है।

राजा के समर्थन से प्रतिष्ठित सरस्वती-मन्दिर में इस नाटक का उत्कीर्ण कराया जाना यह प्रकट करता है कि इस कृति में सोमदेव ने कुछ वास्तविक घटनाओं का वर्णन किया है। मालविकाग्निमित्र नाटक में शुंगों का जो इतिहास दिया गया है वह संभव है अधिक प्रामाणिक न हो, लेकिन ललित-विग्रह-राज नाटक में सोमदेव ने अपने आश्रयदाता के संबंध में जो घटनाएँ लिखी हैं वे निश्चय ही सत्य होंगी, और यदि उनमें कहीं असत्य होगा भी तो उन घटनाओं के विषय में होगा जो विग्रहराज की प्रतिष्ठा के अनुकूल न हों।

नाटक में उपलब्ध इतिहास-सामग्री

हमारा अनुमान है कि इस नाटक में दिल्ली के तोमरों के इतिहास का एक सूत्र समाविष्ट है। यह 'वसन्तपाल' वह मदनपाल तोमर है जो अपनी मुद्राओं के पीछे "माधव श्रीसमन्तदेव" श्रुतिवाक्य उत्कीर्ण कराता था और गुर्वावलि के अनुसार सन् ११५१ से ११६६ के बीच दिल्ली में विद्यमान था। इसकी राजधानी इन्द्रपुर अर्थात् इन्द्रप्रस्थ कही गयी है। देसलदेवी मदनपाल तोमर की राजकुमारी है।

इस मदनपाल तोमर पर, इस नाटक के अनुसार, किसी हम्मीर अर्थात् तुर्कों के अमीर ने आक्रमण किया। विग्रहराज चतुर्थ मदनपाल की सहायता के लिए उद्यत हुए। दूरदर्शी मंत्री ने उन्हें दूसरे के संकट को अपने सिर न लेने की मंत्रणा दी। राजा ने उसे माना या नहीं, नाटक इस विषय में मौन है। परन्तु इसी बीच में हम्मीर का राजदूत आ जाता है, संभवतः यह कहने के लिए कि चौहान राजा की कुशल इसमें है कि वे इस विग्रह में न पड़ें। इस शिलालेख के सम्पादक कीलहॉर्न महोदय का मत है कि हम्मीर और विग्रहराज के बीच युद्ध नहीं हुआ था।

अधूरे नाटक का प्रारंभ और अन्त किस प्रकार हुआ होगा यह कल्पना बहुत संयत रूप में ही की जा सकती है। यदि इस नाटक में फलागम न होना होता, अर्थात् विग्रहराज

---

१. श्री जिनदत्त सूरि वव्वेरक पहुँचे, वहाँ से आसिका (हाँसी) गये और आसिका से इन्द्रपुर (इन्द्रप्रस्थ)। पृ० २०। श्री जिनपति सूरि वव्वेरक में विहार कर रहे थे तब आसिका का राजा भीमसिंह उन्हें लेने आया और आसिका ले गया। पृ० २५।

और देसलदेवी का विवाह न हुआ होता, तब यह नाटक लिखा ही नहीं जाता। यह निश्चय पूर्वक माना जा सकता है कि यह विवाह हुआ था।

यदि मिलन और विवाह हुआ था तब कल्याणवती के हाथ भेजे हुए संदेश के अनुसार विग्रहराज हांसी और दिल्ली भी गये होंगे। तुरुष्क या तो चौहानों और तोमरों के संयुक्त सैन्य के भय से भाग गये होंगे या पराजित कर दिये गये होंगे। संभावना यही अधिक है कि मदनपाल और विग्रहराज की सेनाओं ने तुर्कों को पराजित किया था क्योंकि प्रबन्ध-कोश के अनुसार विग्रहराज "तुरुष्कजित्" था।[1]

नाटक यदि अत्यन्त रूढ़िपालक विधा के अनुसार लिखा गया होगा, तब विवाह में कुछ न कुछ बाधाएँ भी दिखायी गयी होंगी। यह उल्लेख्य है कि अर्णोराज की एक राजकुमारी जल्हणा का विवाह कुमारपाल चौलुक्य के साथ हुआ था। यह जल्हणा विग्रहराज की माता सुधवा की ही पुत्री होना चाहिए क्योंकि कुमारपाल लगभग सगी बहन कांचनदेवी की पुत्री से, संभवतः, विवाह न करता। विवाह का जो विवरण प्राप्त होता है वह पर्याप्त अपमानजनक है। महारानी सुधवा को पुरोहित के साथ राजकुमारी जल्हणा को अनहिलपाटन ले जाना पड़ा था। कुमारपाल का प्रपिता नर्तकी की संतान था। संभव है इस कारण मदनपाल ने विग्रहराज को अपनी राजकुमारी विवाह में देने में कोई आनाकानी की हो।

इस बाधा को हटाने का एक ही उपाय हो सकता है, तुरुष्कों से युद्ध का दिखाया जाना या प्राचीन नाट्य-विधा के अनुसार उसकी सूचना दी जाना। उस युद्ध में विग्रहराज के पराक्रम को देखकर मदनपाल अत्यन्त प्रभावित हुआ होगा और कुलदम्भ की बात जहाँ की तहाँ रह गयी होगी तथा उस युद्ध के पश्चात् उसने अपनी राजकुमारी का विवाह विग्रहराज के साथ कर दिया होगा।

अलकार महोदधि

विग्रहराज के "जगदसम्भव" युद्ध को देखकर मदनपाल अपना मद छोड़ अपनी राजकुमारी का विवाह उससे करने के लिए सहमत हो गया था, इसकी पुष्टि सोमप्रभ सूरि के वि० सं० १२८२ (सन् १२२७ ई०) में लिखे गये ग्रन्थ 'अलंकार महोदधि' से भी होती है। श्री डॉ० दशरथ शर्मा ने इसे इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध की प्रस्तावना में उद्धृत किया है और उसका अर्थ भी दिया है। वह श्लोक और उसका डॉ० शर्मा का भाष्य निम्न प्रकार है :—

तस्मिन्नुदग्ररिपुवर्गजये निसर्गवैयग्रवानजनि विग्रहराजदेव :
यद्विग्रहं जगदसम्भविनं विभाव्य वैरिव्रजोऽपि मदनोऽपि मदं मुमोच।

"इसकी अंतिम पंक्तियाँ श्लेषयुक्त हैं। विग्रहराज, वीसलदेव का दूसरा नाम है। तीसरी पंक्ति में विग्रह का अर्थ 'शरीर' और 'युद्ध' दोनों हो सकते हैं। मदन का अर्थ कामदेव स्पष्ट है। किन्तु यह भी संभव है कि कवि का इंगित मदन या मदनपाल की तर्फ हो, जिसने विग्रहराज के जगदसम्भव युद्ध को देख कर मद का त्याग कर दिया।"

१. प्रबन्ध-कोश, पृ० १३३।

यह संकेत, हम समझते हैं, स्यात् यह है कि प्रारंभ में मदनपाल अपनी राजकुमारी का विवाह विग्रहराज के साथ करने के लिए उद्यत नहीं था अथवा टालटूल कर रहा था, जब उसने हाँसी पर विग्रहराज के 'जगदसम्भवयुद्ध' को देखा तब उसने अपना मद (कुलदम्भ) त्याग दिया और श्रीविग्रहराजदेव को सादर दिल्ली ले जाकर उसके साथ अपनी राजकुमारी देसलदेवी का विवाह करा दिया।

पृथ्वीराज-विजय-काव्य

नागार्जुन और राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) के बीच हुए युद्ध का वर्णन 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में दिया गया है। उसका विस्तृत विवेचन आगे मदनपाल तोमर के इतिहास के संदर्भ में किया गया है। यहाँ इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि नागार्जुन को 'मातुलगृह' में रहने वाला बतलाया गया है और "विग्रहवल्लभा" का भी अत्यन्त अनादरपूर्ण शब्दों में स्मरण किया गया है। परन्तु यह 'मातुल' कौन है, इसका उल्लेख पृथ्वीराज-विजय-काव्य में नहीं मिलता। वह मातुल दिल्ली का राजा है, इसके प्रमाण उपलब्ध हैं।

वि० सं० १६८३ की राजावली

वि० सं० १६८३ की "ढीली स्थान की राजवली" श्री अगरचन्द नाहटा ने सन् १९५३ में प्रकाशित की थी।[1] सन् १९६३ ई० में वही वंशावली इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध के परिशिष्ट २ के रूप में प्रकाशित हुई है।[2] दुर्भाग्य से दोनों में ही कुछ न कुछ छापे की भूलें है। सन् १९५३ के पाठ में उसे वि० सं० १५८३ की वंशावलि कहा गया है, जब वह वि० सं० १६८३ की है, परन्तु उसका पाठ शुद्ध रूप में मुद्रित हुआ है। इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध में पाठ भ्रष्ट हो गया है। वह वंशावली तोमरों से प्रारंभ हुई है और बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें संवत १२१९ (११६२ ई०) में चौहानों द्वारा दिल्ली लेने का उल्लेख है और फिर वीसलराज से प्रारंभ कर पृथ्वीराज तक आठ चौहान राजाओं को दिल्ली का राजा बतलाया गया है। यह 'इतिहास' जुड़ा है कर्पूरदेवी-कैमास-प्रचार के कारण तथापि इस वंशावली के निर्माता को चौहान और तोमरों के इतिहास की अनेक महत्व-पूर्ण घटनाओं का ज्ञान था।

ललित-विग्रह-राज नाटक के प्रसंग में उसका केवल एक कथन उल्लेखनीय है।

"संवत् १२४९ वर्षे चैत्र वदी २ तेजपाल ढीली लई। पृथ्वीराज कौ सवकुंवर वीसलपाल कौ पुत्र दिवाकर बांध लियौ।"

इस दिवाकर को दो प्रकार से पहचाना जा सकता है। वह वीसलपाल का पुत्र है, और पृथ्वीराज का सह-कुंवर है। वीसलदेव के दो पुत्र थे, अपरगांगेय तथा नागार्जुन। अपरगांगेय मारा जा चुका, अतएव यह दिवाकर नागार्जुन से अभिन्न है।

नागार्जुन (दिवाकर) राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) से पराजित हो जाने के

---

१. राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० २५-२६।

२. इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध, पृ० ३४-३६।

पश्चात् दिल्ली में ही रहता था। जब संवत् १२४९ (सन् ११९२ ई०) में अन्तिम तोमर राजा चाहड़पाल ताराइन के युद्ध में मारा गया तब चौहान दिवाकर (नागार्जुन) को दिल्ली का राजा बनने की सूझी। उसे चाहड़पाल के पुत्र तेजपाल ने पराजित कर बन्दीगृह में डाल दिया।

ललित-विग्रह-राज नाटक से प्राप्त निष्कर्ष

ललित-विग्रह-राज नाटक को अलंकार महोदधि, पृथ्वीराज-विजय-काव्य तथा वि० सं० १६८३ की राजावलि के साथ देखने से इस तथ्य को सिद्ध मानकर चला जा सकता है कि मदनपाल तोमर की राजकुमारी से विग्रहराज चतुर्थ का विवाह हुआ था।

इस विवाह के वर्ष का भी अनुमान किया जा सकता है। विग्रहराज के केवल दो पुत्र हुए थे, अपरगांगेय और नागार्जुन। जब विग्रहराज की सन् ११६४-५ ई० में मृत्यु हुई तब अपरगांगेय १०-१२ वर्ष से अधिक वय का नहीं था। यह विवाह सन् ११५१-५२ के आस-पास होना चाहिए।

विग्रहराज चतुर्थ के अशोक स्तम्भ के शिलालेखों का आशय भी इससे स्पष्ट हो जाता है। वह म्लेच्छों के विनाश के प्रसंग में तथा उसके पश्चात् 'तीर्थ-यात्रा' के प्रसंग में शिवालिक तक गया था। उस क्षेत्र में वह तोमरों के युद्ध में विजेता के रूप में नहीं गया था, स्नेह के विजेता के रूप में गया था।

अशोक स्तम्भ के इस शिलालेख पर जो "समुद्र-मंथन के पश्चात् प्राप्त लक्ष्मी के अंक में ही शयन" करने का उल्लेख है, उसका 'क्षीर सागर' संभव है कुरुक्षेत्र ही रहा हो, परन्तु वह था मात्र 'जमाई राजा' का निवास।[1]

---

१. आगे परिच्छेद ७ भी देखें।

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि

श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय के खरतरगच्छ का एक प्रसिद्ध मठ चित्रकूट (चित्तौर) में था। उस मठ के पट्टाधीश सूरि जैनानुशासन के प्रचार के लिए प्रसिद्ध हैं। सन् १०५० के आस-पास से इस पट्ट के सूरियों के वृत्तान्त खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि[1] में प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि इस गुर्वावलि में वि० सं० १३९३ (सन् १३३६ ई०) तक के जैनाचार्यों के वृत्तान्त दिये गये हैं, परन्तु दिल्ली के तोमरों के इतिहास के सन्दर्भ में श्री जिनदत्त सूरि और उनके शिष्य श्री जिनचन्द्र सूरि के वृत्तान्त ही महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों आचार्यों का वृत्तान्त श्री जिनचन्द्र सूरि के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने लिखा है। जिनपाल ने श्री जिनदत्त सूरि का विवरण तो किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर लिखा है, तथापि जिनचन्द्र सूरि का वृत्तान्त उसने स्वयं अपनी जानकारी से लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिनपाल उपाध्याय जिनचन्द्र सूरि की धर्म-यात्राओं में उनके साथ रहा और प्रतिवर्ष की घटनाओं को अंकित करता रहा। यह ग्रन्थ उसने वि० सं० १३०५ (सन् १२४८ ई०) में दिल्ली में ही वहाँ के सेठ साहुली के पुत्र हेमचन्द्र के उपाश्रय में लिखा था। सेठ साहुली निश्चय ही सन् ११९२ ई० की घटनाओं के साक्षी होंगे। यह भी संभव है कि सेठ हेमचन्द्र भी उस समय विद्यमान हों। इस रचना के कथन अत्यन्त प्रामाणिक माने जा सकते हैं।

गुर्वावलि में जिनपाल ने मुख्यतः धर्मयात्राओं के ही वृत्तान्त लिखे हैं, तथापि उसमें प्रसंगवश राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख आगया है।

जिनदत्त सूरि और जिनचन्द्र सूरि का दिल्ली-आगमन

श्री जिनचन्द्र सूरि वि० सं० १२२३ (सन् ११६६ ई०) में मदनपाल तोमर के आग्रह पर दिल्ली पधारे थे, इसका उल्लेख जिनपाल उपाध्याय ने किया है। उस वर्ष का चातुर्मास भी सूरिजी ने दिल्ली में ही बिताया था और वि०सं० १२२३ की द्वितीय भाद्रपद वदी १४ को उनका वहीं स्वर्गवास हो गया। सूरिजी की इस यात्रा की समस्त गतिविधियों का वर्णन जिनपाल उपाध्याय ने किया है। इस वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि श्री जिनचन्द्र सूरि के गुरु श्री जिनदत्त सूरि भी दिल्ली में आए थे और मदनपाल तोमर से मिले थे। परन्तु श्री जिनदत्त सूरि के वृत्तान्त में जिनपाल ने उनकी दिल्ली-यात्रा का विवरण नहीं दिया है। तथापि श्री जिनदत्त सूरि भी दिल्ली आए थे और वे मदनपाल से मिले थे, इसमें किसी सन्देह के लिए स्थान नहीं है, यह आगे के वर्णन से स्पष्ट होगा।

---

१. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, (सिंघी-जैन-ग्रंथमाला)।

श्री जिनदत्त सूरि कब दिल्ली आए होंगे, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। सन् ११५१ ई० में मदनपाल राजा हुआ था। सन् ११५४ ई० में जिनदत्त सूरि निर्वाण प्राप्त कर गये थे, ऐसी दशा में वे सन् ११५१ से ११५४ ई० के बीच कभी दिल्ली आए होंगे।

सन् ११६६ ई० की श्री जिनचन्द्र सूरि की दिल्ली-यात्रा अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

जिनचन्द्र सूरि की दिल्ली-यात्रा

सूरिजी अपने सार्थ के साथ चौरसिदानक नामक ग्राम के समीप रुके। सूरिजी को अपने सार्थ के लोग अत्यन्त भयभीत दिखाई दिए। कारण पूछने पर लोगों ने बतलाया "प्रभु, म्लेच्छ-कटक आ रहा है, वह देखिए आकाश में धूलि छा गयी है और कोलाहल हो रहा है।" श्री पूज्य (सूरिजी) ने कहा "हे सार्थ के सदस्यो! आश्वस्त रहो, अपना समस्त सामान, पशु आदि एकत्रित करलो. प्रभु श्रीजिनदत्त सूरि की यही अभिलाषा थी।"

इसके पश्चात् श्रीपूज्य (जिनचन्द्र सूरि) ने मंत्रध्यान कर अपने डण्डे से समस्त संघ के चारों ओर रेखा खींच दी। उसके भीतर समस्त सार्थ (संघ) के लोग आ गये। संघ के सदस्यों को पास से ही निकलने वाले हजारों म्लेच्छ अश्वारोही दिखाई दिये, परन्तु उन म्लेच्छों को संघ दिखाई न दिया, उसके स्थान पर उन्हें परकोटा खिंचा दिखाई दिया और वे दूर निकल गये।

पास के ग्राम में ही श्रीपूज्य आगये हैं यह सुनकर दिल्ली निवासी ठक्कुर लोहट, साहु पाल्हण, साहु कुलचन्द्र, साहु गृहिचन्द्र आदि (दिल्ली) संघ के मुख्य श्रावक श्री जिनचन्द्र सूरि के दर्शनार्थ निकल पड़े। अपने प्रासाद पर खड़े हुए श्री मदनपाल राजा ने देखा कि अच्छे-अच्छे वस्त्र पहने हुए, प्रधान परिवारों के लोग अपने प्रधान वाहनों पर सवार होकर दिल्ली नगर से बाहर जा रहे हैं। राजा ने विस्मित होकर अपने राजप्रधान लोगों से पूछा "यह क्या कारण है कि नगर-निवासी सभी बाहर जा रहे है?" राजप्रधान ने कहा—"हे देव, अतीव रमणीय रूप वाले, अनेक शक्तियुक्त गुरुवर पधारे हैं, उनके सम्मुख ये लोग भक्तिभाव से जा रहे हैं।"

कौतुहल के वशीभूत होकर राजा ने कहा "हे महासाधनिक, मेरे प्रधान अश्व को लगाम लगाकर लाओ और ढोलची से कहो कि वह ढोल बजाकर यह घोषणा करे कि समस्त राज्याधिकारी शीघ्र आजाएँ।"

यह आदेश देकर हजारों अश्वारोहियों से अलंकृत श्री मदनपाल राजा श्रावक लोगों से भी पहले श्री पूज्य के पास जा पहुँचा। राजा ने सार्थ के सदस्यों को अनेक दान और भेंटें देकर सम्मानित किया, श्री पूज्य ने कर्ण-सुखकारी वाणी मे धर्मदेशना की। राजा ने कहा—"आचार्य, किस स्थान से पधार रहे है?" श्री पूज्य ने कहा, "रुद्रपल्ली से।" राजा ने कहा, "आचार्य, कृपया उठें और मेरे नगर को पवित्र करें।"

परन्तु प्रभुश्री जिनदत्त सूरि द्वारा दिये गये उपदेश का स्मरण कर श्रीपूज्य (जिनचन्द्र सूरि) ने कोई उत्तर नहीं दिया।

राजा ने फिर कहा, "आचार्य, आप बोलते क्यों नहीं, क्या मेरे नगर में आपका कोई प्रतिपन्थी रहता है ? क्या ऐसा है कि आपके परिवार के योग्य अन्नपानादि उपलब्ध नहीं किया जा सकेगा अथवा कोई अन्य ऐसा कारण है जिससे आप मेरे नगर के पास आकर भी अन्य दिशा की ओर जा रहे हैं ?"

श्रीपूज्य ने कहा "महाराज, आपका नगर प्रधान धर्मक्षेत्र है। तदुत्तिष्ठत चलत ढिल्लीं प्रति, न कोऽपि युष्मानङ्गुलिकयाऽपि संज्ञास्तीत्यादि।" 'श्री मदनपाल महाराज का उपरोध (अवरोध) है कि तुम योगिनीपुर में कदापि विहार न करना' आदि जो श्रीजिनदत्त सूरि का उपदेश था उसे त्याग कर, तथापि द्विविधा पूर्वक, श्रीपूज्य (जिनचन्द्र) दिल्ली की ओर चले।

जिनपाल उपाध्याय ने आगे श्री जिनचन्द्र सूरि की दिल्ली-प्रवेश की शोभा-यात्रा क वर्णन किया है। चौवीस प्रकार के वाद्य वजने लगे, भाट लोगों ने विरुदावलियाँ पढ़ना प्रारम्भ कीं, वसंत आदि मंगलराग गाये जाने लगे, नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं, राजा ने सूरिजी को हाथ का सहारा दिया, आदि। इस प्रकार सूरिजी का दिल्ली-प्रवेश हुआ।

दिल्ली में सूरिजी ने देखा कि कुलचन्द्र नामक श्रावक अत्यन्त दुर्वल दिखाई दे रहा है। सूरिजी करुणार्द्र हो गये। सूरिजी ने कुंकुम, कस्तूरी, गोरोचन आदि सुरभि-द्रव्यों से यन्त्र-पट पर मंत्राक्षर लिखकर कुलचन्द्र को दे दिया और प्रतिदिन उसका पूजन करने का निर्देश दिया। इस प्रकार पूजन करने से कुलचन्द्र 'कोटीध्वज' हो गया।

इस बीच महानवमी का दिन आ गया। सूरिजी ने देखा कि मिथ्यादृष्टि वाले दो देवता माँस के लिये लड़ रहे हैं। सूरिजी ने करुणार्द्र होकर अविगालि नामक देवता को प्रतिवोधित किया। उसने शान्तचित्त से सूरिजी से कहा—"भगवन्, मैंने मांसवलि त्याग दी है, आप कृपाकर मेरे रहने के लिए कोई स्थान वतला दें, जहाँ रह कर मैं आपके आदेशों का प्रतिपालन करता रहूँ।" सूरिजी ने उससे कहा "हे महानुभाव, श्रीपार्श्वनाथ के चैत्य में प्रवेश करते समय जो दाहिनी ओर का स्तम्भ है, मैं तुम्हें उसमें स्थापित करता हूँ।" ऐसा कहकर सूरिजी ने पौषधशाला में आए हुए साहु लोहट, साहु कुलचन्द्र, साहु पाल्हण आदि को सम्वोधित करते हुए कहा—"श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर में प्रवेश करते समय दाहिनी ओर पड़ने वाले स्तम्भ पर अधिष्ठापक मूर्ति उत्कीर्ण करादें।" इस आदेश का श्रद्धा-सहित पालन किया गया। सूरिजी ने महाविस्तार के साथ प्रतिष्ठा-विधि सम्पन्न की। उस अधिष्ठापक का नाम 'अतिवल' रखा गया। श्रावकों ने उसे महान भोग लगाना प्रारम्भ किया। 'अतिवल' ने भी श्रावकों की इच्छाओं की पूर्ति करना प्रारम्भ किया।

द्वितीय भाद्रपद वदी १४, संवत् १२२३ को श्री जिनचन्द्र सूरि का स्वगवास हो गया। मरने से पूर्व सूरिजी ने कहा था कि मेरा अन्तिम संस्कार जितनी दूर पर किया जाएगा वहाँ तक नगर की वस्ती फैल जाएगी। अतएव श्रावकों ने अनेक मण्डपिका-

मण्डित विमान में उनका शव रख कर बहुत दूर ले जाकर उनका अन्तिम संस्कार किया। गुड़गांव रोड पर वर्तमान लड्डा सराय के पास जो दादावाडी है वही श्री जिनचन्द्र सूरि का दाह-संस्कार का स्थल है।

गुर्वावलि से प्राप्त इतिहास—

जिनपाल उपाध्याय ने श्री जिनदत्त सूरि तथा श्री जिनचन्द्र सूरि का जो वृत्तान्त दिया है उसमें प्राप्त राजनीतिक इतिहास के तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

जिनचन्द्र सूरि के गुरु जिनदत्त सूरि का देहावसान सन् ११५४ ई० में हुआ था, यह गुर्वावलि से सिद्ध है। जिनदत्त सूरि कभी दिल्ली आए थे और उन्हें मदनपाल ने फिर कभी दिल्ली न आने का आदेश दिया था, यह भी स्पष्ट है।

अतएव कभी सन् ११५१ और ११५४ के बीच श्री जिनदत्त सूरि दिल्ली आये थे और मदनपाल तोमर से उनकी भेंट हुई थी। वह भेंट अत्यन्त कटु रही और मदनपाल राजा ने 'उपरोध' किया कि वे कभी पुनः दिल्ली न पधारें। यह झगड़ा किस बात पर हुआ इसका उल्लेख जिनपाल ने नहीं किया है। इस घटनाक्रम से मदनपाल सन् ११५४ के पूर्व से दिल्ली का राजा था और सन् ११६६ ई० तक रहा, इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं रहता।

श्री जिनचन्द्र सूरि का दिल्ली आगमन भी अद्भुत वातावरण में हुआ था। उनके आगमन के साथ ही हजारों म्लेच्छ सैनिक भी दिल्ली के चारों ओर मँडरा रहे थे। सूरिजी को इसकी जानकारी थी और म्लेच्छ-कटक के सेनापति का सूरिजी से परिचय भी ज्ञात होता है। म्लेच्छ-कटक के इस आगमन में भी सूरिजी को "प्रभुश्री जिनदत्त सूरि की अभिलाषा" ज्ञात हुई। मंत्र के बल से म्लेच्छ-कटक की दृष्टि को अवरुद्ध कर दिया गया होगा, और उसे सूरिजी के साथ का इतना बड़ा सार्थ-समूह न दिखा होगा, इस बात पर उस युग में भले ही विश्वास कर लिया गया हो, आज उस पर विश्वास करना असम्भव है। बुद्धि-संगत अनुमान यह है कि यह म्लेच्छ-कटक साभिप्राय दिल्ली लाया गया था।

म्लेच्छ-कटक के आगमन के साथ सूरिजी ने अपने गुरु की 'अभिलाषा' का उल्लेख क्यों किया, यह भी विचार करने की बात है। गुरु प्रभुश्री जिनदत्त सूरि 'तुरुष्क-भूमि' में धर्म-यात्रा करने जाते थे, ऐसा गुर्वावलि से ही प्रगट होता है।[1] इस 'तुरुष्क-भूमि' से आशय गजनी, मुल्तान, मन्सूरा या लाहौर से है, यह स्पष्ट नहीं है।[2] सिन्ध का मन्सूरा

---

१. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, पृ० १७।

२. संदेशरासक में जिसे 'म्लेच्छ देश' कहा गया है, संभव है वही यह तुरुष्क भूमि हो। "पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि" संदेशरासक, (भारतीय विद्या-भवन), पाठ भाग, पृ० २।

यह नहीं था संभवतः मुल्तान ही था।[1]

ज्ञात यह होता है कि मदनपाल ने निश्चय ही कोई घोर अपराध किया होगा जिसके कारण श्री जिनदत्त सूरि और श्री जिनचन्द्र सूरि उसका अस्तित्व समाप्त करने के लिए म्लेच्छों को दिल्ली पर आक्रमण करने के हेतु प्रेरित करते रहे। मदनपाल का अपराध निश्चय ही उज्जयिनी के गर्दभिल्ल जैसा नहीं था, उसके अपराध का स्वरूप उसके द्वारा किये गये प्रायश्चित्त से स्पष्ट हो जाता है।

श्री जिनचन्द्र सूरि ने दिल्ली-प्रवास के समय दो कार्य किये। एक तो श्रावक कुलचन्द्र को 'कोटीध्वज' बना दिया, दूसरे योगिनीपुर में पशुबलि को समाप्त करा दिया। जिस देवता को पशुबलि दी जाती थी उसकी मूर्ति की स्थापना पार्श्वनाथ के मंदिर के स्तम्भ पर ही करा दी गयी और श्रावकों ने उसकी पूजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार शाक्तों और जैनों में सामंजस्य स्थापित हो गया।

इन घटनाओं से यह ज्ञात होता है कि जब सन् ११५१ ई० के आस-पास श्री जिनदत्त सूरि दिल्ली आए तब उन्होंने मदनपालको यह उपदेश दिया था कि वह योगिनीपुर के भैरव और काली के मन्दिरों में पशुबलि बन्द करा दे[2] और जैन व्यापारियों को व्यापार की अधिक सुविधा दे। मदनपाल ने इस उपदेश का तिरस्कार किया और सूरि-जी को भी कभी दिल्ली में प्रवेश न करने का आदेश दे दिया।

तब क्या साम्प्रदायिक प्रचार के लिए भी तुरुष्कों की सहायता अपेक्षित थी? मदनपाल को इस म्लेच्छ-कटक के आने की जानकारी थी, ऐसा उसके व्यवहार से ही ज्ञात होता है। उसने बहुत सार्थक प्रश्न पूछा था "आचार्य किस स्थान से पधार रहे हैं?" उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त था "रुद्रपल्ली से"। सूरिजी ने यह सूचना देने की कृपा नहीं की "वत्स कहाँ घूम रहे हो, युद्ध की तैयारी करो, तुम्हारे आस-पास म्लेच्छ-कटक मँडरा रहा है।"

कुछ राजनीतिक परिस्थियाँ ऐसी अवश्य होंगी जिनके कारण मदनपाल को अपना व्यवहार बदलना पड़ा। सन् ११५१-११५४ ई० के आसपास वह अपने आपको इतना

---

१. यह तुरुष्क-भूमि मुल्तान ही थी, इसका समर्थन नाहटाबन्धु (श्री अगरचन्द तथा श्री भंवरलाल नाहटा) के ग्रन्थ "ऐतिहातिक जैन-काव्य-संग्रह" से भी होता है। श्री नाहटा ने श्री जिनदत्त सूरि के कार्यकलाप गिनाते हुए लिखा है—

(१) मुल्तान में पाँच नदी के पाँचों पीर आपके सेवक बने। माणिभद्र यक्ष एवं बावन वीर भी आपकी सेवा में हाजिर रहा करते थे।

(२) मुल्तान में प्रवेशोत्सव समय (भीड में कुचल कर) मूगल पुत्र मर गया था, उसे आपने पुनः जीवित कर सबको आश्चर्य में डाल दिया।

(३) चौंसठ योगनियों के स्त्री रूप धारण कर व्याख्यान में छलने को आने पर उन्हें मन्त्रित पाटों पर बैठा कर, कीलित कर दिया। (पृ० ७)

२. श्री जिनदत्त सूरि उज्जयिनी में "चौंसठ योगिनियों के चक्र को प्रतिबोधित कर सके थे।" श्री नाहटाबन्धु : ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह, पृ० ५।

शक्तिशाली अनुभव करता था कि उसने श्री जिनदत्त सूरि के आग्रह की अवहेलना की और सन् ११६६ ई० में वह इतना विवश हो गया कि उसे जैन-संघ के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा।

कुमारपालदेव-चरित

सन् ११५४ ई० के पूर्व मदनपाल की जैन सम्प्रदाय के प्रचारकों से अनबन थी, ऐसा खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि से प्रकट होता हैं। उस समय विग्रहराज चतुर्थ के जैन सम्प्रदाय से किस प्रकार के सम्बन्ध थे, इस विषय में कोई समकालीन प्रमाण हमारे देखने में नहीं आया। परन्तु वि० सं० १४२२ (सन् १३६५ ई०) में लिखे सोमतिलक सूरि के 'कुमारपालदेव-चरित' द्वारा इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार कुमारपाल चौलुक्य के दूतों ने उसे यह सूचना दी कि सपादलक्ष के वीसल भूपति का मंडलेश्वर नागौर नगर (नागपुर) में जैन-चैत्यों की भूमि को छीन रहा है और जैन-विरोध कर रहा है। दण्ड देने के लिए स्वयं कुमारपाल नागौर गये। वीसलदेव का नागौर का मण्डलेश्वर (सामन्त) पराजित हो रहा था, परन्तु इसी बीच वीसलदेव ने चित्तौर के चौलुक्यों के सामन्त 'सज्जन' को पराजित कर दिया। प्राचीन विवाह सम्बन्धों को देखते हुए, कुमारपाल ने विग्रहराज से सन्धि करली।[1] इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि विग्रहराज चतुर्थ, मदनपाल के समान ही, जैनानुशासन के प्रति उदार नहीं था। सन् ११५४ में, इस विषय में जो स्थिति मदनपाल की थी वही विग्रहराज चतुर्थ की थी। सन् ११६६ ई० में जब श्री जिनदत्त सूरि के शिष्य श्री जिनचन्द्र सूरि दिल्ली आए, तब विग्रहराज का देहान्त हो चुका था, कुमारपाल क्षात्र-धर्म त्यागकर प्रकट रूप में जैन हो गया था तथा तुरुष्क दिल्ली का चक्कर काटने लगे थे; मदनपाल ने विवश होकर श्री जिनचन्द्र सूरि का उपदेश मान लिया और दुर्गा के मन्दिर में पशुवलि बन्द करा दी, और जैन व्यापारियों को, सम्भवतः अपनी प्रजा के अबाध आर्थिक शोषण द्वारा, कोटाधीश बनने का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

हाँसी का भीमसिंह

गुर्वावलि का एक और उल्लेख इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। वि० सं० १२२८ (सन् ११७१ ई०) में जिनदत्त सूरि के उत्तराधिकारी श्री जिनपति सूरि आसिका (हाँसी) पधारे थे। जिनपति सूरि की वय इस समय १८ वर्ष की थी, उनका जन्म वि० सं० १२१० में हुआ था।[2]

श्री जिनपति सूरि अपने सार्थ सहित हाँसी के निकट वब्बेरक नामक स्थान पर पहुँचे। हाँसी के पास सूरि जी आ गये हैं, यह समाचार सुनकर हाँसी का राजा भीमसिंह उन्हें लेने गया। हाँसी-प्रवेश का वर्णन करते हुए जिनपाल उपाध्याय ने लिखा है "पूर्वोक्त ढिल्ली प्रवेशक रीत्या श्री आसिकायां श्री पूज्या प्रविष्टाः।"

---

१. कुमारपाल-चरित-संग्रह (सिंघी-जैन-ग्रन्थमाला), पृ० २९-३०।
२. खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, पृ० २३।

राजा भीमसिंह को यह समाचार सुनाया गया कि छोटी वय के होते हुए भी सूरिजी ने विरोधी दिगम्बराचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया। राजा ने समाचार देने वाले से प्रश्न किया "सत्यम् ?" समाचार देने वाले राजप्रधान ने उत्तर दिया—"देव ! सत्यं, नास्त्यत्र हास्यम् ।" राजा ने पूछा, यह कैसे हुआ ? उत्तर मिला—"देव ! प्रतोली प्रदेशे सर्वलोकसमक्षं तैरित्यमित्थं दिगम्बरो जितः ।"

राजा बहुत प्रभावित हुआ। परन्तु भीमसिंह ने आश्चर्य व्यक्त करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया।

सूरिजी पुनः वि० सं० १२३२ (सन् ११७५ ई०) में हाँसी पहुँचे। इन चार वर्षों में हाँसी के जैन-श्रावकों ने पार्श्वनाथ मन्दिर बनवा लिया था। सूरिजी ने उस मन्दिर की प्रतिष्ठा की। जिनपाल उपाध्याय ने इस समारोह का वर्णन अत्यन्त अलंकृत भाषा में किया है, तथापि उस समारोह में भीमसिंह उपस्थित नहीं हुआ।

भीमसिंह इतने बड़े समारोह में नहीं आया ? उसे बुलाया नहीं गया या वह स्वयं नहीं गया ? इन प्रश्नों पर विचार करना बहुत आवश्यक नहीं है। सन् ११७५ ई० में, जब यह समारोह हुआ था, सन् ११६६ ई० की अपेक्षा, स्थिति बदल चुकी थी। चौलुक्य कुमारपाल की सन् ११७१-७२ ई० में मृत्यु हो चुकी थी, जैन सम्प्रदाय को जो प्रोत्साहन अनहिलपाटन में प्राप्त हो रहा था वह समाप्त हो गया था, शाकंभरी का राज्य गृहकलह में लिप्त था, दिल्ली के तोमर भी, मदनपाल की मृत्यु के पश्चात्, विग्रहों मे उलझे हुए थे। लगभग सभी गढ़पति और सामन्त अपने आपको 'राजा' समझने लगे थे। साम्प्रदायिक क्षेत्र में उन्हें भयभीत होने का अब कारण नहीं रह गया था। जिन्हें ब्राह्मण शाक्त-वैष्णव साम्प्रदायों पर आस्था थी, उसे वे प्रकट कर सकते थे। संभव है, भीमसिंह इसी कारण इस समारोह में उपस्थित नहीं हुआ हो।

यह साम्प्रदायिक इतिहास बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या हाँसी का भीमसिंह अजमेर के चौहानों का सामन्त था ? यदि वास्तव में विग्रहराज चतुर्थ सन् ११५१ ई० में दिल्ली-हाँसी जीत चुके थे, तब भीमसिंह स्वतंत्र राजा नहीं हो सकता। गुर्वावलि के वर्णन से यह किसी भी रूप में प्रकट नहीं होता कि भीमसिंह 'राजा' न होकर मात्र सामन्त था। संभवतः वह दिल्ली का भी सामन्त नहीं था। दिल्ली के तोमरों को वह उस क्षेत्र की सार्वभौम सत्ता भले ही मानता हो, परन्तु उसका सम्बन्ध दिल्ली से भी नाममात्र का ही था।

विश्रृंखल उत्तर-पश्चिम भारत

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि के उल्लेखों को अन्य प्राप्त ऐतिह्य सामग्री के साथ देखने पर मदनपाल तोमर की मृत्यु के पश्चात् के उत्तर-पश्चिम भारत की अत्यन्त शोचनीय स्थिति सामने आती है।

विग्रहराज चतुर्थ और मदनपाल तोमर के समय, सन् ११५१ से ११६६ के बीच, स्थिति यह थी कि उत्तर-पश्चिम भारत में दो शक्तियाँ प्रबल थीं। गुजरात में कुमारपाल और उसके उत्तर में मदनपाल। शाकंभरी का विग्रहराज कुमारपाल का साथ नहीं दे

सकता था, वह मदनपाल के साथ था। उसका प्रमुख कारण राजनीतिक भी था और साम्प्रदायिक भी। कुमारपाल अपने आपको शाकंभरी विजेता भी मानता था और अपने राजधर्म, अर्थात् जैन सम्प्रदाय के सिद्धान्त भी शाकंभरी में बलपूर्वक मनवाना चाहता था। विग्रहराज, स्वभाव से, जैन सम्प्रदाय का विरोधी ज्ञात नहीं होता, तथापि किसी सम्प्रदाय को विवशता के कारण अपने विश्वासों की अच्छी या बुरी मान्यताओं की तुलना में बढ़ावा देना किसी को प्रिय नहीं ज्ञात हो सकता। कुमारपाल के इन दोनों प्रयासों से त्राण पाने के लिए ही विग्रहराज ने मदनपाल की राजकुमारी से विवाह किया होगा।

ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि नागौर और चित्तौर के युद्धों के अतिरिक्त फिर कभी कुमारपाल ने विग्रहराज से कोई संघर्ष मोल लिया हो।[1] इसके दो कारण हो सकते हैं। विग्रहराज ने कुमारपाल को यह छूट दे दी हो कि वह शाकंभरी में जैनानुशासन का पालन कराता रहे, परन्तु उस पर विग्रहराज का अधिकार मानता रहे। संभव है, इसका कारण यह हो कि विग्रहराज ने भी कुमारपाल को अपना सार्वभौम सम्राट् मान लिया हो। स्थिति कुछ स्पष्ट नहीं है।

विग्रहराज की मृत्यु (लगभग ११६४ ई०) तथा मदनपाल की मृत्यु (लगभग ११६७ ई०) के बीच के तीन वर्ष का इतिहास भी महत्वपूर्ण है। मदनपाल अपनी पुत्री के पुत्र, अवयस्क अपरगांगेय को, अजमेर के सिंहासन पर बैठाने में समर्थ हो सका। मदनपाल की मृत्यु तक अजमेर के सिंहासन की प्राप्ति के लिए न तो पृथ्वीभट्ट सिर उठा सका, और न कुमारपाल अनहिलपाटन से सोमेश्वर को ही अजमेर की ओर भेजने का साहस कर सका। मदनपाल की मृत्यु के पश्चात् ही शाकंभरी-राज्य में गृहकलह प्रारम्भ हुआ। ज्ञात यह होता है कि उसी समय पृथ्वीभट्ट ने सपादलक्ष का कुछ भाग दबा लिया और वहाँ से शाकंभरी पर आक्रमण कर अपरगांगेय को मार डाला। इसी समय अनहिलपाटन से सोमेश्वर को भी आगे बढ़ाया गया। मदनपाल के उत्तराधिकारी पृथ्वीराज तोमर ने नागार्जुन को भी शाकंभरी के राज्य का उत्तराधिकारी बनाया। प्राप्त सामग्री से इस त्रिकोण-संघर्ष का जो विवरण प्राप्त होता है, उसका विवेचन आगे किया गया है। यहाँ केवल यह बात उल्लेखनीय है कि इस संघर्ष के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज तोमर के समय ही अनहिलपाटन के उत्तर तथा यमुना के पश्चिम के भारत के भू-भाग की राजनीतिक सत्ताएँ डाँवाडोल होने लगीं और संभवतः, पृथ्वीराज तोमर (११६७–११८९) के समय में तोमर साम्राज्य के माण्डलिक सामन्त अपने आपको, व्यवहार में,

---

१. इसके विपरीत प्रमाण अवश्य मिलता है। नागौर के युद्ध के पश्चात् विग्रहराज कुमारपाल से भयभीत रहने लगा था यह चारणों की प्राचीन अनुश्रुति से प्रकट है—

एक्कह पाली माटि वीसलस्यउ झगडउ कियउ
कुमारपाल रणहाटि बीजी बार कु वहुरिस्यउ

कुमारपाल-चरित-संग्रह (सिंघी जैन ग्रन्थमाला), पृ० ८।

स्वतंत्र मानने लगे। खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि से हाँसी के भीमसिंह का यही स्वरूप दिखाई देता है।

हम्मीरमहाकाव्य का उत्तर-पश्चिम भारत

सन् ११७० से सन् ११९१ ई० तक दिल्ली के तोमर साम्राज्य की स्थिति यह थी कि उसके अन्तर्गत सभी गढ़पति अपने आपको स्वतन्त्र राजा मानते थे और दिल्लीपति को अपना मुखिया मानते थे। राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) ने अजमेर में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया और वह अब न दिल्ली के साथ था न अनहिलपाटन के। इस स्थिति का प्रमाण नयचन्द्र के हम्मीरमहाकाव्य में मिलता है।

हम्मीरमहाकाव्य के इस सन्दर्भ का आशय है कि जब पृथ्वीराज (राय पिथौरा) अपनी प्रजा पर न्यायपूर्ण राज्य कर रहा था तथा अपने शत्रुओं को भयभीत किये हुए था, उस समय शहाबुद्दीन समस्त पृथ्वी को अपने अधिकार में करने का प्रबल प्रयत्न कर रहा था। शहाबुद्दीन के हाथों पश्चिम के भूमिपाल विचलित हुए। यह देखकर गोपाचलीय चन्द्रराज अपने पुर से निकला। यह चन्द्रराज पृथ्वी के समस्त प्राणियों को आनन्द देने वाला था, इस कारण अपने नाम 'चन्द्र' को सार्थक करता था। चन्द्रराज के साथ पश्चिम के भूमिपाल भी थे। पृथ्वीराज ने उनकी व्यथा का कारण पूछा, तब चन्द्रराज ने बतलाया कि "शहाबुद्दीन नामक एक शक राजाओं के विनाश के लिए धूमकेतु के समान उदित हो गया है। उसने हमारे नगरों को लूट लिया है।"

चन्द्रराज ने राय पिथौरा (पृथ्वीराज) से कहा "ये राजा आपकी सहायता की याचना करने आए हैं।"

नयचन्द्र के कवित्वपूर्ण शब्दाडम्बर में से जो तथ्य सामने आते हैं वे ये हैं कि शहाबुद्दीन ने इस बार अजमेर के राज्य पर आक्रमण न कर उन अनेक राजाओं को बरबाद करना प्रारंभ कर दिया था जिनके 'राज्य' शाकंभरी के उत्तर में और दिल्ली के पश्चिम में थे। नयचन्द्र के कथन से यह भी स्पष्ट है कि विगत तोमर-साम्राज्य के अवशेष अब अपने सम्राटों के वंशज, दिल्ली के राजा, को संकटकाल में ही अपना नेता मानते थे। इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि ये समस्त राजा राय पिथौरा की प्रजा या उसके सामन्त नहीं थे, न उनके 'राज्य' या 'गढ़' राय पिथौरा के राज्य की सीमा में थे। इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि इस समय तक राय पिथौरा ने पर्याप्त सैन्य शक्ति एकत्रित कर ली थी, जिसकी सहायता की याचना उस राष्ट्रीय संकट के समय राजाओं के इस संघ ने 'चन्द्रराज' के माध्यम से कराई थी।

नयचन्द्र के विवरण से यहाँ हम केवल यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि पश्चिम-भारत, कुछ घटनाओं के कारण, विशृंखल हो गया था, फिर भी शाकंभरी के राज्य के उत्तर के समस्त राजा दिल्ली के तोमर राजा को अपना मुखिया मानते थे।

फारसी इतिहासों से प्राप्त तथ्य

नयचन्द्र ने पश्चिम-भारत का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उसका समर्थन समकालीन और परवर्ती फारसी इतिहासों से भी होता है।

फरिश्ता ने उसके समय तक उपलब्ध सभी फारसी इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन कर अपना इतिहास ग्रन्थ (गुलशने-इवराहीमी) लिखा था। फरिश्ता के अनुसार ताराइन के युद्ध-क्षेत्र में राय पिथौरा के साथ डेढ़ सौ राजा इकट्ठे हुए थे। यह डेढ़ सौ राजा कौन थे, इन्हें नयचन्द्र के विवरण की पृष्ठभूमि में पहचाना जा सकता है। राय पिथौरा का कोई मित्र या अधीनस्थ राजा था, यह कहना इतिहास-विरुद्ध होगा। ये १५० राजा वे ही हैं जिनने चन्द्रराज (चाहड़देव) को अपना नेता बनाया था।

फुतूहुस्सलातीन के लेखक इसामी ने लिखा है "गोविन्दराय (चाहड़पाल) राजपूत सेना का मुकद्दम (मुखिया) था। वह राय पिथौरा की सेना के आगे युद्ध कर रहा था।"

इसामी के अनुसार भी राय पिथौरा अपनी सेना के साथ युद्धक्षेत्र में आए अवश्य थे, परन्तु वे पीछे ही रहे। आगे पश्चिम के राजाओं का नेता दिल्ली का राजा ही था।

तबकाते-नासिरी में मिनहाज सिराज ने ताराइन के सन् ११९१ के युद्ध का विवरण देते समय राजपूत सेना का भी कुछ वर्णन किया है "राय कोलाह पिथौरा गढ़ तँवरहिंन्दा (सरहिन्दा) के विरुद्ध चला। सुल्तान लौट पड़ा तथा उसका मुकावला नारायन (ताराइन) के पास किया। हिन्दुस्तान के समस्त राजा कोलाह के साथ थे। युद्ध की मोर्चाबन्दी हुई और सुल्तान ने एक भाला पकड़ कर उस हाथी पर आक्रमण कर दिया जिस पर दिल्ली का राजा गोविन्द वैठा था।"

यह विवरण अत्यन्त संक्षिप्त, अधूरा और भ्रामक ज्ञात होता है, परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि इसमें फरिश्ता और इसामी के कथनों के विपरीत कुछ नहीं है। इसके अनुसार भी राय पिथौरा कहीं पीछे ही थे और उन १५० राजाओं का नेतृत्व दिल्ली का राजा ही कर रहा था, अन्यथा शहावुद्दीन के भाले का लक्ष्य दिल्ली का राजा न होता।

तबकाते-नासिरी में सन् ११९२ ई० के युद्ध का जो विवरण दिया है वह भी वहुत अव्यवस्थित है। सुल्तान की रणनीति की प्रसंशा करने तथा उसे 'विधर्मियों' के ऊपर विजयी वनाने के पश्चात् मिनहाज सिराज ने लिखा है—

"पिथौरा अपने हाथी से उतरा, घोड़े पर वैठा और भागा, परन्तु वह सरसुती के पास पकड़ा गया और नरक भेज दिया गया। दिल्ली का राजा गोविन्द युद्धक्षेत्र में मारा गया, और सुल्तान ने उसके सिर को उन दो दाँतों के कारण पहचान लिया जिन्हें उसने तोड़ा था। हिजरी सन् ५८८ में प्राप्त इस विजय के परिणामस्वरूप राजधानी, अजमेर, समस्त सिवालिक पहाड़ियाँ, हाँसी, सरसुती तथा अन्य जिले मिल गये।"

इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि जिस पराजय का उल्लेख मिनहाज सिराज ने किया है वह तव हुई थी जव 'दिल्ली का राजा' मारा जा चुका था। उसके पश्चात् ही कभी राय पिथौरा को हाथी से उतर कर भागने की स्थिति आई होगी। विजय के परिणामस्वरूप जिन प्रदेशों का शहावुद्दीन को प्राप्त होना कहा गया है उनमें से अजमेर

को छोड़ सब उन राजाओं के थे जो ताराइन के युद्ध में चाहड़ (गोविन्द) के साथ लड़ने गये थे। इनमें से कुछ प्रदेशों पर, संभवतः, शहाबुद्दीन ने पहले ही अधिकार कर लिया था, ऐसा नयचन्द्र के कथन से ज्ञात होता है। मिनहाज सिराज का ध्यान केवल सुल्तान की विजय पर केन्द्रित ज्ञात होता है। उसने उसकी उपलब्धियों को ही अति संक्षिप्त रूप में लिख दिया है। इधर 'विधर्मियों' की ओर क्या हो रहा था, इसे जानने का प्रयास मिनहाज सिराज ने नहीं किया।

यहाँ इस विषय के विवेचन का ा ंग नहीं है कि ताराइन पर राय पिथौरा पहले भागे या चाहड़ (गोविन्द या चन्द्रराज) पहले मारा गया, इसका प्रसंग आगे है, यहाँ मन्तव्य केवल यह है कि सन् ११७० ई० के पश्चात् पश्चिम-भारत सौ-डेढ़ सौ राजाओं का नितान्त विशृंखल क्षेत्र बन गया था। जिसके पास गढ़ था, वह भूमिपति बन गया। उस विशृंखल उत्तर-पश्चिम भारत का प्रारंभिक अधूरा चित्र गुर्वावलि में मिलता है, पूर्ण चित्र हम्मीरमहाकाव्य में मिलता है, और उसका समर्थन फारसी इतिहासों से भी होता है। यह विशृंखलता बीस-पच्चीस वर्षों के भीतर ही कैसे आगयी, किन कारणों से आ गयी, किनके द्वारा लाई गयी, यह तथ्यों से जाना जा सकता है।

परिच्छेद ७

विग्रहराज चतुर्थ और पृथ्वीभट्ट के शिलालेख

विग्रहराज के शिलालेख

अपने उद्गम से जहाँ यमुना शिवालिक पर्वत के पास हिमालय की गोद छोड़कर नीचे का ओर उतरती है वहाँ कभी बहुत बड़ा तीर्थ था। अशोक ने वहाँ अपना एक स्तम्भ खड़ा किया था और, संभवतः, बौद्ध-बिहार भी बनवाया था। बंगाल के धर्मपाल के समय में इस बौद्ध-तीर्थ का महत्व और अधिक बढ़ा होगा। सम्भावना यह है कि सन् ११६३ ई० के आसपास भी वहाँ कुछ बौद्ध प्रभाव अवशिष्ट था।

वि० सं० १२२० (सन् ११६३ ई०) में वैशाख मास में उस तीर्थ पर विग्रहराज चतुर्थ भी गये थे। उनके दूसरे राजकुमार का नाम नागार्जुन था जिसकी द्वेष-पूर्ण व्याख्या पृथ्वीराज-विजय-काव्य में की गयी है—

नागार्जुन इति निन्दित भिक्षु-योग्य-नामा

जब विग्रहराज शिवालिक पर्वत के तल में इस तीर्थ का सेवन कर रहे थे उस समय उनके साथ उनका राज-ज्योतिषी तिलकराज भी था और सेनापति संलक्षणपाल भी। उस समय अशोक के स्तम्भ पर एक प्रशस्ति भी अंकित करायी गई।[1] उसके एक श्लोक की एक पंक्ति इस तथ्य की पुष्टि के लिए उद्धृत की जाती है कि विग्रहराज ने हिमालय से विन्ध्य तक का समस्त आर्यावर्त जीत लिया था, और चूंकि हिमालय और विन्ध्य के बीच दिल्ली और हाँसी भी आते हैं, पूरा तोमर साम्राज्य इसी बीच था, अतएव माना यह गया कि विग्रहराज का प्रशस्तिकार यह कहना चाहता है कि विग्रहराज ने मदनपाल को भी पराजित किया था, तथा उससे दिल्ली-हाँसी सब छीन ली थीं।

डॉ० ओझा ने इस सन्दर्भ में उस शिलालेख की यह पंक्ति उद्धृत की है —

आविध्यादाहिमाद्रेविरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगात्।

इस उद्धरण के आधार पर डॉ० ओझा ने लिखा है "देहली के शिवालिक स्तम्भ पर के उसके लेख में हिमालय से विन्ध्य तक के देश को विजय करना लिखा है।[2]"

इतने लम्बे समय से विवेचित इस पंक्ति के भाष्यकारों ने इस बात पर प्रकाश नहीं डाला कि "तीर्थयात्राप्रसंगात्" वाक्य का क्या आशय है। संदर्भ-विहीन कोई भी

---

१. इण्डि० एण्टी०, भाग, १६, पृ० २१५।

२. अनंद विक्रम संवत् की कल्पना, ना० प्र० प०, भाग १, संवत् १६७७, पृ० ४०४।

वाक्य अनर्थ को जन्म देता है। हिमालय और विन्ध्य के बीच उस वर्ष अनेक ऐसे राजा थे जो विग्रहराज के या अन्य किसी के करद नहीं थे।

यह विजय "तीर्थयात्रा" के प्रसंग में हुई थी। विग्रहराज का उद्देश्य था कि वह लोक-विरुद्ध मार्ग पर चलने वाले एवं तीर्थों को अपवित्र करने वाले म्लेच्छों से आर्यावर्त को मुक्त करे। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए विग्रह ने आर्यावर्त के समस्त तीर्थों का भ्रमण किया था, उन तीर्थों के राजाओं ने उसका अवरोध नहीं किया, अतएव वे उसके मित्र हुए, दरबारी भाषा में "करद"। इससे अधिक इस प्रशस्ति का आशय समझना उस युग के प्रशस्तिकारों की शैली के प्रति आँखें बन्द करना है।

इस प्रशस्ति के तीन भाग हैं। एक में केवल तिथि अंकित है। दूसरे भाग में विग्रह का यश वर्णित है—

"तेरे रिपुओं की प्रियाओं के नयन वारि-पूरित होते हैं, तेरे विरोध करने वालों को अपने दाँतों में तृण धारण करना पड़ता है, तेरा यश ब्रह्माण्ड में फैला हुआ है, और जहाँ-जहाँ तेरा यश फैला है वहाँ लोक-विरुद्ध मार्ग पर चलने वाले प्रवेश नहीं कर पाते, तथा जब तेरा प्रयाणोत्सव होता है, अर्थात् जब तू यात्रा पर निकलता है, तब, हे विग्रहराज! तेरे विरोधियों के मन शून्यवत हो जाते हैं।

"हे लीला-मन्दिर, तेरा आवास, तेरे शत्रुओं का नहीं, सुन्दर भ्रू वाली ललनाओं के बीच हो। हे क्षितिपति विग्रह, तू उनके बीच विहार करे।

"क्या इसमें कोई सन्देह है कि तू पुरुषोत्तम है? निस्सन्देह इसमें कोई शंका नहीं है। क्या यह सत्य नहीं है कि तू उस श्री (लक्ष्मी) के क्रोड़ में शयन करता है जिसको तूने समुद्रमन्थन कर प्राप्त किया था?"

स्तम्भ के एक और स्थल पर लिखा है—

"तीर्थयात्रा के प्रसंग में, पवित्र मन्दिरों की यात्रा के क्रम में, विश्वजयी, क्षितिपति शाकंभरी नरेश विग्रह, तूने विन्ध्य और हिमालय तक विजय की, गर्व करने वालों पर प्रहार किया, जो विनयावनत हुए उनके प्रति उदारता दिखलाई, अनेक बार म्लेच्छों का निपात किया और इस प्रकार आर्यावर्त को सच्चे अर्थों में आर्यावर्त बनाया।

"अब चौहानों के अलंकार, प्रतापी विग्रहराज अपने वंश में उत्पन्न हुओं को (दोनों राजकुमारों को) उपदेश देते हैं—मैंने हिमालय और विन्ध्य के बीच की भूमि को करद बनाया है, तुम भी निश्चेष्ट न बैठना, अवशिष्ट भूमि पर आधिपत्य करना।"

इस प्रशस्ति में इलाकों के जीतने के उल्लेखों की खोज व्यर्थ है, "निपात" केवल म्लेच्छों का कहा गया है, दिल्ली के तोमर निश्चय ही म्लेच्छ नहीं हुए थे और न हरियाने को म्लेच्छ देश कहा जाता था। हम इसका विवेचन यहाँ विस्तार से नहीं करना चाहते हैं कि उस युग के हिन्दू 'लोक-विरोधी मार्ग' पर चलने वाले किन्हें समझते थे। इस वर्ग में तुरुष्क भी थे, और ब्राह्मण सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायियों की दृष्टि में जैनी भी, वे भी उन्हें उस युग में पर्याप्त त्रास दे रहे थे। निश्चय ही दिल्ली

का मदनपाल विग्रहराज के इस अभियान में उसका "करद" अथवा अनुगत ही था, वह इसी कारण चित्तौर के जैन सूरि जिनदत्त से विरोध मोल ले चुका था।

विग्रहराज के इस शिलालेख में उस विषाद के भी दर्शन होते हैं जो तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उसके मानस-पटल पर छाया हुआ था। उसे अपना अन्त समय दिखाई दे रहा था, उसका बड़ा राजकुमार, अपरगांगेय अवयस्क था, छोटा राजकुमार नितान्त शिशु था, उनका एक दावेदार पृथ्वीभट्ट गुहिलोतों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर उनके आश्रय में विग्रह की मृत्यु की बाट देख रहा था; तथा उधर चौलुक्यों के प्रबल राज्य द्वारा समर्थित सोमेश्वर गुजरात में पुष्ट हो रहा था। "पुरुषोत्तम" विग्रहराज का प्रशस्तिकार ऐसी परिस्थितियों में फँसे वृद्ध चौहान राजा तथा उसके दो राजकुमारों को मंगलाशा का आशीर्वाद दे रहा था।

परन्तु विग्रहराज चतुर्थ के वि० सं० १२२० के शिलालेख से दिल्ली-हाँसी जीतने की कल्पना की पुष्टि कदापि नहीं होती।

यह भी विचार करने की बात है कि वि० सं० १२१० और १२२० के बीच विग्रहराज के ग्यारह शिलालेख प्राप्त हुए हैं। तोमर साम्राज्य की विजय शाकंभरी के राजाओं के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि होती। शाकंभरी के राज्य से कई गुना उर्वर क्षेत्रफल इस साम्राज्य का था, उसमें पृथूदक, हाँसी, दिल्ली, थानेश्वर, मथुरा जैसे प्रसिद्ध नगर थे। यदि विग्रहराज ने इस साम्राज्य को जीता होता तब इस तथ्य को अत्यन्त लच्छेदार भाषा में लगभग सभी प्रशस्तियों में लिखवाया जाता।

विग्रहराज चतुर्थ के विषय में यह भी स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि सपादलक्ष में वह स्वतंत्र राजा नहीं था, वहाँ उसे चौलुक्य कुमारपाल की सार्वभौम सत्ता स्वीकार करना पड़ती थी। जो प्रदेश कुमारपाल की सत्ता के अन्तर्गत थे उनमें सपादलक्ष भी था। कुमारपाल की एक प्रशस्ति में उल्लेख है कि सौराष्ट्र, लाट, मालव, आभीर, मेदपाट, मेरु और सपादलक्ष में, उसके प्रताप से, ब्राह्मणों और क्षत्रियों को भी जैन सम्प्रदाय के सिद्धान्त मानना पड़ते थे। इनमें सपादलक्ष तो निश्चय ही विग्रहराज के राज्य में था, संभव है कुछ अंश मरु और मेदपाट का भी था। विग्रहराज की इच्छा हो या न हो, उसे शाकंभरी के विषय में कुमारपाल के आदेश मानने पड़ते थे। सपादलक्ष में न केवल कुमारपाल का शासन चलता था, वरन् सपादलक्ष के नागरिकों की न्याय-व्यवस्था भी अनहिलपाटन में होती थी। इस विषय में प्रबन्ध-चिन्तामणि में दिये गये "यूकाविहार-प्रबन्ध" से राजनीतिक इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं।[1] इस प्रबन्ध में लिखा है—"सपादलक्ष देश में कोई अविवेकी धनी था। उसकी पत्नी को अपने बाल साफ करते समय एक यूका (जूं) मिला। उसने उसे अपने पति के हाथ पर रख दिया। उस 'अविवेकी' धनी ने उस यूका को मसल डाला। उस नगर में चौलुक्य सम्राट् की ओर से 'अमारिकारी पंच-कुल' (जीवहिंसा प्रतिबन्ध की देखभाल करने वाले अधिकारी) नियुक्त थे। जब उन्हें सेठ के इस 'अविवेकी और धर्म-विरोधी' कार्य का

१. प्रबन्ध-चिन्तामणि (सिंघी जैन-ग्रन्थमाला), पृ० ९१।

पता चला तब उन्होंने उसे बन्दी बना लिया और पकड़ कर अनहिलपाटन लाए। कुमारपाल ने उसे दण्डित किया। दण्ड में उसकी समस्त सम्पत्ति छीन ली गयी और उससे यूकाविहार का निर्माण कराया गया।"

जैनानुशासन की इस दण्ड-व्यवस्था पर कोई टिप्पणी करना अनावश्यक है। संभव है इस प्रकार प्राणभय से कुछ मच्छर, खटमल, मक्खी या चींटी-विहार भी लोगों को बनवाने पड़े हों। परन्तु जिस राजा के नागरिकों की दण्डव्यवस्था अनहिलपाटन का चौलुक्य-सम्राट् करता था, उसे स्वतंत्र राजा नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा राजा तोमर साम्राज्य को जीत सका होता, या अन्य किसी रीति से उपलब्ध कर लेता, तब यह उसके जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना होती और वह उसे अवश्य ही प्रत्येक शिलालेख में अंकित कराता। विग्रहराज को ब्राह्मण सम्प्रदाय पर आस्था थी, अतएव उसे विवश होकर उत्तर-भारत के उनके तीर्थों में घूम कर ही सन्तोष करना पड़ता था। इसका उसने स्पष्ट उल्लेख भी अपने शिलालेख में कर दिया। यही उसकी तीर्थ-यात्रा-प्रसंगात् 'विजय' थी।

नयचन्द्र का भाष्य

शिवालिक स्तंभ लेख के 'आविंध्यादाहिमाद्रि' जैसे उल्लेख का निर्वचन किस रूप में करना चाहिए, इसका कुछ संकेत नयचन्द्र के हम्मीरमहाकाव्य से भी प्राप्त होता है। मध्ययुग की प्रशस्तियों की शैली ही कुछ इस प्रकार की थी कि उसमें अतिशयोक्ति आवश्यक गुण माना जाता था।

नयचन्द्र ने विश्वलदेव (अर्थात् विग्रहराज चतुर्थ) का 'इतिहास' देते हुए चार श्लोक लिखे हैं[1] —

ततोऽभवद् विश्वलदेवनामा विश्वापतिर्विश्वविकासिधामा।
यत्पाणिपाथोरुहि कर्णिकायाः पुपोष भावं ननु भूतधात्री ॥५६॥
विदारितारातिकरीन्द्रकुम्भाद् यान्यत्र पेतुर्युधि मौक्तिकानि।
तान्येव पुष्पाणि विकस्वराणि यदीयकीर्तिव्रततेर्बभूवुः ॥५७॥
यदीयकीर्त्या विजितो हिमाद्रिरद्यापि नाश्रूणि विमुञ्चते किम्।
भृशं तपत्तापनतापनेन द्रवीभवद्धेमशिला छलेन ॥५८॥

नयचन्द्र द्वारा विरचित विग्रहराज की प्रशस्ति में भी 'हिमाद्रि' का उल्लेख आया है, परन्तु वह 'विजय' के अर्थ में निस्संदेह नहीं है। नयचन्द्र के श्लोकों का अर्थ प्रस्तुत कर सकना हमारे लिए सरल कार्य नहीं है, तथापि, उसके शिष्य द्वारा प्रस्तुत 'हम्मीर महाकाव्यदीपिका' के सहारे सम्बद्ध श्लोकों का अर्थ नीचे लिखे अनुसार माना जा सकता है—

"विश्वलदेव नामक विश्वपति, विश्व के विकास का धाम, इसके (जगद्देव के) पश्चात् हुआ। जिसके करकमलों से वसुंधरा के प्राणियों का परिपोषण हुआ। शत्रु रूपी

---

१. हम्मीरमहाकाव्य (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान), पृ० १३।

हाथियों के कुंभस्थल को जिसके द्वारा विदीर्ण किये जाने पर उनसे गिरे हुए मोती यशवल्लरी के सुरभित कुसुम के समान प्रतीत हुए। जिसकी कीर्ति से विजित हिमालय, आज भी क्या तपन के भीषण उत्ताप से अत्यधिक संतप्त होकर हिमखण्डों के विगलित होने से व्याज से अश्रुमोचन नहीं करता ?"

नयचन्द्र ने हिमाद्रि को कीर्ति द्वारा विजित होना ही लिखा है, असि द्वारा नहीं। शिवालिक स्तंभ लेख में जो 'तीर्थयात्राप्रसंगात्' विजय थी, वही नयचन्द्र की "यदीय कीर्त्या विजितो" है। ढिल्लिका के पास ही यमुना में हिमाद्रि से विगलित जल अवश्य आया होगा, आज भी आ रहा है, तथापि नयचन्द्र के कथन से विश्वल या विग्रह द्वारा ढिल्लिका अथवा आशिका की विजय की ओर संकेत भी नहीं है।

जगद्देव के पश्चात् वर्णित यह विश्वलदेव निश्चय ही विग्रहराज चतुर्थ है। विग्रहराज का मूलत: नाम विश्वल था। प्रबन्ध-चिन्तामणि के अनुसार[1] कुमारपाल चौलुक्य की राजसभा में विग्रहराज के सन्धिविग्राहक से चौलुक्य राजा ने पूछा कि उसके स्वामी कुशल से तो हैं। सन्धिविग्राहक ने उत्तर दिया कि "विश्व को जो ले ले सो 'विश्वल' है, इसलिए उनकी विजय में क्या सन्देह है।" कुमारपाल के मन्त्री ने 'विश्वल' की व्याख्या इस प्रकार की 'वि' अर्थात् पक्षी के समान जो श्वलन कर जाता है वह 'विश्वल' है। अपने सम्राट् के मंत्री के इस नाम-भाष्य से घबरा कर विश्वलदेव ने अपना नाम विग्रहराज रख लिया। दूसरे वर्ष कुमारपाल के मंत्री ने इस "विग्रह" नाम की व्याख्या की "रुद्र और नारायण को जो नासिकाहीन करे वह 'विग्रहराज' कहा जाएगा"। इस भाष्य से घबरा कर विग्रहराज ने अपना नाम 'कविबन्धु' रख लिया।

इस प्रबन्ध का और चाहे जो आशय हो, इसमें सन्देह नहीं कि विग्रहराज चतुर्थ का वास्तविक नाम विश्वलदेव था।

पृथ्वीराज-विजय-काव्य का मौन

विग्रहराज चतुर्थ के शिवालिक स्तम्भ के लेख का आशय समझने के लिए 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' को भी देखना होगा। यह ग्रन्थ कभी राय पिथौरा के राज्यकाल में लिखा गया था। "पृथ्वीराज विजय काव्य" में विग्रहराज चतुर्थ द्वारा दिल्ली, हाँसी या कुरुक्षेत्र विजित करने का उल्लेख अभिधा, लक्षणा या व्यंजना किसी रूप में भी नहीं है। वास्तव में क्या तोमर साम्राज्य या राज्य की विजय इतनी महत्वहीन थी कि वह २०-२५ वर्ष में तत्कालीन चौहान-इतिहासकार ने भुलादी ?

पृथ्वीभट्ट के शिलालेख

विग्रहराज चतुर्थ के पुत्र अपरगांगेय को मार कर राज्य प्राप्त करने वाले पृथ्वीभट्ट का वि० सं० १२२४ (सन् ११६७ ई०) का एक शिलालेख हाँसी में ही मिला है जिससे

---

१. प्रवन्घ-चिन्तामणि, पृ० ९० (हिन्दी अनुवाद, पृ० १०९)।

यह प्रकट होता है कि उसने अपने मामा गुहिलवंशी किल्हण को हाँसी का प्रशासक नियत किया था।[1]

इसके कारण यह अनुमान किया गया है कि हाँसी विग्रहराज चतुर्थ के समय से ही शाकंभरी के चौहानों के आधिपत्य में थी, और इस कारण बीजोल्या के शिलालेख का "दिल्ली लेने" का नहीं, तो, कम से कम 'हाँसी लाभ' के कथन का समर्थन होता है। विग्रहराज का तुरुष्कों से युद्ध भी हाँसी के पास ही हुआ था। प्रथमदृष्टि में इस विचारधारा की पुष्टि इस शिलालेख से होती है।

इसमें एक कठिनाई खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि के इस उल्लेख से उत्पन्न होती है कि सन् ११७१ ई० में हाँसी का राजा भीमसिंह था। चार वर्ष में ही यह परिवर्तन कैसे हो गया, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। संभव है मामा किल्हण को सोमेश्वर ने निकाल दिया हो। परन्तु भीमसिंह भी अजमेर का सामन्त ज्ञात नहीं होता।

पृथ्वीभट्ट ने हाँसी पर जिस घटनाक्रम में कब्जा किया था इसका कुछ आभास उसके एक अन्य शिलालेख से मिलता है। वि० स० १२२४ के पश्चात् धोड़गाँव के एक मन्दिर-स्तम्भ पर वि० सं० १२२५ का एक शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है "ॐ सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ अद्येह श्री सपादलक्षमंडले महाराजाधिराजपरमेश्वर परमभट्टारक उमापतिवरलब्धप्रसाद प्रौढ़प्रताप निजभुजरणांगणविनिर्जितशाकभरीभूपाल श्री प्रिथिम्विदेवविजयराज्ये।"

अर्थात् वि०सं० १२२५ के प्रारम्भ में कभी सपादलक्ष-मंडल के महाराज प्रिथिम्विदेव ने शाकंभरी के भूपाल को रण में हराया। शाकंभरी नगर और सपादलक्ष प्रदेश दोनों ही चौहान-राज्य के अंश थे। फिर ये दो सत्ताएँ कहाँ से उत्पन्न हो गयीं, एक "सपादलक्षमण्डल का महाराजाधिराज" और दूसरा "शाकंभरी का भूपाल"। वि० सं० १२२४ के शिलालेख में पृथ्वीभट्ट के इस पराक्रम का उल्लेख नहीं है, अतएव यह घटना उसके पश्चात् की होना चाहिए। तब यह मानना होगा कि वि० सं० १२२४ (सन् ११६७ ई०) में चौहानराज्य के सपादलक्ष-मण्डल का राजा पृथ्वीभट्ट था और शाकंभरी का राजा कोई अन्य, अर्थात् अपरगांगेय, था। तब यह भी मानना होगा कि इस वर्ष गृह-कलह अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया था और चौहान-राज्य बँट गया था। पृथ्वीभट्ट को उसके मामा गुहिलोत किल्हण का समर्थन प्राप्त था और अपरगांगेय को उसके मामा पृथ्वीराज तोमर का समर्थन प्राप्त था। उस समय तक मदनपाल तोमर मर चुका था। उधर चौलुक्य मामाओं की सहायता से सोमेश्वर भी चल पड़े होंगे। इन तीन मामाओं की लड़ाई में, ज्ञात यह होता है कि मामा किल्हण ने, मामा पृथ्वीराज तोमर के हाँसी के गढ़ पर कब्जा करके ही शाकंभरी-भूपाल पर आक्रमण करने का आयोजन किया था और वि० सं० १२२५ (सन् ११६८ ई०) में किल्हण और पृथ्वीभट्ट ने शाकंभरी में अपरगांगेय को मार डाला। पृथ्वीभट्ट अपने काका के

---

१. इण्डि० एण्टि०, भाग, ४१, पृ० १९।

पुत्र को मार कर सपादलक्ष के "महाराजाधिराज" तो बन गये परन्तु वे जीवित ज्वालामुखी के मुहाने पर बैठ गये थे। वि० सं० १२२६ (सन् ११६६ ई०) के प्रारम्भ में ही गुजराती सैनिकों के सेनानी कैमास (कदम्बवास) और त्रिभुवनमल्ल ने 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के शब्दों में उसे 'प्रतस्थ'—चलता—कर दिया।

उसके पश्चात् ही, निश्चय ही, मामा किल्हण भी भाग गये होंगे और हाँसी पुनः पृथ्वीराज तोमर को प्राप्त हो गयी होगी, जहाँ उसने अपनी ओर से भीमसिंह को नियुक्त कर दिया।

प्रिथिम्वि या पृथ्वीभट्ट के वि० सं० १२२४ (सन् ११६७ ई०) के शिलालेख के समय शाकंभरी और दिल्ली राज्यों की राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रखने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वर्ष की विषम स्थिति का लाभ उठाकर साहसिक दस्यु के रूप में रहने वाले पृथ्वीभट्ट ने अपना भाग्य आजमाने के लिए सबसे पहले तोमर साम्राज्य में ही उपद्रव प्रारम्भ किये थे। हाँसी पर कब्जा उसी क्रम में किया गया था। इसी वर्ष दिल्ली सम्राट् मदनपाल मर गया था, पृथ्वीराज तोमर ने दिल्ली का राज-तंत्र सँभाला ही था। शाकंभरी का राज्य अवयस्क अपरगांगेय के हाथ में था।

साम्प्रदायिक क्षेत्र में भी यह भीषण उथल-पुथल का युग था। सपादलक्ष के जैन संघ पहले से ही प्रबल थे, अब वे उत्तर-भारत में भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हो रहे थे। इन परिस्थितियों में यह अनुमान किया जा सकता है कि इन प्रदेशों के जैन व्यापारियों का समर्थन न तो शाकंभरी में अपरगांगेय को प्राप्त था और न दिल्ली के तोमरों को। इन परिस्थितियों में ब्राह्मण सम्प्रदाय के अनुयायी अपरगांगेय और दिल्ली के पृथ्वीराज तोमर को पृथ्वीभट्ट का सामना करना पड़ा था। पृथ्वीभट्ट ने अपने गुहिलान्वय मामा की सहायता से हाँसी पर कब्जा कर लिया था और उसके पश्चात् शाकंभरी के राजा अपरगांगेय को मार डाला।

पृथ्वीभट्ट के इन वर्षों के घटनाक्रम से यह स्पष्ट है कि हाँसी का गढ़ उसे वंश परम्परागत दाय के रूप में नहीं मिला था, वह उसने उसी प्रकार प्राप्त किया था जिस प्रकार शाकंभरी का राज्य प्राप्त किया था। शाकंभरी का राजा अपरगांगेय तथा दिल्ली का नवीन सम्राट् पृथ्वीराज तोमर दोनों ही आंतरिक और वाह्य संकटों में फँसे हुए थे, उसका लाभ उठाकर ही पृथ्वीभट्ट यह कृत्य कर सका।

तात्पर्य यह है कि विग्रहराज चतुर्थ का वि०सं० १२२० का स्तंभलेख तथा पृथ्वीभट्ट का वि० सं० १२२४ का हाँसी का शिलालेख सोमेश्वर के वि० सं० १२२६ के वीजोल्या के शिलालेख के इस भाष्य का समर्थन नहीं करते कि विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली ले ली थी और हाँसी भी ले ली थी, और इन्हें किसी 'महाराज्य' का सूबा बना लिया था।

ढिल्लिकाग्रहणश्रांतम्

'तोमरों से चौहानों ने दिल्ली ली थी' इस मिथ्या प्रवाद का जन्म वि० सं० १२२६, फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष की तृतीया के कुछ पूर्व हो गया था। चौहान राजा सोमेश्वर का राज्यकाल प्रारंभ हुआ ही था। इसी समय श्रीपार्श्वनाथ की तुष्टि के लिए एक ग्राम भेट किया गया। इस पुण्यवेला में इस दान के साक्ष्य के रूप में "नैगमान्वय कायस्थ छोतिग के पुत्र केशव" ने एक प्रशस्ति लिखी और उसे एक शिला पर उत्कीर्ण करा दिया गया।[1] इस ग्रामदान के लेख के तारतम्य में "विप्रश्रीवत्सगोत्र" के सपादलक्ष के चाहमानों की वंशावली भी अंकित की गयी और प्रत्येक राजा की ज्ञात उपलब्धि भी लिख दी गयी। इसी शिलालेख में वे पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे यह परिणाम निकाला जाता है कि विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली-हाँसी जीत ली थी—

प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः
ढिल्लिका ग्रहणश्रांतमाशिका लाभलंभितः ॥२२॥

सत्य हो या असत्य, इस घटना का उल्लेख सर्वप्रथम सन् ११६९ ई० में चौहान राज्य की दक्षिणी सीमा में स्थित, चित्रकूट (चित्तौर) से पचास मील उत्तर-पूर्व के एक नगर बीजोल्या की शिला पर अंकित करा दिया गया। यह वह घटना है जिसका उल्लेख न तो स्वयं विग्रहराज चतुर्थ के किसी शिलालेख में है और न राय पिथौरा के समय में लिखे गये चौहान-राज्य के इतिहास पृथ्वीराज-विजय-काव्य में।

ऊपर उद्धृत पंक्तियों का अर्थ महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने निम्न रूप में किया है—

"ढिल्ली (देहली) लेने से थके हुए और आशिका (हाँसी) प्राप्त करने से स्थगित अपने यश को उसने प्रतोली और वलभी में विश्रान्ति दी।"

प्रश्न यह है कि विग्रह का 'यश' दिल्ली लेने से थक कैसे गया? यह यश आसिका (हाँसी) प्राप्त (लाभ) करने से स्थगित, लंभित, क्यों हो गया? फिर इस थके हुए और लंभित यश को प्रतोली और वलभी के प्रदेशों में विश्रान्ति कैसे प्राप्त हुई?

शासकीय अभिलेख लिखने में सिद्धहस्त श्री केशव निगम की कलम में अस्पष्ट भाव लिखने की अपार क्षमता थी। स्यात् ग्रामदाता यह चाहता था कि सोमेश्वर राजा का दावा दिल्ली और हाँसी पर है यह अंकित कर दिया जाए, इधर निगम महोदय इस द्विविधा में थे कि जो घटना हुई नहीं उसे कैसे अंकित की जाए, अतएव

१. एपी० इण्डि०, भाग २६, पृ० १५०।

उन्होंने ये अस्पष्ट पंक्तियाँ लिखकर सबको संतुष्ट कर दिया।

ज्ञात यह होता है कि केशव निगम को यह आदेश भी दिया गया था कि विग्रह-राज चतुर्थ के राजकुमार अपरगांगेय ने कुछ वर्ष राज्य किया था यह बात भी प्रशस्ति में मत लिखो। वृत्ति और जीवन को बचाने के लिए केशव निगम ने विग्रहराज सम्बन्धी उक्त श्लोक के पश्चात् ही लिख दिया—...

तज्ज्येष्ठभ्रातृपुत्रोऽभूत् पृथ्वीराजः प्रभूपमः
तस्मादर्जितदीनागो हेमपर्वत दानतः ॥२३॥

कुछ वर्ष पश्चात् लिखे गये पृथ्वीराज-विजय-काव्य में विग्रह-राज के पश्चात अपरगांगेय का राजा होना लिखा है। फिर बेचारे निगम से यह 'इतिहास-अशुद्धि' किसने कराई और क्यों कराई ?

प्रसंग बहुत बढ़ जाएगा, अन्यथा यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस प्रशस्ति में मिथ्या कथनों का अम्बार लगा दिया गया है, सत्य के प्रति निष्ठा तो उसमें बिल-कुल नहीं है। यहाँ विवेचनीय यही है कि सोमेश्वर चौहान के समय में दिल्ली और हाँसी पर अजमेर के चौहानों का दावा क्यों कराया गया था ? तोमरों के इतिहास के लिए इस मिथ्या दावे का उद्‌गम जानना आवश्यक है, उसका परीक्षण आवश्यक है।

अर्णोराज से सोमेश्वर तक चौहान-इतिहास

अर्णोराज से सोमेश्वर तक के चौहान-इतिहास पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अनेक तथ्य स्पष्ट होते हैं। अर्णोराज की दूसरी रानी कांचनदेवी का पुत्र सोमेश्वर और उसके सहायक, उसकी पहली रानी सुधवा की संतानों से घोर द्वेष रखते थे। विग्रहराज का भी उनकी दृष्टि में कोई सम्मान नहीं था। उसके राजकुमार अपरगांगेय को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे और दूसरा राजकुमार नागार्जुन तो उनके मार्ग में काँटा ही था।

हमारा अनुमान यह है कि इसी विद्वेष की पृष्ठ-भूमि में "ढिल्लिकाग्रहण" जैसा अस्पष्ट कथन बीजोल्या-प्रशस्ति में जोड़ा गया था और इसी भावना से प्रेरित होकर चौहानों के राजभाटों ने "दिल्ली चौहानों की हो गयी" प्रचार प्रारम्भ किया था।

अर्णोराज की चौलुक्य रानी कांचनदेवी की संतानें, उसकी दूसरी रानी सुधवा की संतानों से किस सीमा तक विद्वेष करती थी इसका आभास "पृथ्वीराज-विजय-काव्य" से मिलता है।

सन् ११३३ ई० के आस-पास अर्णोराज अजमेर के राज्य-सिंहासन पर बैठा था। मारवाड़ की राजकुमारी सुधवा से उनका विवाह हो चुका था। राज्यारोहण के कुछ वर्ष पश्चात् ही अनहिलपाटन के चौलुक्य सम्राट् सिद्धराज जयसिंह ने सपादलक्ष पर आक्रमण कर दिया और अर्णोराज को पूर्णतः पराजित कर शाकंभरी (साँभर) और अजमेर पर कब्जा कर लिया। अर्णोराज को संधि का प्रस्ताव रखना पड़ा। सिद्धराज जयसिंह को शाकंभरी प्रदेश का सार्वभौम सम्राट् स्वीकार कर अर्णोराज ने स्वयं उसका 'भृत्य'

वनना अंगीकार किया। सिद्धराज जयसिंह ने यह संधि स्वीकार कर ली और अपनी एकमात्र संतान राजकुमारी कांचनदेवी का विवाह अर्णोराज के साथ कर दिया। विजयी सम्राट् की राजकुमारी अपने पिता के 'भृत्य' के राजमहल में आगयी और चौहान कुल में भयंकर घटनाओं का सूत्रपात हुआ। इतनी प्रवल सौत के राजमहल में आजाने पर सुधवा की दिपत्ति और मानसिक त्रास की कल्पना की जा सकती है। उधर कांचनदेवी की सहपत्नी-सुलभ ईर्षा का अनुमान भी किया जा सकता है। निश्चय ही इस समय तक सुधवा के पुत्रों का भी जन्म हो चुका होगा।

कुछ समय पश्चात् ही कांचनदेवी को भी पुत्र-लाभ हुआ। कांचनदेवी बड़े घर की थी, परन्तु छोटी रानी थी; उसका पुत्र सिद्धराज जयसिंह जैसे प्रवल सम्राट् का नाती था, फिर भी सुधवा के राजकुमार जगद्देव और विग्रहराज से छोटा था। वह शाकंभरी के राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता था; तथापि कांचनदेवी की यह प्रवल इच्छा थी कि अर्णोराज के पश्चात् वही शाकंभरी का राजा बने। उसे यह भी भय होगा कि कहीं सुधवा और उसके पुत्र इस नवजात राजकुमार को नष्ट न करवा दें। अतएव जन्म होने के पश्चात् ही कांचनदेवी का राजकुमार उसके मातामह सिद्धराज जयसिंह के पास अनहिलपाटन भेज दिया गया। "पृथ्वीराज-विजय-कांव्य" में इस घटना के सम्बन्ध में लिखा है —

उत्पत्स्यते कंचन कार्य शेषं
निर्मातुकामस्तनयोऽस्यरामः।
सांवत्सरैरित्युदितानुभावं
मातामहस्तं स्वपुरं निनाय। (६।३५)

भगवान राम के वचे हुए कार्य को पूरा करने वाले का जन्म सोमेश्वर से होगा, ऐसा ज्योतिषियों से सुनकर सिद्धराज जयसिंह ने अपने नाती को अपनी राजधानी में बुला लिया।

सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने भी सोमेश्वर का पालन बड़े स्नेह से किया। सोमेश्वर का विवाह कलचुरि राजा की पुत्री कर्पूरदेवी से हुआ। सोमेश्वर और कर्पूरदेवी से अनहिलपाटन में ही पृथ्वीराज का जन्म हुआ। उसका चूड़ाकरण संस्कार होते ही कर्पूरदेवी को फिर गर्भ रहा और दूसरे पुत्र हरिराज का जन्म हुआ। पृथ्वीराज को रणनीति और राजनीति की शिक्षा दी थी कैमास (कदंबवास) ने और हरिराज के संरक्षक नियुक्त किये गये थे कर्पूरदेवी के पिता के भाई भुवनैकमल्ल।

सिद्धराज जयसिंह के कोई राजकुमार नहीं था। उसके प्रपिता के भाई क्षेमराज से उत्पन्न उसका भतीजा कुमारपाल चौलुक्य-सिंहासन का दावेदार था। परन्तु क्षेमराज का जन्म वकुलादेवी नामक पण्यांगना से हुआ था।[1] इस दोष के कारण सिद्धराज

१. प्रवन्ध-चिन्तामणि, पृ० ७७।

जयसिंह ने उसे अपना युवराज नहीं माना और अपने मंत्री के पुत्र चाहड़ को गोद ले लिया। सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु पर कुमारपाल और चाहड़ के बीच चौलुक्य-राज्य के लिए संघर्ष प्रारंभ हुआ। कुमारपाल का साथ गुजरात के जैनी दे रहे थे।[1] अर्णोराज ने चाहड़ का साथ दिया। चाहड़ पराजित होकर अजमेर भाग आया। अर्णोराज ने गुजरात पर आक्रमण किया। कुमारपाल ने अर्णोराज को पराजित कर युद्ध में घायल कर दिया। अर्णोराज को अधीनता की अपमानपूर्ण संधि करना पड़ी और अपनी राजकुमारी जल्हणा का विवाह कुमारपाल के साथ करना पड़ा। दहेज में बहुत अधिक संख्या में हाथी-घोड़े देने पड़े। विवाह में कुमारपाल अजयमेरु बरात लेकर नहीं आया, वरन् राजकुमारी की माता (सुधवा) को राजगुरु के साथ वधू को लेकर अनहिलपाटन जाना पड़ा, और वहाँ पर ही विवाह सम्पन्न हुआ।

अर्णोराज के केवल दो रानियाँ थीं, सुधवा और कांचनदेवी। राजकुमारी जल्हणा सुधवा की ही पुत्री होगी, क्योंकि, संभवतः, कुमारपाल अपनी बहन कांचनदेवी से उत्पन्न राजकुमारी से विवाह करने का आग्रह न करता। कांचनदेवी के सोमेश्वरदेव के अतिरिक्त कोई सन्तान हुई हो, ऐसा 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में उल्लेख नहीं है। दूसरे शब्दों में जगद्देव और विग्रहराज चतुर्थ की सगी बहन को इस प्रकार अपमानित होना पड़ा था। पातुर के पुत्र की संतान कुमारपालके साथ अपनी बहन का परिणय किये जाने के लिए माता सुधवा को अनहिलपाटन जाते देखकर चौहान राजकुमार जगद्देव और विग्रहराज ने निश्चित ही अत्यधिक अपमानित अनुभव किया होगा।

चौलुक्य सिद्धराज जयसिंह की राजकुमारी, अर्णोराज की छोटी रानी, कांचनदेवी अवश्य बहुत प्रसन्न हुई होगी, अपनी सौत का संतानों सहित पूर्ण मानमर्दन होते देखकर! उसका दम्भ भी बहुत बढ़ गया होगा। अब चौहान न केवल चौलुक्यों के भृत्य ही थे, वरन् पूर्णतः अपमानित भी हो गये थे। अर्णोराज एक दिन अपनी चौलुक्य रानी के साथ चौसर खेल रहे थे। उन्होंने कहा, "मारय मुण्डिकान् पुनर्मारय मुण्डिकान्"। रानी ने इसे खुले सिर वाले गुर्जर या घुटे सिर वाले श्वेताम्बर गुरु हेमचन्द्र के प्रति संकेत समझा।[2] चौलुक्य-भृत्य अर्णोराज की इस धृष्टता से रानी बहुत क्रुद्ध हुई और कुमारपाल को शाकंभरी पर आक्रमण करने के लिए फिर बुलाया।

कुमारपाल ने सन् ११५० में अजयमेरु पर भीषण आक्रमण किया। अजयमेरु का दुर्ग ध्वस्त कर दिया गया और समस्त सपादलक्ष को लूटा गया तथा चित्तौर-गढ़ पर कब्जा कर लिया गया। अर्णोराज का राज्य तो बना रहने दिया गया तथापि अब उन्हें चौलुक्यों की अधीनता पूर्णतः स्वीकार करनी पड़ी।

अर्णोराज राजा बने रहे, जगद्देव युवराज भी बने रहे। परन्तु जगद्देव की मनो-

---

१. प्रबन्ध-चिन्तामणि के अनुसार हेमचन्द्राचार्य ने यह कह कर कुमारपाल को आशीर्वाद दिया था—"आप कृतज्ञ होकर यह बात न भूलिएगा और जैनानुशासन के भक्त होकर सदा रहिएगा।" पृ० ७८।

२. प्रबन्धकोश, पृ० ५०।

दशा की कल्पना की जा सकती है। उसकी वहन च्युतवंश कुमारपाल की दासी वनी, उसका भावी राज्य चौलुक्यों का सामन्ती प्रदेश वन गया। उस युवक ने अपना क्रोध अपने पिता पर ही निकाला; उसने अर्णोराज की हत्या कर दी।

भारत के राज-परिवारों में कोई युवराज अपने पिता की हत्या राज्य-प्राप्ति के लिए, साधारणत:, नहीं करता था, यह प्रथा तुर्कों में थी। परन्तु जव राजकुमारी जल्हणा के साथ विवशता पूर्वक अपमानजनक रीति से विवाह करने वाले निम्नकुल के कुमारपाल के समक्ष, और, संभवत:, कांचनदेवी के समक्ष, अर्णोराज जीवनदान और राज्यदान के लिए गिड़गिड़ाए होंगे, तव निश्चय ही जगद्देव समस्त विचार-शक्ति खो वैठा होगा और उसने पिता की हत्या कर दी होगी। उसका यह कृत्य उसके छोटे भाई विग्रहराज को बुरा लगा और उसने जगद्देव को मार डाला। जगद्देव का एक पुत्र पृथ्वीभट्ट था। उसे राज्य से निष्कासित कर विग्रहराज चतुर्थ अजयमेरु का राजा वना।

इस संदर्भ में हम विग्रहराज चतुर्थ के इतिहास की घटनाओं का विवरण यहाँ देना उचित नहीं समझते, क्योंकि उसका इतिहास अन्यत्र विस्तार से दिया गया है। यहाँ केवल यही उल्लेख अपेक्षित है कि वि० सं० १२०७ या १२०८ में विग्रहराज दिल्ली या हाँसी की ओर विजय-यात्रा पर गये हों, परिस्थितियों को देखते हुए यह किसी प्रकार संभव ज्ञात नहीं होता। उसकी पहली चिन्ता चित्तौर को मुक्त कराने की तथा चौलुक्यों के हाथ धूल में मिली हुई प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना की रही होगी। यह शक्ति प्राप्त करने के लिए ही विग्रहराज ने अपने समकालीन तोमर सम्राट् मदनपाल की राजकुमारी से विवाह किया; जिससे उसे दो राजकुमार प्राप्त हुए, अपरगांगेय और नागार्जुन।

वि० सं० १२२० या १२२१ (सन् ११६३ या ११६४ ई०) में विग्रहराज की मृत्यु हो गयी।

अनहिलपाटन में सोमेश्वर, कर्पूरदेवी और उनके सहायकों तथा मंत्रियों को इसी क्षण की प्रतीक्षा थी। परन्तु अभी मदनपाल जीवित था, अतएव, वे अपनी योजनाओं को कार्यान्वित न कर सके और विग्रहराज के पश्चात् उसके अवयस्क राजकुमार अपरगांगेय को अजयमेरु का राज्य मिल सका। मदनपाल तोमर की मृत्यु के पश्चात् विग्रहराज के राजकुमारों का कोई समर्थ रक्षक न रहा। जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट्ट ने उपद्रव प्रारंभ किये। सवसे पहले उसने सन् ११६७ ई० में तोमरों के गढ़ हाँसी पर कब्जा कर लिया। उसके पश्चात् सन् ११६८ ई० में अपरगांगेय पर आक्रमण कर उसे मार डाला। विग्रहराज चतुर्थ का दूसरा पुत्र नागार्जुन अपनी माता के साथ सुरक्षा के लिए भाग कर दिल्ली चला गया।

कर्पूरदेवी, कदम्बवास (कैमास) और भुवनैकमल्ल

इस अराजकता का लाभ गुजरात में प्रतीक्षा करने वाले दल ने उठाया। संभवत: उनके भेदियों ने सपादलक्ष के सामन्तों को फोड़ना प्रारम्भ किया और वे किसी समय सदलवल अजयमेरु आगये। आने वालों में थे सोमेश्वर, कर्पूरदेवी, पृथ्वीराज, हरिराज,

महामंत्री कदम्बवास, तथा कर्पूरदेवी के काकाजी भुवनैकमल्ल।

यहाँ हम पुनः स्मरण करादें, अर्णोराज की दो रानियाँ थीं, सुधवा और चौलुक्य राजकुमारी कांचनदेवी। सुधवा की एक राजकुमारी जल्हणा कुमारपाल की सेवा में थी, उसके पुत्र जगद्देव, विग्रहराज तथा एक (अज्ञात) समाप्त हो चुके थे। जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट्ट ने विग्रहराज के एक राजकुमार अपरगांगेय को मार डाला था। अब सुधवा के वंश में एक तो रह गया था पृथ्वीभट्ट और दूसरा विग्रहराज चतुर्थ का राजकुमार नागार्जुन। कांचनदेवी के वंश को इन दोनों से निपटना था।

पृथ्वीभट्ट को तो किसी प्रकार मरवा दिया गया। अब केवल दिल्ली में आश्रय लेने वाला नागार्जुन शेष रह गया।

गुजरात से शाकंभरी आने वाली यह समस्त मण्डली सुधवा के वंश से किस सीमा तक घृणा करती थी, इसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त निर्लज्जता के साथ कुरुचिपूर्ण रूप में 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में की गयी है। बीजोल्या के वि० सं० १२२६ के शिला लेख का मर्म समझा ही नहीं जा सकता, यदि इस काव्य में दिया गया विग्रहराज से सोमेश्वर तक के इतिहास का गंभीरता पूर्वक मनन न कर लिया जाए। तभी ज्ञात हो सकेगा कि उस समय अजयमेरु की राजसभा में की गयी भावाभिव्यक्तियों में किस प्रकार की विषाक्त एवं दूषित भावना कार्य कर रही थी।[1]

विग्रहराज (चतुर्थ) और उसके पश्चात् के शाकंभरी-नरेशों की मृत्यु के आलंकारिक कारण पृथ्वीराज-विजय-काव्य की रचना की मूल भावना को स्पष्ट कर देते हैं। विग्रहराज की मृत्यु का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

अथ भ्रातुरपत्याभ्यां सनाथां जानता भुवम्।
जग्मे विग्रहराजेन कृतार्थेन शिवान्तिकम्॥(८।५३)

"अपने भाई (सोमेश्वर) के दो पुत्रों से पृथ्वी को सनाथ जानने पर विग्रहराज ने अपने को कृतार्थ माना और वह शिव के सान्निध्य में पहुँचा।"

'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के लेखक को यह ज्ञात था कि विग्रहराज के स्वयं के दो राजकुमार थे, वह उन्हें राजा बनाने के लिए उत्सुक था, परन्तु राय पिथौरा के आश्रित इस

---

१. प्राचीन साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, पुरातत्वाचार्य मुनि श्री जिन विजय जी ने "पृथ्वीराज-विजय-काव्य" के रचयिता की स्थिति और उसके 'इतिहास' के स्वरूप का अत्यन्त सटीक एवं निरपेक्ष विवरण दिया है: "जयानक पृथ्वीराज का राजाश्रित एवं राज-सभा-सम्मानित कवि था इसलिए उसका पृथ्वीराज के गुणगान का गुम्फन करना सापेक्ष था। पृथ्वीराज वीर था, अपने पूर्वजों की भूमि और कीर्ति का रक्षण करने में वह सन्नद्ध था, पर साथ में वह विलासमय जीवन का उत्कट अनुरागी था। कवियों द्वारा की जाने वाली सत्य या मिथ्या स्तुति का वह अभिलाषी था। अतः कवि जयानक द्वारा किये गये उसके गुणों का गान एक आश्रित कवि का साभिलाप प्रशस्ति-गान पाठ है।" हम्मीरमहाकाव्य : एक पर्यालोचन, पृ० २६।

चाटुकार ने उसकी मृत्यु का यह अद्भुत कारण खोज निकाला।

विग्रहराज के पश्चात् मरना पड़ा उसके पुत्र अपरगांगेय को। उसका कारण बतलाया गया है—

सुतोप्यपरगांगेयो निन्येस्य रविसूनुना।
उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता ॥(८।५४)

"पृथ्वीराज के द्वारा सूर्यवंश (चौहानवंश) की उन्नति को देखते हुए यमराज ने इस (विग्रहराज) के पुत्र अपरगांगेय को हर लिया।"

आगे मरने की बारी थी पृथ्वीभट्ट की। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार—

प्रत्यानेतुमिवाकाण्डे पूर्णोपि सकलैर्गुणैः।
पितृवैरितनूजोपि प्रतस्थे पृथिवीभटः ॥(८।५६)

"सब गुणों से सम्पन्न, पितृवैरी (जगद्देव) का पुत्र पृथ्वीभट्ट भी (राय पिथौरा को) लाने के लिए प्रस्थान कर गया।"

पृथ्वीराज-विजय-काव्य के लेखक की कलम सोमेश्वर की रानी कर्पूरदेवी पकड़े हुए थी, यह आगे के श्लोकों से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है—

मुक्त्वेति सुधवावंशं गलत्पुरुषमौक्तिकं
देवं सोमेश्वरं द्रष्टुं राजश्रीरुदकण्ठत ॥ ५७ ॥
आत्मजाभ्यामि वयशः प्रतापाभ्यामिवान्वितः।
सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः ॥ ५८ ॥
कर्पूरदेव्यथादाय दानभोगविवात्मजौ।
विवेशाजयराजस्य संपन्मूतिमती पुरीम् ॥ ५६ ॥

"सुधवा के जिस वंश रूपी मुक्तामाला के 'पुरुष रूपी' मोती झड़ कर गिरने लगे उसे छोड़कर राजश्री सोमेश्वर को देखने के लिए उत्कंठित हुई। महामंत्री (कदंबवास), यश और प्रताप रूपी दोनों पुत्रों (पृथ्वीराज और हरिराज) सहित राजा को सपादलक्ष लाए और दान तथा भोग जैसे उन दोनों पुत्रों को लेकर सम्पत्ति की मूर्तिस्वरूप कर्पूर-देवी ने अजयदेव की नगरी (अजयमेरु) में प्रवेश किया।"

'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के प्रयोग समझने योग्य हैं। 'सुधवावंश' के केवल 'पुरुष मोती' गलित हो रहे हैं, यह लिखना आवश्यक था क्योंकि सुधवावंश की 'स्त्री मोती' अथवा उसकी राजकुमारी जल्हणा, किसी रूप में भी हो, कुमारपाल चौलुक्य की अंकशायिनी रह चुकी थी।

'महामात्यैः' पद बहुवचन में है, अतः इसके अर्थ में कदम्बवास, भुवनैकमल्ल के साथ अन्य और 'महामात्य' भी हो सकते हैं, संभवतः इनमें पृथ्वीराज-विजय-काव्य का लेखक भी है। सोमेश्वर और पृथ्वीराज के समय में कदम्बवास और भुवनैकमल्ल ही राजकाज चलाते थे। इन दोनों के गुणों का बखान पृथ्वीराज-विजय-काव्य में किया गया है। उक्त उद्धरण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि अजयमेरु-प्रवेश की इस शोभा-यात्रा का केन्द्र कर्पूरदेवी है न कि सोमेश्वर।

सोमेश्वर की 'व्रतचारिणी' रानी को राज्य और पृथ्वीराज दोनों की रक्षा का दायित्व शीघ्र प्राप्त हो सके, इस कारण पृथ्वीराज-विजय-काव्य के लेखक ने सोमेश्वर को भी 'त्वरा' के साथ अर्णोराज के पास भेज दिया –

ऋणशुद्धि विनिर्माय निर्माणैरीदृशैः पितुः ।
तत्वरे दर्शनं कर्त्तुं परलोकजयी नृपः ।। ७१ ।।
ए [काकिना हि] मत्पित्रा स्थीयते त्रिदिवे कथम् ।
बालश्च पृथ्वीराजो मया कथमुपेक्ष्यते ।। ७२ ।।
[इतीवास्याभिषिक्तस्य रक्षार्थं व्रतचारिणीम् ।
स्थापयित्वां निजां देवीं पितृ]भक्त्या दिवं ययौ ।। ७३ ।।

"परलोक को जीतने की इच्छा वाले राजा ने मंदिरादि निर्माण कराए और इस प्रकार पितृऋण से मुक्त होकर पिता के दर्शन के लिए त्वरा की ।

"मेरे पिता अकेले स्वर्ग में कैसे रहें और बालक पृथ्वीराज की उपेक्षा भी कैसे की जाए, ऐसा विचार कर उसने उसको राज्य सिंहासन पर बैठाया और अपनी व्रतचारिणी रानी पर उसकी रक्षा का भार सौंप कर पितृभक्ति के कारण वह स्वर्गलोक को पधार गया ।"

नयचन्द्र सूरि 'हम्मीरमहाकाव्य' में कुछ और बात कहता है । सोमेश्वर ने अपने जीवनकाल में पृथ्वीराज को राज्य सौंप कर सन्यास ग्रहण कर लिया था । अर्थात्, कर्पूरदेवी को रक्षक बना कर राज्य छोड़ने के लिए उसे विवश किया गया था !

सोमेश्वर से कैसे भी छुटकारा मिला हो, अब कर्पूरदेवी सर्वेसर्वा बन गयी और उनका मार्गदर्शक बना कदम्बवास ।

कर्पूरदेवी के इस कृतित्व को न समझने के कारण अजयमेरु के चौहानों के इतिहास की जानकारी में ही नहीं, भारत के इतिहास की जानकारी में भी, बहुत बड़ी त्रुटि रह गयी है । 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के लेखक ने कर्पूरदेवी की इस मिथ्या प्रशंसा करने के लिए विवश होते हुए भी सत्यान्वेषियों के लिए उसके असली रूप को प्रकट करने वाले संकेत भी पर्याप्त मात्रा में छोड़े हैं । हमें चौहानों का इतिहास नहीं लिखना है, हमारे सामने प्रश्न यह है कि वि० सं० १२२६ की प्रशस्ति और उसके पश्चात् के भीषण प्रचार के पीछे किन कारीगरों का हाथ था । जब कर्पूरदेवी की शोभा-यात्रा अजयमेरु में प्रवेश कर रही थी, उस समय उनके प्रधान मंत्रदाता कदम्बवास (कैमास) थे । जिस प्रकार चाणक्य के लिए 'चानायक चातुरी' का प्रयोग प्रचलित है, उसी प्रकार डॉ० ओझा के अनुसार, राजपूताने में 'कैमास-बुद्धि' कहावत प्रचलित है ।

कैमास-बुद्धि और कर्पूरदेवी की माया

जब कर्पूरदेवी तथा सोमेश्वर अपने दोनों पुत्रों के साथ अनहिलपाटन से अजयमेरु आए तब पृथ्वीभट का तो किसी 'कैमास-बुद्धि' से 'प्रस्थान' करा दिया गया, परन्तु सुधवावंश का एक 'पुरुष मोती' नागार्जुन अभी शेष रह गया था । यह विचित्र बात है कि विग्रहराज चतुर्थ द्वारा दिल्ली-हाँसी लेने की बात 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में नहीं

लिखी गयी हैं, परन्तु कैमास और कर्पूरदेवी के निर्देश से वनायी गयी वि० सं० १२२६ की प्रशस्ति में 'दिल्ली ग्रहण और आशिका लाभ' की वात लिख दी गयी। एक वात और विचित्र है। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में अपरगांगेय के राजा वनने का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु वीजोल्या के उक्त शिलालेख में 'अपरगांगेय' का नाम ही उड़ा दिया गया है। यह सव कुछ अनजाने नहीं हुआ था, इसके पीछे किसी भयंकर षड़यंत्र-वुद्धि की प्रेरणा थी।

डॉ० ओझा ने विग्रहराज चतुर्थ के दूसरे राजकुमार के विषय में लिखा है "यह गुडपुर संभव है दिल्ली के पास का गुडगांव हो और नागार्जुन पहले वहाँ का अजमेर की ओर से शासक हो, क्योंकि उसकी माता भी वहीं रहती थी।"[1] अजमेर का राज्य गुडगांव तक कभी नहीं फैला, और वि० सं० १२२६ में, जव की यह चर्चा है, नागार्जुन अत्यन्त अवोध था; वह शासक या प्रशासक नहीं वन सकता था। उस समय वह अपनी माता देसलदेवी के साथ दिल्ली में था। इसी नागार्जुन की माता को हतप्रभ करने के लिए यह प्रचार प्रारंभ हुआ कि मदनपाल ने न केवल अपनी राजकुमारी का विवाह ही विग्रहराज चतुर्थ के साथ किया था, वरन् अपना साम्राज्य भी उसे अर्पित कर दिया था। विग्रहराज ने तुरुष्कों को पराजित करने में मदनपाल की सहायता की थी, और यह युद्ध हाँसी के पास हुआ था इस कारण "आशिकालाभलंभितः" प्रयोग गढ़ा गया। हाँसी के युद्ध के पश्चात् दिल्ली में देसलदेवी और विग्रहराज का विवाह हुआ था, इस कारण जोड़ा गया "ढिल्लिकाग्रहणश्रांतम्", और समस्त श्लोक इस रूप में गोलमाल कर दिया गया कि फिर उसका कोई अर्थ ही न निकाला जा सके।

ज्ञात यह होता है कि वि० सं० १२२६ के शिलालेख को उत्कीर्ण कराने के पश्चात् यह कूटनीतिक प्रचार अनेक रूपों से किया गया। अजयमेरु के प्रचारक भाट-व्यास आदि ने यह चिल्लाना प्रारंभ कर दिया "दिल्ली चौहानों की", "दिल्ली चौहानों ने ले ली", "दिल्ली तोमरों की नहीं रही"। आधुनिक शब्दावलि में 'मध्य-युगीन गोयवल्स' का प्रचार-युद्ध प्रारंभ हुआ।

उसके पश्चात् ही विचित्र संयोग यह हुआ कि दिल्ली का सम्राट् हुआ पृथ्वीराज तोमर और अजयमेरु के राजा वने वालक पृथ्वीराज चौहान। फारसी इतिहासों में इन दोनों को "राय पिथौरा" ही लिखा गया है, और यह विभेद करना असंभव हो गया है कि उनमें से कौन तोमर है और कौन चौहान। इन दोनों के नाम-साम्य के कारण आगे की शताव्दियों में उक्त मिथ्या प्रचार पूर्ण कारगर हो गया।

इस प्रचार का परिणाम एक शताव्दी के पश्चात् वि० सं० १३३७ (सन् १२८० ई०) के पालम की वावड़ी के शिलालेख में लिखा मिलता है[2]—

अभोजितोमरैरादौ चौहाणैस्तदनंतरम्।
हरयानकभूरेषा शकेन्द्रैः शास्यतेऽधुना॥

---

१. अनंद विक्रम संवत् की कल्पना, पृ० ४०९।

२. ज० ए० सो० वं०, भाग ४३, पृ० १०४।

दिल्ली के पास ही सारवन नामक एक ग्राम में वि० सं० १३८४ (सन् १३२८ ई०) के एक शिलालेख[1] में लिखा मिलता है—

देशोऽस्ति हरियानाख्यः पृथिव्यां स्वर्गसन्निभः
ढिल्लिकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता।
तोमरानन्तरं तस्यां राज्यं हितकंटकम्
चाहमाना नृपाश्चक्रः प्रजापालन तत्परा :॥

"पृथ्वी पर हरियाना स्वर्गतुल्य देश है, जहाँ तोमरों द्वारा निर्मित दिल्ली नामक पुरी है। तोमरों के अनन्तर कण्टकों को दूर कर प्रजा के पालन में तत्पर चाहमान राजाओं ने वहाँ राज्य किया।"

ये शिलालेख उन व्यक्तियों ने उत्कीर्ण कराए थे जिन्हें यह अनुमान भी नहीं था कि भारत की महान कूटनीतिज्ञ राजमहिषी कर्पूरदेवी और महामंत्री कैमास इस मिथ्या प्रचार के सृष्टा हैं।

इतनी बड़ी झूठ का इस दिलेरी के साथ सफलता-पूर्वक प्रचार करने का उदाहरण संसार के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। महारानी कर्पूरदेवी को इतने बड़े कार्य का श्रेय न देने के कारण भारत की इस महान कूटनीतिज्ञ नारी का चित्र ही उभर न सका।

तुर्कों के राज्यकाल में भारत के इतिहास को व्यवस्थित रूप से जानने के प्रयास कम ही हुए हैं। वह हिन्दुओं के बौद्धिक-विभ्रम का युग था। यद्यपि चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में कुछ इतिहास विषयक ग्रन्थ लिखे गये तथापि मुगलों के आगमन के पश्चात् ही हिन्दुओं में पुनः नवजागरण उत्पन्न हुआ था और अपना पुराना इतिहास, विशेषतः नवीन साम्राज्य की राजधानी दिल्ली का इतिहास, जानने की इच्छा जाग्रत् हुई थी। परन्तु तब देर हो चुकी थी। "तोमरों-से-चौहानों-से-तुर्क" वाणी जनमानस में गहरी प्रविष्ट हो गयी थी। चौहानों के भाटों ने उसे संभवतः जानबूझकर स्थायित्व देना उचित समझा। खीची चौहानों के भाट मूकजी ने ऐसी ही दिल्ली के राजाओं की वंशावलि बनाकर अल्लामा अबुलफजल को धोखे में डाल दिया।[2] संभव है कि मूकजी यह जानता हो कि पृथ्वीराज नाम के समकालीन तोमर और चौहान राजा हुए थे, संभव है, उस समय तक यह बात पूर्णतः भुलाई जा चुकी हो।

अबुलफजल द्वारा प्रस्तुत वंशावलि तथा अन्य वंशावलियों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इस बात पर वे सब एकमत हैं कि दिल्ली के तोमरों के लगभग २१ राजा हुए थे, उन्हें यह भी सुनिश्चित रूप से ज्ञात था कि सन् ११९२ में शहाबुद्दीन ने दिल्ली जीत ली थी, परन्तु उनके गणित उस समय कुण्ठित हो जाते थे जब उन्हें बीसलदेव से राय पिथौरा तक के चौहान राजाओं को भी दिल्ली की राजावलि में फँसाना पड़ता था। उनके द्वारा चाहड़पाल का तो नाम ही उड़ा दिया गया और फिर जैसा बना वैसा इतिहास या विगतें बना डालीं।

---

१. एपी० इण्डि, भाग १, पृ० ९६।
२. आर्को० सर्वे० रिपोर्टस्, भाग १, पृ० १४२।

परिच्छेद ६

पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो मध्ययुग के राजनीतिक और साहित्यिक इतिहास की बहुत बड़ी समस्या रहा है। एक समय था जब उसे राजपूतों के इतिहास का प्रमुख स्रोत और हिन्दी साहित्य का आदिकाव्य माना जाता था। उसकी शैली और रचना-विधा को दृष्टि में रखकर हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में आदियुग का नाम ही "वीरगाथा-काल" रखा गया था। रासो के रचनाकार भाट या भाटों ने यह भ्रम उत्पन्न किया कि वह पृथ्वीराज चौहान की समकालीन रचना है, अतएव वह प्रामाणिक इतिहास भी माना गया।

राजस्थान के इतिहास के उन्नीसवीं शताब्दी के अन्वेषक लैफ्टिनेण्ट कर्नल टॉड ने रासो को अपने ऐतिहासिक विवेचन का आधार बनाया था, परन्तु जैसे-जैसे तत्कालीन राजवंशों के शिलालेख तथा अन्य ऐतिह्य सामग्री प्रकाश में आने लगी रासो से प्राप्त इतिहास की प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध होती गयी और अन्ततोगत्वा उसे इतिहास-सामग्री के रूप में व्यर्थ माना जाने लगा और यह स्वीकार किया जाने लगा कि वह राय पिथौरा के समकालीन कवि की रचना न होकर परवर्ती रचना है। हिन्दी साहित्य में भी रासो का स्थान विचलित हो गया। इस परिणाम तक पहुँचने के लिए भी विद्वानों में भीषण वाग्युद्ध हुआ था। अब यह तो माना जाने लगा है कि रासो परवर्ती रचना है और इतिहास के रूप में अप्रामाणिक है, तथापि कहीं-कहीं यह कथन अवश्य किया जाता है कि रासो में 'कुछ-न-कुछ' प्राचीन अवश्य है, यानी पूरा रासो नहीं, तब कुछ तो बारहवीं शताब्दी में लिखा ही गया था; स्यात्, उस कुछ-न-कुछ का लिखनेवाला भी चन्द भाट था, जो राय पिथौरा का समकालीन था।

पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह और पृथ्वीराज रासो

इस पिछली विचारधारा का जन्म सन् १९३६ ई० में मुनि श्री जिनविजयजी द्वारा 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' के प्रकाशन से हुआ था। मुनिजी ने उक्त प्रबन्ध-संग्रह के 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' और 'जयचन्द-प्रबन्ध' के तीन छन्द पृथ्वीराज रासो के वृहत् संस्करण में भी होना लिखा है और निष्कर्ष निकाला है[1] "इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दु सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

---

१. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह (सिंघी जैन-ग्रन्थमाला), पृ० ९।

पहले यह निश्चित होना आवश्यक है कि ये 'पृथ्वीराज-प्रबन्ध' और 'जयचन्द-प्रबन्ध' कब रचे गये और उनमें कितना इतिहास है? इनका प्रतिलिपि-काल वि० सं० १५२८ (सन् १४७१ ई०) के पूर्व का नहीं है। दूसरी भयंकर बात यह है कि जयचन्द-प्रबन्ध का छन्द निश्चय ही जल्ह नामक कवि का है "जइचंद न जाणउ जल्हु कइ गयउ कि मुउ कि धरि गयउ।" रासो के संग्रहकार ने जल्ह का नाम हटाकर वहाँ 'कविचंद कहि' कर दिया।[1] यह बात रासो का परवर्ती होना अवश्य सिद्ध करती है और उसकी रचना-विधा पर भी प्रकाश डालती है।

मुनि श्री जिनविजय जी के इस कथन से किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि राय पिथौरा के समान किसी चन्द भाट का भी अस्तित्व, राय पिथौरा के समय में ही, था; सोलहवीं शताब्दी के सूरजदास या सूरदास भी साहित्यलहरी में अपने आपको चन्द-भट्ट का वंशज प्रकट करते हैं तथा चन्द को राय पिथौरा का आश्रित भी बतलाते हैं। चंद के वंशज आगे हम्मीरदेव के भी साथ रहे, यह भी सूरदास का कथन है। राजपूत-राज-सभा भट्ट या पंडित-व्यास के बिना अधूरी ही मानी जाएगी, ऐसी दशा में राय पिथौरा का समकालीन भाट चन्द हो सकता है। उस भट्ट ने समय-समय पर राजा के कीर्तिकलाप के वर्णन में बहुत कुछ सुनाया भी होगा, इसमें भी सन्देह नहीं, उसे वृत्ति इसके लिए ही मिलती थी। परन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब यह कहा जाता है कि उसी भाट ने पृथ्वीराज रासो, वृहत्, लघु, लघुतर या लघुतम रूप में लिखा था।

'पृथ्वीराज-प्रबंध' के दो छन्द, जो रासो में पाये जाते हैं वे स्पष्टतः 'द्वारभट्ट चन्द बलिद्दिक' की रचनाएँ नहीं हैं, वे किसी अज्ञात कवि के राय पिथौरा और कैमास के आख्यान के अंश हैं जिसका एक पात्र 'द्वारभट्ट चन्द बलिद्दिक' भी था। पुरातन-प्रबंध-संग्रह में उद्धृत छन्दों से केवल यह सिद्ध होता है कि किसी जल्ह नामक भाट ने जयचन्द्र के विषय में कुछ लिखा था और किसी अज्ञात कवि ने पृथ्वीराज चौहान और उनके मंत्री कैमास के आख्यान पर भी कुछ लिखा था, और वह सब संभवतः पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व लिखा था, पर वास्तव में कब लिखा था यह ज्ञात नहीं।

परन्तु वर्तमान सन्दर्भ में पृथ्वीराज रासो के रचनाकार या उसके रचनाकाल का विवेचन और निर्धारण बहुत उपयोगी नहीं है। उसे किसी भट्ट या भट्ट-वंश ने लिखा या संग्रहीत किया, इसमें कोई सन्देह नहीं, उसकी अनेक प्रतियाँ मिली हैं, जो उसके गढ़े जाने के स्थूल प्रमाण हैं।

आख्यान काव्यों की परम्परा

ईसवीं चौदहवीं-पन्द्रवीं शताब्दी में पौराणिक और धार्मिक आख्यानों या काव्य-महाकाव्यों के लेखन के साथ-साथ निकटभूत की ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बना कर आख्यान-काव्य लिखने की परम्परा पर्याप्त प्रचलित दिखाई देती है। इनमें से कुछ उपलब्ध उदाहरण नयचन्द्र सूरि का हम्मीरमहाकाव्य (रचनाकाल लगभग सन् १४१० ई०), श्रीधर व्यास का रणमल्ल छन्द (रचनाकाल लगभग सन् १४१० ई०), महाकवि

१. उस युग में यह बहुत हुआ है।

विद्यापति द्वारा रचित कीर्तिलता (रचनाकाल लगभग १४२०ई०), नागर ब्राह्मण पद्मनाभ का कान्हड़दे प्रवन्ध (रचनाकाल १४५५ ई०), दामोदर का लखनसेन-पद्मावतीरास (रचनाकाल सन् १४५९ ई०), नरपति व्यास का वीसलदेवराज (रचनाकाल अनिश्चित), नारायणदास का छिताई चरित (रचनाकाल लगभग १४८० ई०); जायसी का पदमावत कभी सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (सन् १५२१ से १५४८ के बीच) लिखा गया था। विद्यापति की कीर्तिलता को छोड़कर अन्य सभी आख्यान-काव्यों में विशुद्ध इतिहास की खोज व्यर्थ है। विद्यापति भी घटनाक्रम का वर्णन सही रूप में इस कारण प्रस्तुत कर सके, क्योंकि वे वास्तव में अपने आख्यान-नायक के समकालीन थे और उन्होंने स्वयं उन अधिकांश घटनाओं को देखा था जिनका उन्होंने वर्णन किया है। कान्हड़दे प्रवन्ध के कवि ने अपने कथानक में कल्पना का संमिश्रण पर्याप्त मात्रा में किया है। अलाउद्दीन खलजी की राजकुमारी "सीताई" और कान्हड़देव के राजकुमार वीरमदेव की प्रणय-कथा कल्पना-प्रसूत ही ज्ञात होती है। जिन इतिहासकारों ने पृथ्वीराज रासो के संयोगिता-पृथ्वीराज प्रेमाख्यान को वास्तविक घटना माना है वे भी सीताई-वीरम प्रेमाख्यान को ऐतिहासिक घटना कहने में संकोच करते हैं। नयचन्द्र ने राय पिथौरा की पराजय का जो कारण खड़ा किया है, वह भी वास्तविकता से वहुत दूर दिखाई देता है। नारायणदास ने अलाउद्दीन में जिस संयम और धर्मभावना का आरोपण किया है वह कहाँ तक सत्य है, यह कहना कठिन है। फिर भी नयचन्द्र, श्रीधर व्यास, पद्मनाभ और नारायणदास में ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने की पर्याप्त इच्छा ज्ञात होती है। इसके ठीक विपरीत है वीसलदेव रास, लखनसेन पद्मावती रास और पृथ्वीराज रासो।

पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) को नायक बना कर लिखा गया विशुद्ध आख्यान काव्य है। उसकी नायिका है कन्नौज के सम्राट् जयचन्द्र की राजकुमारी संयोगिता। रासोकार को पृथ्वीराज चौहान के राष्ट्रनायकत्व की भावना नयचन्द्र सूरि के हम्मीरमहाकाव्य से प्राप्त हुई थी। रासोकार भाट यह अवश्य जानता था कि पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द्र में शत्रुता थी। अपने कथानायक के शत्रु की राजकुमारी को कथानायक या उसके राजकुमार पर अनुरक्त कराने की कथा-रूढ़ि इस भाटवंश को विप्र पद्मनाभ से प्राप्त हुई थी, जिसने कान्हड़दे के प्रतिद्वन्दी अलाउद्दीन की राजकुमारी को उसके राजकुमार पर अनुरक्त करा दिया और फिर उस तुर्क-कुमारी को सती भी करा दिया। रासोकार भाटवंश अपनी कला में अधिक दक्ष था। उसने घटनाओं का ऐसा ताना-वाना पूरा और प्रत्येक घटना की स्थापना तिथि-संवत् देकर इतनी दृढ़ता और निर्भीकता से की कि उसके कथन पर एकाएक अविश्वास करने का कारण ही शेष नहीं रहता। वास्तविकता यह है कि पृथ्वीराज रासो इतिहास के कुछ व्यक्तियों के नामों को कथारूढ़ि के रूप में उपयोग किया गया मात्र आख्यान-काव्य है। हिन्दी में इस प्रकार के आख्यान-काव्य वहुत लिखे गये थे, उनमें से कुछ ही प्राप्त हो सके हैं, शेष सव नष्ट हो गये। वीसलदेव रास तथा लखनसेन पदमावती रास इसी

परम्परा की रचनाएँ हैं। इन सब रचनाओं में दो-चार शताब्दियों के अन्तराल से हुए राजाओं के नाम एकत्रित करने की विधा को अपनाया गया है। उनमें इतिहास से कुछ व्यक्तियों के नाम ही ग्रहण किये गये हैं, कुछ घटनाओं को भी कभी-कभी ग्रहण किया गया है, शेष सब कुछ काल्पनिक है।

इस प्रकार के आख्यान-काव्यों की परम्परा भारत में उस युग के परम मेधावी अमीर खुसरो ने प्रारम्भ की थी। इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण से उसने तुर्कों को प्रिय लगने वाले नुस्खे फारसी में लिखे। उसी परम्परा में राजपूतों के मनोभावों को दृष्टि में रखकर शहाबुद्दीन गौरी तथा अलाउद्दीन खलजी को प्रतिनायक या खलनायक बनाकर भाटों और व्यासों ने आख्यान लिख डाले। इनकी प्रतिक्रिया स्वरूप फिर ऐसे आख्यानों की भी सृष्टि हुई जिसमें रायों की बेटियाँ सुल्तानों के प्रेम में विह्वल अथवा पुंश्चली दिखाई गई। इसी परम्परा के उपलब्ध परिमार्जित रूप दाऊद का चन्दायन और जायसी का पद्मावत हैं। यह परम्परा आगे भी चलती ही रही।

रासो का मूल उद्देश्य

पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो या लखनसेन पद्मावती रास जैसे आख्यान-काव्यों का एक सुनिश्चित उद्देश्य ज्ञात होता है। प्रतीहारों के साम्राज्य के उदय के साथ ही उत्तरी भारत पर आधिपत्य करने की जो स्पर्धा प्रारम्भ हुई थी, वह ईसवी दसवीं शताब्दी के अन्त तक अत्यन्त उग्र रूप में चलती रही। भारत के राजपुत्र आपस में खूब लड़े, पुराने राज्य मिटते रहे, नये स्थापित होते रहे। उनके राजनीतिक स्वार्थ भिन्न थे, तथापि उनमें सांस्कृतिक एकता थी। सभी परशुराम, राम, कृष्ण, शिव, शक्ति आदि के आराधक थे और भारत के तीर्थों के पोषक थे। अरबों के आक्रमण ने इस सांस्कृतिक एकता को पहला धक्का दिया, परन्तु उसे राजपूत-तन्त्र किसी सीमा तक झेल गया। महमूद ने उसे गहरी ठेस पहुँचाई, सुबुक्तगीन और शहाबुद्दीन ने उस तन्त्र को चूर-चूर कर दिया। जब भारत का प्रहरी, क्षत्रियवर्ग, सामरिक पराजयों से त्रस्त हुआ और भारत के श्रद्धापीठ ध्वस्त होने लगे तब भारतीय समाज का चिन्तन विश्रृंखल हो गया। सन् ११९२ ई० की पराजय और उसके कुछ वर्ष पश्चात् की घटनाएँ भारत के जन-साधारण को स्तब्ध कर देने वाली थीं। राजपूतों, राजाओं और उनके सहयोगियों के पलायन का युग प्रारम्भ हुआ था। परन्तु यह दुर्दशा अधिक दिन नहीं चली और राजपूतों ने पुनः संगठित होने के प्रयास प्रारम्भ किये। भारतीय समाज में भी नवीन परिस्थितियों का डटकर सामना करने की भावना उदित हुई। तथापि निकट-भूत का इतिहास इतना अप्रिय और ग्लानिकारक था कि उसे ज्यों-का-त्यों निगलने में राजपूतों को तथा समाज के अन्य घटकों को भी अरुचि उत्पन्न होने लगी। विशुद्ध इतिहास से मुख मोड़ अस्पष्ट कूट-कथन और आख्यायिकाओं की ओर ध्यान जाना अनिवार्य था। कुछ कवियों ने पौराणिक आख्यान, राम और कृष्ण की कथाओं की ओर ध्यान दिया। जिन भाटों और व्यासों का धन्धा ही राजपूत राजा और सैनिकों का मनोरंजन करना था उनके द्वारा छत्तीसकुली क्षत्रियों से सम्बन्धित आख्यानकाव्य लिखे गये और उन्हें गा-गा कर सुनाए गए।

उस युग के हिन्दुओं के लिए जो भी शक्ति तुर्कों का अवरोध कर सकती थी वह राष्ट्रीयता का प्रतीक मानी जाती थी, जो राजा तुर्कवाहिनी से संग्राम करने में शौर्य प्रदर्शन करता था उसकी राष्ट्रीय वीर के रूप में अभ्यर्थना की जाने लगती थी। मन्दिर, गौ, ब्राह्मण, अबला और बालकों के प्रतिपालन में जिसने भी शौर्य दिखाया उसे लोक-गीतों, काव्यों और महाकाव्यों का नायक बनाया गया। हम्मीरदेव ने इस दिशा में अत्यंत तेजस्वी उदाहरण प्रस्तुत किया था, अतएव चौदहवीं शताब्दी में उन्हें राष्ट्र-नायक माना गया। नयचन्द्र सूरि ने हम्मीरदेव को नायक बनाकर हम्मीरमहाकाव्य लिखा था। हम्मीर चौहान के पूर्वज होने के नाते नयचन्द्र ने पृथ्वीराज चौहान को भी महत्व दिया और क्योंकि वे भी तुर्कों से लड़े थे, इस कारण उन्हें भी राष्ट्र-नेता के रूप में प्रस्तुत किया।[1] नयचन्द्र का पृथ्वीराज इसी कारण इतिहास से बहुत दूर है, यद्यपि उसका हम्मीर का चित्र इतिहास-सम्मत है। नयचन्द्र ने परवर्ती कवियों के लिए पृथ्वीराज चौहान को राष्ट्र-नायक बनाकर आख्यान काव्य लिखने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह विचार करने की बात है कि नयचन्द्र सूरि के पूर्व पृथ्वीराज चौहान को राष्ट्र-नायक मानकर लिखा गया कोई लोकगीत, आख्यानकाव्य या महाकाव्य प्राप्त नहीं होता। रणमल्ल छन्द या कान्हड़दे प्रबन्ध में भी पृथ्वीराज चौहान के लिए एक शब्द भी प्रशंसा का नहीं है, यद्यपि उनमें हम्मीरदेव का स्मरण राष्ट्र-नायक के रूप में किया गया है।

सन् ११९२ ई० की पराजय राजपूतों के लिए अत्यन्त ग्लानिकारक घटना थी। उसके परिणामस्वरूप उनका, राजशक्ति के रूप में, अस्तित्व ही संकट में आ गया था। नयचन्द्र सूरि से प्रेरणा प्राप्त कर रासोकार ने उसी घटना को अपने आख्यान-काव्य के लिए अपनाया था। परन्तु वास्तव में राय पिथौरा ने उस युद्ध में कोई पराक्रम तो दिखाया नहीं था अतएव उसका कार्य बहुत कौशल की अपेक्षा करता था। उसने पृथ्वीराज चौहान की पराजय का प्रमुख कारण भाग्य अथवा नियति को माना, और अपने कथानायक में अलौकिक शौर्य की स्थापना कर दी। अपने कथानायक को रणक्षेत्र में ही सेज-सुख लेने वाला और अन्ततोगत्वा पलायन करने का प्रयास करने वाला अंकित करने से उसके आख्यान का रस-भंग हो जाता तथा नायक का स्वरूप ही विकृत हो जाता, अतएव उसने राय पिथौरा की पराजय और मृत्यु का विवरण ही बदल दिया। प्रति-नायक शाहबुद्दीन ने दिल्ली को अपने साम्राज्य की राजधानी बनायी थी, अतएव नायक राय पिथौरा की राजधानी भी दिल्ली ही बनायी गयी। परन्तु रासोकार का उद्देश्य दूसरा ही था। वह राजपूतों को यह आश्वासन देना चाहता था कि जिस प्रकार नियति का यह खेल है कि राय पिथौरा जैसा पराक्रमी भी दिल्ली का साम्राज्य खो बैठा उसी प्रकार नियति का यह भी विधान है कि मेवाड़पति पुनः दिल्ली सम्राट् बनेंगे और भारत में फिर रजपूती फैल जाएगी। भविष्यवाणी बड़ी आशाप्रद थी, परन्तु कभी फलवती न हुई।

---

१. आगे परिच्छेद ३५ में 'नयचन्द्र सूरि' शीर्षक के अन्तर्गत भी देखें।

यह भविष्यवाणी कर रासोकार ने यह भी बतला दिया कि उसकी रचना का समय क्या है। तोमर गये, चौहान गये, "पुनि-पुनि" तुरकाना भी हो गया, अब दिल्ली का दावा करने योग्य राजपूतों में केवल मेवाड़पति रह गये थे। यह समय राणा संग्रामसिंह के पूर्व का नहीं हो सकता।

पृथ्वीराज रासो के अब तक अनेक रूप में अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। सबसे विशाल संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ था। फिर एक असली पृथ्वीराज रासो भी प्रकाशित हुआ।[१] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' प्रकाशित किया[२], परन्तु वह संक्षेप किन सिद्धान्तों पर किया गया, यह प्रकट नहीं होता। अनेक प्रतियों के आधार पर डॉ० वेणीप्रसाद शर्मा ने 'पृथ्वीराज रासो' का लघु संस्करण प्रकाशित किया।[३] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वीराज रासउ' नाम से एक लघुतम संस्करण भी प्रस्तुत किया।[४]

पुरातत्व और प्राचीन साहित्य के महान विद्वान मुनिश्री जिनविजयजी ने पृथ्वीराज रासो के विषय में लिखा है कि अब तक उसके विषय में बहुत कुछ लिखा गया है, वह 'बहुचर्चित और बहुचर्वित' है[५], परन्तु पृथ्वीराज रासो में कुछ-न-कुछ प्राचीन होने के विचार के जनक भी मुनिजी ही हैं, अतएव दिल्ली के तोमरों के इतिहास के सन्दर्भ में उसके पुरानेपन पर तथा उसके व्यापक प्रभाव पर विचार करना अथवा चर्वितचर्वण करना आवश्यक हुआ। डॉ० वेनीप्रसाद शर्मा द्वारा प्रस्तुत पृथ्वीराज रासो का लघु संस्करण एक ऐसी प्रति से तैयार किया गया है जो अकबर के मंत्री कर्मचन्द के पुत्र भागचन्द के पठनार्थ लिखी गयी थी। अनुमान यह है कि यह प्रति सन् १६०० ई० के आस-पास की है। पृथ्वीराज रासो निश्चय ही सन् १६०० ई० के पूर्व की रचना है।

रासो के इस संस्करण के अनुसार राय पिथौरा को दिल्ली का राज्य अनंगपाल तोमर ने दिया था। अनंगपाल के कोई सन्तान नहीं थी अतएव उसने अपनी पुत्री के पुत्र पृथ्वीराज चौहान को दिल्ली का राज्य अर्पित कर दिया और स्वयं बदरिकाश्रम में तपस्या करने चला गया। निश्चय ही रासोकार को भी वे अनुश्रुतियाँ प्राप्त हुई होंगी, जिनमें चौहानों द्वारा तोमरों से दिल्ली जीतने का उल्लेख था। रासोकार-भाटवंश के यजमान तोमर भी थे और चौहान भी, अतएव उसने दोनों को प्रसन्न करने का मार्ग अपनाया, तोमरों से चौहानों ने दिल्ली ली अवश्य, परन्तु विग्रह द्वारा नहीं, दान में ली[६]—

---

१. मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर (१६३८ ई०)।
२. साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद (१६५८ ई०)।
३. विश्वभारती प्रकाशन, चण्डीगढ़ (१६६३ ई०)।
४. साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी (१६६३ ई०)।
५. हम्मीरमहाकाव्य: एक पर्यालोचन, पृ० २५।
६. पृथ्वीराज रासो, लघु संस्करण, पृ० ३६।

जुग्गिनि पुर चहुवांन दिय, पुत्तिय पुत्त नरेस।
अनंगपाल तोंवर तिन्ने किय तीरथहं प्रवेस ॥

इतनी कथा सुनाने के पश्चात् ही रासोकार भाट अपने आख्यान-काव्य के मूल उद्देश्य को स्पष्ट करने लगा—

अनंगपाल पुच्छहि नृपति, कहहु भट्ट धरि ध्यांन।
किहि संवत मेवारपति वंघलियो सुरतान ॥
सोरह सै तेसठि गहित विक्रम साक अतीत।
ढिल्ली धर मेवार पति लेई खग्ग बर जीति ॥

प्रश्न यह उठता है कि अनंगपाल तो राज्य देकर तीर्थ में प्रवेश कर गया, फिर यह कौन सा अनंगपाल है जो भट्ट से प्रश्न करता है कि मेवाड़पति किस संवत् में सुल्तान को वन्दी वनाकर दिल्ली-विजय करेंगे? हमारा अनुमान है कि यह भाट अपनी यह तोमर-कथा किसी तोमर राजा या सामन्त को ही सुना रहा था जो दिल्ली के राजवंश का ही था। इस कारण भाट ने उसे भी 'अनंगपाल' नाम से संवोधित किया। अनंगपाल शायद दिल्ली के तोमर-सम्राटों का विरुद माना जाने लगा था और इस तोमर राजा या सामन्त को भी सम्मान देने के लिए भाट ने उसे अनंगपाल नाम से सम्वोधित किया। उस तोमर राजा के प्रश्न का उत्तर भाट ने यह दिया कि वि० सं० १६६३ के पश्चात् कभी मेवाड़पति दिल्ली-विजय करेंगे।

यह भविष्य-कथन किसी ऐसे समय में किया गया होगा जव राजपूतों में दिल्ली-विजय की आकांक्षा जीवित थी और उसकी कुछ संभावना वनी हुई थी। ऐसी परि-स्थितियाँ मेवाड़ में राणा संग्रामसिंह के समय में ही आयी थीं। उनके साथ ऐसा तोमर राजा भी था जो इस प्रकार की भविष्यवाणियों से प्रसन्न हो सकता था। ग्वालियर के सलहदी के पुत्र भूपति से राणा की राजकुमारी का विवाह हुआ था और सलहदी स्वयं राणा का प्रवल समर्थक था। राणा संग्रामसिंह, सलहदी तोमर और मेदिनीराय चौहान ने दिल्ली-विजय की आकांक्षा से प्रेरित होकर प्रवल राजपूत-संघ बनाया था। ज्ञात यह होता है, रासो की यह तोमर-कथा सलहदी तोमर को सुनाने के लिए ही रासोकार भाट ने संग्रह की थी।

यह भी संभव नहीं है कि रासो का कोई अंश इसके पूर्व लिखा गया हो, क्योंकि राय पिथौरा द्वारा दिल्ली प्राप्त करना ऐसी घटना है जिसके विना पृथ्वीराज रासो का कथानक आगे नहीं वढ़ सकता।

ऊपर के पद्य का संवत् विषयक पाठ असंदिग्ध नहीं है। वह पाठ डॉ० वेनी-प्रसाद शर्मा को प्राप्त एक प्रति में ही है। रासो के इस छन्द को आगे "इन्द्रप्रस्थ-प्रवन्ध" में भी उद्धृत किया गया है, उसमें उसका स्वरूप दूसरा है[1]—

---

१. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, पृ० १७।

मांडव निकंद दिल्ली धरा, एक राव जीव जगवै ।
नवसत अंत मेवाड पति, एक छत्र महि भोगवै ॥

भविष्यवक्ताओं की रूढ़ि के अनुसार संवत् का उल्लेख अस्पष्ट और कूट ही किया गया ।

'रासउ' का लघुतम संस्करण

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने "पृथ्वीराज रासउ"[1] के नाम से जो लघुतम संस्करण सम्पादित कर प्रकाशित किया[2] है वह दो प्रतियों पर आधारित है, एक वि० सं० १६६७ (सन् १६१० ई०) की उतारी हुई है और दूसरी वि० सं० १६९७ (सन् १६४० ई०) की है। ज्ञात यह होता है कि ईसवी सत्रहवीं शताब्दी में ही इतिहास के रूप में रासो को अप्रामाणिक माना जाने लगा था और जब कुछ व्यक्तियों के पठनार्थ उसकी वाचनाएँ लिखी जाने लगीं तब उन्हें सम्पादित और संक्षिप्त किया जाने लगा तथा उसके अप्रामाणिक समझे जाने वाले संवत् भी हटा दिये गये। इसी प्रकार परिमार्जित और संशोधित ये पाठ हैं जिनके आधार पर यह रासउ-पाठ तैयार किया गया है। परन्तु इस पाठ की एक विशेषता ध्यान आकर्षित करती है। इसमें केवल एक छन्द में ही यह संकेत कर दिया गया है कि राय पिथौरा यानी पृथ्वीराज चौहान दिल्लीपुर में भासित होने के लिए ही अवतरित हुए थे। वहाँ वे किस प्रकार 'भासित' हो गये इसका संकेत इस पाठ में नहीं है। इस वाचना का सत्रहवीं शताब्दी का सम्पादक केवल यह संकेत करता है[3]—

राजं जा अजमेरि केलि कविरं वृत्ता रता संभरि ।
दुद्धारा भर भार नीर वहनो दहनो दुरग्गो अरि ।
सोमेसुर नर नंद दंग गहिला वहिला वनं वासिनं ॥
निर्मानं विधिना त जान कविना ढिल्ली पुरं भासिनं ॥

इस छन्द का जो अर्थ इस पाठ के विद्वान सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने दिया है वह एक अद्भुत तथ्य प्रकट करता है। डॉ० गुप्त ने लिखा है—

"जिस राजा की कपिल (धूलधूसरित) केलि अजमेर में हुई, जिसके अनुरागपूर्ण वृत्त साँभर में हुए, जिसकी दुधारा (दो धारों का खड्ग) उस भारी भट के नीर (उसकी कांति) को वहन करता था, और शत्रुओं के दुर्गों को दग्ध करने वाला था, वह नर (पौरुषयुक्त) सोमेश्वर का पुत्र, जो दंग गहिल (युद्ध के लिए पागल) रहा करता था, जो वहिलावन का निवासी था, वह विधाता के द्वारा, मानो कवि के द्वारा, दिल्लीपुर में भासित (द्योतित) होने के लिए ही बनाया गया था।"

१. 'रासो' और 'रासउ' में कोई अन्तर नहीं है, केवल वर्तनी का भेद है। ईसवी सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की प्रतिलिपियों में भी 'दासो' के लिए 'दासउ' लिखा मिलता है।
२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त : पृथ्वीराज रासउ (साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।)
३. वही, पाठ-भाग, पृ० ६।

यह छंद है तो लघुपाठ में भी[1], तथापि उसकी चौथी पंक्ति कुछ भिन्न है। रासउ-पाठ का सत्रहवीं शताब्दी का सम्पादक, स्यात् यह स्पष्ट कर देना चाहता था कि राय पिथौरा का दिल्ली में भासित होना केवल कवि-कल्पना है, वह वास्तव में कभी दिल्ली में भासित नहीं हुआ था, केवल दूसरे विधाता, भाट, ने उसे वहाँ भासित कर दिया ? यह आशय, संभवतः, सत्रहवीं शताब्दी के सम्पादक का न भी हो। ज्ञात यह होता है कि इस वाचना या पाठ को सत्रहवीं शताब्दी के उसके सम्पादक ने संक्षिप्त करते समय कहीं-कहीं पाठ भी बदल दिया, कुछ अंश निकाल दिये और अप्रामाणिक तिथियों को भी हटा दिया। सत्रहवीं शताब्दी के रासो के इस सम्पादक की बुद्धिमत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने राय पिथौरा के साथ ही चन्दवरदायी की मृत्यु नहीं दिखाई और इस आक्षेप को भी दूर कर दिया कि मरने के पश्चात् चन्द अपनी मृत्यु का वृत्तान्त कैसे लिख सका होगा। केवल इस कारण कि यह पाठ सबसे छोटा है, यह मानना उचित ज्ञात नहीं होता कि यह मूल के अधिक निकट है, मूल कभी सलहदी तोमर के समय में खानवा के युद्ध के पूर्व अस्तित्व में आया था।

पृथ्वीराज रासो की रचना-विधा

पृथ्वीराज रासो की रचना किस प्रकार की गयी थी, इसका अनुमान भी किया जा सकता है। राणा संग्रामसिंह, सलहदी तोमर, मेदिनीराय चौहान तथा उनके सहयोगी अन्य राजपूत राजाओं की सेनाओं में उनके उत्साहवर्धन के लिए आख्यान सुनाना भाटों को अत्यधिक लाभकारी व्यवसाय सिद्ध हुआ होगा। उनको जो भी प्राचीन आख्यान और अनुश्रुतियाँ उपलब्ध थीं, उन सबको उनने एकत्रित किया और विभिन्न राजाओं और सामन्तों को सुनाने लगे। ज्ञात होता है कि उनमें से किसी चतुर भाट ने नयचन्द्र सूरि का अनुसरण कर राय पिथौरा को आख्यान-नायक बनाकर समस्त आख्यान-माला को उसके चारो ओर गूंथ दिया। उसकी रचना अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक है, यह सिद्ध करने के लिए उसने उसे पृथ्वीराज चौहान के समकालीन कवि या राजभाट चन्द-वरदायी की रचना के रूप में प्रस्तुत किया और उसमें काल्पनिक संवत् भी जोड़ दिये। पृथ्वीराज रासो के वृहत् संस्करण में जो सैकड़ों 'समय' हैं वे इसी मधुसंचय के परिणाम हैं। राणा संग्रामसिंह के समय तक सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के राज्यकाल में 'केशव निगम' द्वारा तथा उनके राजभाटों द्वारा प्रचलित किया गया प्रवाद "दिल्ली चौहानों ने ली" भी फैल चुका था। रासोकार भाट या भाटों ने उस प्रवाद को ग्रहण अवश्य किया तथापि, सलहदी और मेदनीराय दोनों ही संतुष्ट हो सकें, इसके लिए उनके द्वारा उसका स्वरूप बदल दिया गया। अब तोमरों और चौहानों के विग्रह की कथा उपयोगी नहीं थी, अतएव उस प्रवाद का स्वरूप बदलकर उन भाटों ने दिल्ली-दान की कल्पना

---

२. डॉ० वेनीप्रसाद शर्मा : पृथ्वीराज रासो, पाठ भाग, पृ० ३४। 'संक्षिप्त' पाठ में ये पंक्तियाँ अनेक स्थानों पर भिन्न रूप में फैली हुई मिलती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० २३ तथा ३३।

ग्रहण की। उनके आख्यान के नायक का नाम पृथ्वीराज था, अतएव उनने तोमर राजा का नाम 'पृथ्वीराज' न रखकर, 'अनंगपाल' रखा।

बृहद् रासो की तोमर कथा

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित बृहद् पृथ्वीराज रासो में जो तोमर-कथा दी गयी है, उसके ही संक्षिप्त रूप रासो की लघु और लघुतम वाचनाएँ हैं। ये लघु और लघुतम वाचनाएँ मूल रासो न होकर उसके वे संक्षिप्त स्वरूप हैं जो रासो के सत्रहवीं शताब्दी के सम्पादकों ने प्रस्तुत किये हैं। अतएव राणा संग्रामसिंह के समय में तोमर-कथा किस रूप में प्रस्तुत की गयी थी इसे जानने के लिए बृहद् संस्करण को ही देखना होगा।[1]

एक बार राजा अनंगपाल पर कमधज्ज (गहड़वाल) ने आक्रमण किया। राजा अनंगपाल ने विशाल सेना लेकर कालिंदी की उत्तर दिशा में शत्रु का सामना किया। अजमेरपति सोमेश्वर को भी कमधज्ज के आक्रमण की सूचना मिली और उसने भी अनंगपाल की सहायता के लिए प्रस्थान किया। अनंगपाल और सोमेश्वर की संयुक्त वाहिनी ने कमधज्ज को परास्त कर दिया। विजय के नगाड़े बजाते हुए दोनों राजा दिल्ली आगये। अनंगपाल ने सोमेश्वर की वीरता से प्रसन्न होकर अपनी पुत्री कमला का विवाह उससे कर दिया। अनंगपाल ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी का विवाह कन्नोज के राजा विजयपाल के साथ कर दिया।

जब सोमेश्वर और कमला दिल्ली में ही थे तब उनके पृथ्वीराज नामक राजकुमार उत्पन्न हुआ। दिल्ली में 'दौहित्र राजा' के जन्म पर आनन्द बधाए मनाये गये।

फिर 'दिल्ली-किल्ली-कथा' में रासोकार भाट ने लिखा है कि एक बार पृथ्वीराज को स्वप्न में देवी ने दर्शन दिया जिसका फल ज्योतिषियों ने यह बतलाया कि पृथ्वीराज दिल्ली का शासक होगा। यह सुनकर पृथ्वीराज की माता कमला ने अपने पुत्र को एक प्राचीन कथा इस प्रकार सुनाई—'हमारे पूर्व पुरुष राजा कल्हन चन्द्रवन में (जहाँ आज कल दिल्ली बसी है) आखेट के लिए गए थे। उस समय उन्होंने एक शशक के पीछे अपना श्वान छोड़ दिया। श्वान उसकी गंध के द्वारा उसका पता लगाता हुआ उसके पीछे-पीछे भागा। आगे जाकर शशक श्वान का सामना कर बैठा, जिससे बेचारा श्वान डरकर भाग गया। यह अद्भुत दृश्य देखकर सब साथियों तथा राजा कल्हन को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। जगजोति व्यास ने शीघ्र ही मुहर्त देखकर उसी स्थान पर शेष नाग को सिद्ध करके अच्छे पत्थर की एक कीली गाड़ दी। राजा कल्हन ने अपने स्वजनों सहित उस स्थान पर एक नगर बसाया जिसका नाम 'कल्हणपुर' रखा गया। राजा कल्हन के कई पीढ़ियों के बाद अनंगपाल का जन्म हुआ। जब राजा अनंगपाल ने उपर्युक्त घटना

---

१. बृहद् रासो की कथा का संक्षिप्त रूप यहाँ डॉ॰ कृष्णचन्द्र अग्रवाल के ग्रन्थ "पृथ्वीराज रासो के पात्रों की ऐतिहासिकता" (लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) के आधार पर साभार दिया जा रहा है।

का वृत्तान्त सुना तो उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ जिसका समाधान ज्योतिषियों के द्वारा कर दिया गया। एक बार राजा अनंगपाल ने एक गढ़ बनवाने की इच्छा प्रकट की। ज्योतिषियों ने शुभ मुहूर्त देखकर नींव रखने के समय एक लोहे की कील पृथ्वी में गाड़ दी और कहा कि यह कील शेषनाग के मस्तक पर स्थिर हो गई है, जिसके कारण तोमर वंश का राज्य कील की भाँति अचल एवं दृढ़ रहेगा। राजा अनंगपाल को पुरोहित की बात पर विश्वास न हुआ तथा उस कील को उखड़वा कर उनके कथन की सत्यता देखनी चाही। कील के निकलते ही उस स्थान से खून की धार निकली। यह देखकर राजा अनंगपाल अत्यन्त दुखी हुआ तथा वह कील पुनः उसी स्थान पर स्थिर करनी चाही किन्तु वह ढीली रह गई इसी से दिल्ली नाम 'ढीली' पड़ा तथा 'ढीली' अब 'दिल्ली' हो गया।

कुछ समयोपरांत राजा अनंगपाल के दूत ने एक पत्र मंत्री कैमास के हाथों में दिया। पत्र में राजा अनंगपाल ने अपनी बेटी के बेटे पृथ्वीराज को लिखा था कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ। बदरिकाश्रम तीर्थयात्रा करना चाहता हूँ, मेरा जो कुछ है, सब तुम्हें समर्पण करता हूँ। पृथ्वीराज चौहान द्वारा पूछे जाने पर कि नानाजी को वैराग्य क्यों हुआ, दूत ने राजा अनंगपाल का प्रताप वर्णन करके कहा "राजा अनंगपाल ने रात्रि में एक स्वप्न देखा कि तोमर वंश दक्षिण दिशा को जा रहा है। इसी कारण उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। प्रातः जागने पर अनंगपाल ने हरि-हरि शब्द का उच्चारण किया। स्वप्न का फल ज्योतिषियों से पूछने पर व्यास ने ध्यान करके कहा कि दिल्ली में चौहानों का राज्य होगा। अतः यदि तुम भला चाहो तो तप करके स्वर्ग का मार्ग लो।" व्यास की वाणी सुनकर राजा अनंगपाल ने मन में विचार किया कि यदि कोई पुत्र होता तो वह भूमि की रक्षा करता। अतः अब तो यह उचित है कि सब भूमि पृथ्वीराज को देकर वनवास करना चाहिए। मंत्रियों ने राजा अनंगपाल को बहुत समझाया कि राज्य देना उचित नहीं है। किन्तु राजा ने मंत्रियों के कथन पर कान न दिया और पत्र लिखकर मुझे आपके पास अजमेर भेज दिया।" अन्ततोगत्वा राजा अनंगपाल ने दो दिन अपार उत्सव मनाकर, शुभ लग्न में, बड़ी तैयारी और विधि के साथ, पृथ्वीराज का राज्याभिषेक अपने हाथों से कर दिया। अनंगपाल ने अपने हाथों से राज-तिलक करके बदरीनाथ की यात्रा की ओर प्रस्थान किया। दिल्ली-राज्य पृथ्वीराज को मिलने की सूचना पाकर अजमेरपति सोमेश्वर अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा पृथ्वीराज अपने समस्त श्रेष्ठ सामन्तों के साथ दिल्ली में सुखपूर्वक राज्य करने लगे। रासो के अनुसार अनंगपाल ने पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य संवत् ११३८ में दिया था।

कुछ समय के उपरान्त अनंगपाल की प्रजा ने बदरिकाश्रम में जाकर पुकार की कि पृथ्वीराज ने हमें घर से निकाल दिया है तथा आपका भी प्रभाव नहीं मानता। यदि राजा के जीवित रहते हुए प्रजा पराधीन होती है तो यह न न्याय है और न नीति ही। ऐसे राजा की सर्वत्र निन्दा होती है तथा अंत में वह नरक का भागी होता है।

प्रजा की आर्त पुकार सुनकर अनंगपाल का तेज जाज्वल्यमान हो उठा तथा दिल्ली दूत भेजकर कहलाया कि धन-धान्य, द्रव्य, सब ले आओ, यानी दिल्ली का राज्य पुनः लौटा दो। किन्तु पृथ्वीराज ने दूत को धिक्कार कर लौटा दिया। अंततः राजा अनंगपाल ने समाचार सुनकर दूत के समझाने पर भी दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। राजा अनंगपाल ने दिल्ली पर आक्रमण कर तो दिया किन्तु उसे प्राप्त करने में असमर्थ रहा। अपनी सेना को निर्बल देखकर उसने गजनीपति गौरी की सहायता के लिए नीतिराय खत्री को भेजा।

यद्यपि पृथ्वीराज चौहान ने राजा अनंगपाल को बहुत समझाया किन्तु वह अपनी बात पर डटा रहा। राजा अनंगपाल ने पुनः गौरी की सहायता से दो सहस्र सैनिक लेकर आक्रमण किया। दोनों दलों ने सम्मिलित होकर पृथ्वीराज पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों को आज्ञा दी कि युद्ध में राजा अनंगपाल मारा न जाए तथा शाह को भी जीवित ही बन्दी बना लिया जाए। अन्त में शाह युद्ध करता हुआ वीर चामण्डराय के हाथों बन्दी बना लिया गया तथा अनंगपाल भी युद्ध में पराजित होकर बन्दी बना लिया गया। पृथ्वीराज की विजय हुई। सब सामन्तों के साथ दिल्ली लौटने पर पृथ्वीराज ने दरबार किया, उसमें मंत्री कैमास ने आज्ञा दी कि राजा अनंगपाल को पृथ्वीराज के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। अनंगपाल के आने पर पृथ्वीराज ने उनके चरण स्पर्श किए तथा विशेष प्रेम-पूर्वक हृदय से सम्मानित कर भक्तिभाव का प्रदर्शन किया।

राजा अनंगपाल ने दिल्ली में एक वर्ष एक मास पृथ्वीराज के साथ सुख पूर्वक व्यतीत कर पुनः बदरिकाश्रम जाने की इच्छा प्रकट की। पृथ्वीराज ने दिल्ली में रहने का ही हठ किया किन्तु अनंगपाल न माना, तब पृथ्वीराज ने धर्म-कर्म के लिए दस लक्ष का द्रव्य दिया और सौ सेवक, एक रथ, ग्यारह विप्र साथ देकर बदरिकाश्रम उन्हें सकुशल भेज दिया। राजा अनंगपाल ने बदरिकाश्रम पहुँच कर उग्र तपस्या की।

पृथ्वीराज रासो कुछ ऐतिहासिक नामों के आधार पर, कुछ विशिष्ट उद्देश्यों से कभी सन् १५२५ ई० के आसपास रचित आख्यान काव्य है। उसे "इतिहास" मान कर उसकी कल्पनाओं की खाल उधेड़ना बेचारे भाटवंश के साथ अनाचार करना है, और उसके अनुसरण में इतिहास लिख डालना "इतिहास" की दुर्गति करना है।

रासो के वाचनाकार ने उसके उद्देश्य को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है—

प्रथिराज गुन सुनत, होय आनन्द सकल मन।
प्रथिराज गुन सुनत, करय संग्राम स्यार रन॥
प्रथिराज गुन सुनत, क्रपन कपटय तें खुल्लय।
प्रथिराज गुन सुनत, हरषि गूंगो सिर डुल्लय॥
रासो रसाल नवरस सरस, आजानौ जानप लहै।
निसटो गरिष्ट साहस करै, सुनौ सत्ति सरसति कहै॥

सरस्वती सत्य वचन यह कहती है कि रासो में वर्णित पृथ्वीराज के गुण सुनने से सबके मन को आनन्द मिलता है, स्यार भी सिंह के समान रण में युद्ध करने लगता है, सूम भी (भाट के प्रति) कपट रहित (उदार) हो जाते हैं, गूंगे भी सिर हिलाने लगते है, और मूर्ख-अनजान भी ज्ञानी बन जाते हैं।

परन्तु सरस्वती ने यह कहीं संकेत भी नहीं किया कि रासो-रसाल को इतिहास का आधार बनाकर उससे ऐतिह्य सामग्री प्राप्त की जाए। इतिहास रासो का विषय नहीं है और रासो इतिहास का आधार किंचित् भी नहीं है।

आधुनिक इतिहासकारों ने यह निस्संदेह रूप में मान लिया है कि अनंगपाल द्वारा राय पिथौरा को दिल्ली का राज्य देने की कथा नितान्त काल्पनिक है। परन्तु यह मान लेने के पश्चात् भी वे रासो के प्रभाव से मुक्ति न पा सके। उनके द्वारा यह तथ्य मान्य किया गया कि तोमरों से चौहानों ने दिल्ली का राज्य लिया, संशोधन केवल यह किया गया कि दान में नहीं युद्ध में जीत कर लिया और राय पिथौरा ने नहीं विग्रहराज चतुर्थ ने लिया। दिल्ली का राज्य खोने वाला राजा भी रासो के अनुसार 'अनंगपाल' ही बना रहा और क्योंकि दो अनंगपाल पहले हो चुके थे, अतएव यह 'तीसरा' अनंगपाल माना गया। यह रासो का ही प्रताप है कि राय पिथौरा की राजधानी दिल्ली ही मानी जाती रही। यह रासो की ही देन है कि जयचन्द्र को देशद्रोही घोषित किया जाता है। अत्यन्त प्रमादी, विलासी और दुराग्रही राय पिथौरा को भी लोकोत्तर गुणों से सम्भूत नायक मानने की भावना का जनक पृथ्वीराज रासो ही है। अत्यन्त असावधानी और मानसिक विमूढ़ता के युग में रासोकार-भाटों के आख्यानों ने भारतीय मस्तिष्क को अभिभूत कर लिया। उसका प्रभाव 'इतिहास' से अभी तक तो हटा नहीं है। यह स्वाभाविक भी है। आख्यान के माध्यम से जो मूर्ति मानस-पटल पर अंकित हो जाती है वह मिटाए से भी नहीं मिटती।

क्यामखाँ रासा

वि० सं० १६६१ (सन् १६२४ ई०) में क्यामखानी चौहान जान कवि ने 'क्यामखाँ रासा' की रचना की थी। इसका सम्पादन डॉ० दशरथ शर्मा ने किया है। इस पुस्तक के रचनाकार के विषय में उसके विद्वान सम्पादक ने लिखा है[1] "यह कोई दरबारी इतिहास लेखक नहीं है, न अबुलफजल और न बाबर। सत्य इसे प्रिय है, वह व्यर्थ की अतिशयोक्ति में विश्वास नहीं करता।"

जान कवि के पूर्वज चौहान थे, फिर कभी उनमें से एक मुसलमान हो गया और इन क्यामखानी चौहानों की वंश-परम्परा चल निकली। जान को चौहान होने का गर्व था, अतएव उसने दिल्ली के चौहानों का भी इतिहास दिया है। जान के अनुसार दिल्ली पर निम्नलिखित चौहान राजाओं ने राज्य किया था :—

---

१. क्यामखां रासा (राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर), प्रस्तावना, पृ० ३५।

मानिकदे	२	वर्ष	६	मास	१७	दिन
देवराज	२	वर्ष	३	मास	१७	दिन
रावलदे	९	वर्ष	०	मास	७	दिन
देवसिंह	६	वर्ष	३	मास	०	दिन
स्योंदेव	०	वर्ष	१	मास	२२	दिन
वलदेव	५	वर्ष	०	मास	११	दिन
पृथ्वीराज	२२	वर्ष	०	मास	११	दिन

लगभग ४८ वर्ष ३ मास २५ दिन। अर्थात् यदि सन् ११९२ ई० दिल्ली में चौहानों के राज्य का अन्त माना जाए तब इस इतिहास के अनुसार चौहानों ने तोमरों से सन् ११४४ ई० में दिल्ली ले ली थी।

यह गणित और यह इतिहास इतना भीषण है कि उसके सम्पादक डॉ० शर्मा ने लिखा[1] —

"दिल्ली में मानिकदेव आदि चौहानों का शासन राजभाटों और कवियों की कल्पना-मात्र है। विग्रहराज चतुर्थ से पूर्व दिल्ली में चौहानों के राज्य के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। क्यामखाँ रासा की वंशावली और घटनावली का यह भाग अधिकांश में कल्पित है।"[1]

बेचारे जान कवि को जगा-राजभाट ने जब वर्ष, मास और दिनों की संख्या के साथ वंशावली बतलाई होगी, तब वह अविश्वास कैसे कर सकता था? राजभाटों का यह करिश्मा सोमेश्वर चौहान के समय से ही चल रहा था। जिस 'प्रमाण' की बात डॉ० शर्मा ने कही है, उसका निर्माता भी इन राज-भाटों का पूर्वज ही था; अन्तर केवल इतना है कि सोमेश्वर ने उसके अस्पष्ट श्लोक पत्थर पर खुदवा दिये और सत्रहवीं शताब्दी का यह राजभाट अपनी मोटी बही लिए फिरता था, जिसमें से एक डॉ० शर्मा के व्यक्तिगत पुस्तकालय में भी थी या है, जिसमें (डॉ० शर्मा के अनुसार) बहुत दिलेरी से लिखा है कि वि० सं० १२०९ (सन् ११५२ ई०) में चौहानों और तोमरों के बीच युद्ध हुआ और चौहानों ने दिल्ली ले ली।[2]

गौरी और उसके गुलामों के हाथ राजपूतों की दुर्दशा होने के तुरन्त पश्चात् ही ये राज-भाट अत्यधिक प्रबल हुए और यत्र-तत्र बिखरे हुए राजाओं और सामन्तों से भेंटें प्राप्त करने के लिए उनके द्वारा ये गपोड़े गूंथे गये, बहियों में लिखे गये और सफलता पूर्वक फैलाए गये।

---

१. क्याखाँ रासा (राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर), पृ० ११०।
२. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ६०।

परिच्छेद १०

कुछ फारसी आख्यान

अमीर खुसरो का नूहसिपेहर

हिजरी सन् ७१८ (सन् १३१८-९ ई०) में अमीर खुसरो ने नूहसिपेहर नामक कविता की रचना की थी। इसके चौथे सिपेहर में खुसरो ने दिल्ली के अनंगपाल के विषय में एक अनुश्रुति लिखी है[1]: "मैंने एक कहानी सुनी है कि पाँच या छह शताब्दी पूर्व दिल्ली में एक महान राजा अनंगपाल था। उसने अपने महल (प्रासाद) पर सिंहों की दो पत्थर की मूर्तियाँ बनवाई थीं। उसमें प्रत्येक सिंह के पास दो घण्टियाँ लगा दी थीं जिससे कि न्याय का इच्छुक व्यक्ति उन्हें बजा सके और राजा उसे बुलाकर उसका अभियोग सुनकर न्याय कर सके। एक दिन एक कौआ घण्टी पर बैठ गया और उसमें चोंच मारने लगा, और राजा ने यह पुछवाया कि अभियोगी कौन है? यह सब जानते है कि साहसी कौआ सिंहों के दाँतों के बीच से माँस चुन लेता है। पत्थर के सिंह तो शिकार करते नहीं हैं, तब कौए को भोजन कैसे मिल सकता है? राजा को विश्वास हो गया कि कौए का अभियोग सही है क्योंकि वह पत्थर के सिंहों के दाँतों में माँस प्राप्त नहीं कर सकता, उसने आदेश दिया कुछ भेड़ें और बकरियाँ काट कर डाल दी जाएँ जिससे कि कौओं को कुछ दिन भोजन मिल सके।"

निश्चय ही कौओं के साथ किये गये न्याय से इतिहास का सम्बन्ध नहीं है और यह बकरे इस कारण काटे भी नहीं जाते थे। ये सिंह कालिका देवी के मन्दिर के सामने बने थे[2] और बकरे उस देवी की बलि के रूप में काटे जाते थे। इस प्रसंग में सम्बद्ध और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अमीर खुसरो के समय में यह अनुश्रुति पूर्णतः प्रतिष्ठित थी कि ईसवी आठवीं शताब्दी में अनंगपाल नामक राजा दिल्ली में राज्य कर रहा था।

ईसवी चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अमीर खुसरो ने पाँच-छह शताब्दियों के अन्तराल का उल्लेख किया है, उससे अनुमान यह होता है कि यह अनुश्रुति दिल्ली-संस्थापक अनंगपाल के विषय में है।

इस सन्दर्भ में किसी अज्ञात जैन मुनि या पंडित की कृति 'पृथ्वीराज-प्रवन्ध' भी उल्लेखनीय है।[3] इस प्रवन्ध के अनुसार "राजा पृथ्वीराज योगिनीपुर में राज्य करता था। उसके धवलगृह के द्वार पर न्याय-घण्ट लगा हुआ था।" 'निद्राव्यसनी'

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ३, पृ० ५६५।
२. दिल्ली की खोज, पृ० २४।
३. पुरातन-प्रवन्ध-संग्रह (सिंघी जैन-ग्रन्थमाला), पृ० ८६।

पिथौरा को न्याय-घण्ट बजाकर जगाने या बुलाने का साहस कोई नागरिक कर सकता होगा इसमें सन्देह है, और राय पिथौरा अपने मंत्री कैमास तथा शल्यहस्त प्रतापसिंह के साथ योगिनीपुर में राज्य कर रहे थे यह निश्चय ही असत्य है, तथापि जैन मुनि ने हिंसा के स्थल, कालिकादेवी के मन्दिर, से हटाकर इस न्याय-घण्ट को दिल्ली के राजा के धवलगृह, पर स्थापित कर दिया। यह 'न्याय-घण्ट' वही है जिसका उल्लेख अमीर खुसरो ने नूहसिपेहर में किया है। वह तोमरों का था, उनका ही रहा, जब तक कि ऐबक ने लालकोट पर अधिकार नहीं कर लिया।

अब्दुर्रहमान की मीराते मसूदी

कुछ समकालीन तथा कुछ परवर्ती मुस्लिम इतिहासकारों ने इतिहास-ग्रन्थ लिखे हैं जो अरब, यामिनीवंश या गौरी तुर्कों के भारत-आक्रमणों का विशद विवरण देते हैं। उनके ग्रन्थों में दूसरे पक्ष, राजपूतों, के इतिहास के भी क्वचित् स्रोत मिल जाते हैं और कुछ तिथियाँ भी। तोमरों के इतिहास के निर्माण में उनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उनमें तोमरों का उल्लेख केवल "दिल्ली के राजा" के रूप में मिलता है। वह दिल्ली का राजा कौन था, यह उल्लेख केवल एक-दो स्थलों पर ही प्राप्त होता है। जहाँ नाम प्राप्त होते भी हैं उनकी वर्तनी सही नहीं है। इन इतिहासों से प्राप्त जानकारी का उल्लेख यथास्थान किया गया है। यहाँ अब्दुर्रहमान चिश्ती द्वारा लिखित 'मीराते मसूदी' ही उल्लेखनीय है।[1] यह ऐतिहासिक आख्यान है, इतिहास नहीं। जहांगीर के समय में लिखे गये इस ग्रन्थ में अजमेर, दिल्ली और कन्नौज का जो इतिहास दिया गया है उसे इतिहास नहीं कह सकते हैं, वह कुछ ऐतिहासिक नामों के आधार पर प्रस्तुत की गयी सालार मसऊद की दास्तानें हैं, तथापि, हम तोमरों के इतिहास में इसका कुछ उपयोग तो कर ही सकते हैं। इतिहासकारों ने महीपाल तोमर का नाम संभवतः चिश्ती के इस आख्यान से ही प्राप्त किया है।[2]

इस ग्रन्थ की पहली दास्तान में सालार साहू द्वारा अजमेर-विजय की कथा दी गयी है। हिजरी ४०१ (सन् १०११ ई०) के पश्चात् सालार साहू ने पुष्कर के पास डेरा डाला और अजमेर जीत ली, और उसके द्वार पर ही मस्जिद बनवादी।

तीसरी दास्तान दिल्ली के सम्बन्ध में है। इस बीच सालार साहू के प्रतापी पुत्र सालार मसऊद तलवार चलाने लगे हैं और सैन्य संचालन करने लगे हैं। संभव है अब अजमेर-विजय के पश्चात् १६-१७ वर्ष व्यतीत हो गये हों, अर्थात्, सन् १०२८ ई० हो गया हो। आनन्दपाल को पराजित करते हुए सालार मसऊद 'अजधेन' पहुँचे। वहाँ शिकार में समय बिताकर फिर दिल्ली पर आक्रमण किया, जहाँ राजा महीपाल राज्य कर रहा था। यहाँ सालार मसऊद को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। परन्तु तब तक छह अमीर सहायता के लिए आ गए। महीपाल का पुत्र गोपाल युद्ध में मारा

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० ५१३।
२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ३०।

गया, उसके पश्चात् युद्ध में महीपाल भी मारा गया। उसके साथ श्रीपाल भी धराशायी हुआ। मसऊद छह मास दिल्ली में रहे, फिर मेरठ की ओर चले गये।

महीपाल के शौर्य को भी चिश्ती साहब ने बहुत उभारा है। परन्तु उसे सन् १०२९ या १०३० में मरवा डाला। दिल्ली जीतने की बात तो उत्वी भी नहीं कहता। फरिश्ता दिल्ली से महमूद को भी भयभीत दिखलाता है। परन्तु हम अब्दुर्रहमान के इसलिए कृतज्ञ हैं कि वह महीपाल, गोपाल, श्रीपाल जैसे नाम दिल्ली के तोमर राजाओं के संदर्भ में देता है।

सुभानराय की खुलासतुत्-तवारीख

पटियाला के मुंशी सुभानराय खत्री ने सन् १६९५ ई० (११०७ हिजरी) में 'खुलासतुत्-तवारीख' नामक इतिहास-ग्रन्थ लिखा था। इसमें उसने शाहजहानाबाद अर्थात् दिल्ली का भी क्वचित् इतिहास दिया है।[1] मुंशी जी के अनुसार "विक्रमाजीत के सम्वत् ४४० में अनंगपाल तोनौर ने इन्द्रप्रस्थ के पास दिल्ली बसाई। इसके बाद विक्रमाजीत के बारह सौ वर्ष और कुछ में राय पिथौरा ने यहाँ एक किला बनवाया और उसे अपना नाम दे दिया।"

फारसी भाषा में लिखा होने मात्र से कोई ग्रन्थ इतिहास नहीं बन जाता। मानव की अबाध और अनर्गल कल्पना सभी भाषाओं में, सभी लिपियों में और सभी युगों में जन-मन-रंजन करती रही है। कुछ अंगरेज विद्वान कहते हैं कि यह बीमारी एशिया यानी जम्बूद्वीप में अधिक है, हमारा मत है, यह विश्वव्यापी मानव-दुर्बलता है।

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ८, पृ० १०।

परिच्छेद ११

अबुलफजल का तोमर-इतिहास

(अ) मालवा के तोमर

मुगल सम्राट् जलालुद्दीन अकबर के शाही इतिहास-लेखक अल्लामा अबुलफजल ने तोमरों का भी कुछ इतिहास दिया है। अब्दुलफजल ने "आईने-अकबरी" में सूबा मालवा के विवरण में मालवा के तोमर राजाओं की एक वंशावलि दी है जिसके पहले चार राजाओं के नाम—जितपाल, राणा राजू, वाजू और राणा जाजू दिये हैं। इनका समय सन् ५९३ से ६०६ ई० तक बतलाया है। इसके पश्चात् राणा चन्द्र, राणा बहादुर, राणा बख्तमल, राय सुकनपाल, राय कीरतपाल, राय अनंगपाल तथा राय कुंवरपाल के नाम दिये हैं। अन्तिम राजा का समय अबुलफजल ने सन् ७३४ ई० बतलाया है, परन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि कंवरपाल के पूर्ववर्ती राय अनंगपाल ने दिल्ली बसायी। इस वंशावली में स्पष्ट ही राय अनंगपाल का नाम कुंवरपाल के पहले भूल से आ गया है और अबुलफजल का आशय यह दिखता है कि "मालवा के तोमरों" के अन्तिम राजा अनंगपाल ने सन् ७३४ ई० में दिल्ली बसायी। यदि अबुलफजल द्वारा उल्लिखित "मालवा" का आशय समझ लिया जाए और तोमरों की उसके द्वारा दी हुई वंशावलियों में की गयी भूल को भी समझ लिया जाए तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि अबुलफजल द्वारा दिये गये इस विवरण का मूल भाग बहुत पुष्ट आधारों पर आश्रित है, यद्यपि उसका दिया हुआ विस्तार का विवरण काल्पनिक है। अपनी इस धारणा के आधारों का विवेचन हम आगे करेंगे, यहाँ यह उल्लेख मात्र करना प्रासंगिक है कि 'आईने-अकबरी' की इस 'मालवा के तोमरों' की वंशावली में जिस राणा जाजू को चौथे स्थान पर रखा गया है वह दिल्ली के तोमर का प्रथम राजा आदि राणा जाजू है और उस अनंगपाल से अभिन्न है जिसने तोमर राज्य की स्थापना की थी। इस घटना का समय अबुलफजल ने ७३४ बतलाया है, जो सत्य के आसपास ही है।

श्री टॉड को उपलब्ध अनुश्रुति के अनुसार परीक्षित के ६६वें वंशज 'राजपाल' को शुकवन्त ने मार डाला और इन्द्रप्रस्थ छीन ली। विक्रमादित्य ने इस शुकवन्त को मार डाला और इन्द्रप्रस्थ का राज्य उससे छीन कर अपने साम्राज्य में मिला लिया, परन्तु अपनी राजधानी उज्जयिनी में ही रखी। मुंहता नेणसी भी इस अनुश्रुति को दुहराते हैं। श्री टॉड की अनुश्रुति के अनुसार राजपाल की १९वीं पीढ़ी में 'बिल्हणदेव' हुआ था जिसने अनंगपाल का विरुद धारण कर इन्द्रप्रस्थ के पास ही दिल्ली बसाई। अबुलफजल को ये अनुश्रुतियाँ प्राप्त हुई होंगीं। श्री टॉड का कथन है कि उन्होंने उसी स्रोत का उपयोग किया था जिसका अबुलफजल ने किया था। अबुलफजल के समक्ष प्रश्न यह भी उठा होगा कि जयपाल और बिल्हणदेव के बीच की पीढ़ियाँ कहां रहीं? यह भी

सोचा जा सकता था कि वे विक्रमादित्य के अधीन मालवा के प्रदेश में ही स्थानीय सामन्त के रूप में स्थापित कर दी गई होंगी। परन्तु विक्रमादित्य का साम्राज्य उस अनुश्रुति के अनुसार ही इन्द्रप्रस्थ और कुमायूं तक तो था ही। पाण्डववंश के ये राजा उज्जयिनी और इन्द्रप्रस्थ के बीच कहीं भी स्थापित किये जा सकते थे।

विक्रमादित्य से इस पुरातन संवंध के कारण जयपाल की आगे की पीढ़ियों को मालवे से संवंधित मान लेना स्वाभाविक था। यद्यपि उस अनुश्रुति का मालवा कहीं अन्यत्र स्थित था, तथापि अबुलफजल ने उसे अकबरकालीन विशाल 'सूबा मालवा' से अभिन्न मानकर इस अपदस्थ राजवंश का सयन ठेठ धार में पहुँचा दिया। उनके प्रश्रय प्राप्त करने के वास्तविक स्थान की खोज का प्रयास अबुलफजल ने नहीं किया। परन्तु इससे उसने अपने लिए उलझन पैदा करली और उस उलझन को सुलझाने के लिए उसने मालवा के इन तोमरों का एक काल्पनिक इतिहास भी लिख दिया। अबुलफजल की यह निराधार कल्पना तोमरों के इतिहास के निर्माण में एक बहुत बड़ी बाधा बन कर खड़ी हो गयी।

अबुलफजल के अनुसार भोज परमार के पश्चात् उसका पुत्र जयचन्द्र राजा बना, जयचन्द्र के पश्चात् परमार-वंश में कोई योग्य राजकुमार न होने के कारण मालवे का राज्य सन् ४६३ ई० में तोमर-वंश को प्राप्त हुआ। इस तोमर-वंश का राज्य १४२ वर्ष रहा। अन्तिम तोमर राजा कंवरपाल से मालवा का राज्य चौहानों ने लिया, जो ७० वर्ष तक वहाँ राज्य करते रहे।

सर मालकम के मालवा के तोमर

मेजर जनरल सर जॉन मालकम, मालवा प्रान्त में अंगरेज 'सरकार बहादुर' के गवर्नर जनरल के एजेण्ट थे। ११ फरवरी सन् १८२१ में मालकम ने 'मालवा प्रान्त तथा समीपस्थ जिलों' का विवरण गवर्नर जनरल मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्स को प्रस्तुत किया। यह विवरण सन् १९२७ में तत्कालीन भारत शासन ने प्रकाशित किया था। इस विवरण के दूसरे भाग में सर मालकम ने मालवे का इतिहास भी दिया है। अंगरेज सरकार का प्रशासक 'इतिहासकार' भी बन गया और विभिन्न स्रोतों से उसने इतिहास-सामग्री एकत्रित की। परन्तु ज्ञात होता है कि ब्रिटिश-साम्राज्य के सामन्त को मुगल सम्राट् अकबर के सामन्त अल्लामा अबुलफजल द्वारा लिखित इतिहास ही अत्यन्त प्रामाणिक ज्ञात हुआ।

सर मालकम के अनुसार[1] मालवे के राज्य की स्थापना किसी दुनजी या डुनजी (Dunjee) ने की थी और ब्राह्मण धर्म पुनर्स्थापित किया था। इस दुनजी के वंशजों ने मालवा पर तीन सौ सत्तासी वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् पुतराज, पाँचवा राजा, पुत्रहीन मरा और अद्भुत पवार राजा हुआ, जिसने पवार-वंश की स्थापना की, जिसका मालवा पर एक हजार पचास वर्ष तक राज्य चला। उसके पश्चात् गुण्डुरोहुन (Gunburohun) सेनी या गुण्डोवोह (Gundowoh) का पुत्र विक्रमादित्य हुआ,

१. रिपोर्ट ऑन द प्राविन्स ऑफ मालवा एण्ड एडज्वायनिंग डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० १२-१३।

जिसने धार के पवार राजा की पुत्री से विवाह कर मालवा पर अधिकार कर लिया और बाद में कुमायूं के शुकादित्य को निष्कासित कर हिन्दुस्तान का साम्राज्य प्राप्त किया। इस शुकादित्य ने दिल्ली के राजा पोलू (Polu) से सिंहासन छीन लिया।

सर माल्कम आगे लिखते हैं कि विक्रमादित्य के उत्तराधिकारियों के विषय में तब तक कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई जब तक कि उसके ग्यारहवें वंशज भोज ने अपनी राजधानी धार में बदली। धार का यह नाम उस समय तक बना रहा जब तक मुसलमानों ने इसका नाम मांडू नहीं कर दिया।

हमारा संबंध भोज परमार तक के इस चमत्कारी इतिहास से यहाँ नहीं है। आगे सर माल्कम ने मालवे के तोमरों का भी इतिहास दिया है —

"राजा भोज के उत्तराधिकारी जयचन्द्र की मृत्यु के उपरान्त परमार वंश का कोई राजकुमार राज-मुकुट सँभालने योग्य नहीं समझा गया। इस कारण वह मुकुट प्रसिद्ध राजपूत जमींदार 'जीतपाल'[1] के मस्तक पर रख दिया गया, जिसने तोमर वंश की स्थापना की। यह राजवंश १४२ वर्ष चला। इस राजवंश के पश्चात् जगदेव ने चौहान राजवंश का राज्य प्रारंभ किया जो १६७ वर्ष चला। इस वंश के चौथे वासदेव ने सम्राट् का विरुद धारण किया, तथा, हमें सूचना प्राप्त हुई है, उसने भारतीय कलाओं का चरमोत्कर्ष किया और साम्राज्य का सुयश एवं उसकी समृद्धि प्रत्येक दिशा में बढ़ाई। इस चौहान वंश के अन्तिम राजा (हम यह भी कह सकते हैं कि मालवे का अन्तिम हिन्दू राजा) के समय में मालवा के एक अंश पर विस्त (Byst वैश्य) जाति के औनुन्देव (Aunundeo) ने अधिकार कर लिया। उसकी मृत्यु के पश्चात् न केवल मालवा वरन् भारत साम्राज्य का बहुत बड़ा अंश मुस्लिम सत्ता के अधीन आ गया।"

ऊपर के उद्धरण में मालवा के तोमरों का जो इतिहास दिया गया है वह निश्चित ही अबुलफजल की कृति की पुनरावृत्ति है, केवल मुंज और भोज के सन्-संवत नहीं दिये गये हैं।

विन्सेण्ट स्मिथ के मालवा के तोमर

गवर्नर जनरल के प्रशासक सर माल्कम के इस 'मालवे के तोमरों' के इतिहास की पुनरावृत्ति इतिहास लेखक विन्सेण्ट स्मिथ ने की।[2] यद्यपि विन्सेण्ट स्मिथ ने अबुलफजल द्वारा दी गयी तिथियों को शुद्ध किया परन्तु वह मूल की भूल को न सुधार सका, विशेषतः जब उसे सर माल्कम की पुष्टि प्राप्त हो चुकी थी। स्मिथ के अनुसार सन् १०६० ई० के लगभग भोजदेव परमार चेदि और गुजरात के संयुक्त आक्रमण में मारे गये और परमारवंश का गौरव विलुप्त हो गया, वे स्थानीय शासक रह गये और तेरहवीं शताब्दी में उन्हें तोमरों ने अपदस्थ कर दिया।

---

१. यह 'जीतपाल' नाम माल्कम ने अबुलफजल से ही लिया है।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४११-४१२।

है। उनमें से ओंकार-मान्धाता के निकट वड़वाह[2] के उम्मेदसिंह, अब महत्वहीन जमींदार की स्थिति को प्राप्त हो गये हैं।"

इनके वंशज अपने आपको अनंगपाल तोमर का वंशज कहते हैं। औरंगजेब के समय में उनका कुछ महत्व था, परन्तु मराठों के हल्लों ने अन्य राजपूत ठिकानों के समान, उनको भी समतल कर दिया। निश्चय ही अबुलफजल, माल्कम या स्मिथ ने जिन 'मालवा के तोमरों' का इतिहास दिया है, वह वड़वाह के जमींदारों का इतिहास नहीं है।

अबुलफजल का 'मालवा' से आशय

अबुलफजल को तोमरों के संदर्भ में यह 'मालवा' नाम क्यों प्राप्त हुआ और वह मालवा वास्तव में कहाँ है, इस पर विचार करने के लिए ईसवी सातवीं शताब्दी के प्रारंभ से आठवीं शताब्दी के मध्य तक, अर्थात् तोमरों द्वारा दिल्ली की स्थापना के समय तक, धार और उज्जयिनी से उत्तर में चम्बल-क्षेत्र तक के इतिहास को दृष्टि में रखना होगा।

ह्यूनचांग के अनुसार उसके समय में (सन् ६३०-६४४ ई०) बुन्देलखण्ड, ग्वालियर और उज्जैन में ब्राह्मण राजाओं का राज्य था। बुन्देलखण्ड और ग्वालियर के जिन ब्राह्मण राजाओं का उल्लेख ह्यूनचांग ने किया है वे उन नागों के वंशज होना चाहिए, जिनका राज्य विदिशा से मथुरा तक फैला हुआ था और जिनके साम्राज्य के केन्द्र में पद्मावती (वर्तमान पवाया) तथा कान्तिपुरी (वर्तमान सुहानियां-कुतवार) नामक नगर थे। ज्ञात होता है कि ह्यूनचांग के समय में नागों के इन वंशजों की एक शाखा ने उज्जयिनी पर भी अधिकार कर लिया था। सन् ६२० तथा ६३० ई० के बीच में पुलकेशिन् और हर्ष के बीच में युद्ध हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह युद्ध नर्मदा के तट पर हुआ था और कुछ के अनुसार नर्मदा के उत्तर के किसी स्थल पर। हर्षवर्द्धन के साम्राज्य की सीमा चम्वल के दक्षिण में नहीं थी ऐसा अब अनेक विद्वान मानने

---

२. मुद्रित रिपोर्ट में वड़वानी छपा है। डॉ० रघुवीरसिंह, सीतामऊ, का अभिमत है कि यह छापे की भूल है। इस मान्यता के लिए उक्त विद्वान ने अनेक पुष्ट कारण दिये हैं: (१) ओंकार-मांधाता के निकट वड़वाह है वड़वानी नहीं, वड़वानी वहाँ से ७६ मील पश्चिम में है, वड़वाह केवल ८ मील दूर है, (२) माल्कम के समय में भी वड़वानी की गणना राज्यों में की जाती थी, वड़वाह एक छोटासा जमींदारी ठिकाना था; उसके उम्मेदसिंह का देहान्त १७६४ ई० में हो गया था। वड़वाह के घराने में तब संभवतः कोई उम्मेदसिंह राणा रहा होगा; (३) वड़वानी और वड़वाह दोनों को मराठों ने बरबाद कर दिया था; (४) वड़वानी वाले अपने आपको सीसौदिया बतलाते हैं और वड़वाह के तोमर माने जाते हैं। अतएव माल्कम का आशय वड़वाह के उम्मेदसिंह से था। यद्यपि Burwanee मुद्रित है, तथापि यह छापे की भूल है।

लगे हैं[1]। यह युद्ध नर्मदा के किनारे पर हुआ था अथवा चम्बल के किनारे, यह इस तथ्य पर निर्भर करता है कि बुन्देलखण्ड, ग्वालियर और उज्जैन के ये राजा किसके साथ थे, पुलकेशिन् के या हर्ष के। यदि इस क्षेत्र के राजा पुलकेशिन् के साथ थे तब उसे हर्ष का सामना करने के लिए चम्बल का उत्तरी किनारा उपयुक्त स्थल था। हर्ष नर्मदा के किनारे तक तभी बढ़ सकते थे जब वे इन राजाओं को या तो अपने वशवर्ती कर लेते या उनका समर्थन प्राप्त कर लेते। अइहोल के शिलालेख में लाट, मालव तथा गुर्जर (राजस्थान का पूर्वी भाग) पुलकेशिन् के अधीन बतलाया गया है। अनुमान यह है कि बुन्देलखण्ड, ग्वालियर और उज्जयिनी के इन राजाओं ने पुलकेशिन् का साथ दिया होगा। जो भी हुआ हो, यह स्पष्ट है कि उज्जयिनी-विदिशा से चम्बल के दक्षिणी किनारे तक के क्षेत्र को एक इकाई के रूप में माने जाने की कल्पना विदिशा-पद्मावती-कान्तिपुरी और मथुरा के नागों के समय से प्रारम्भ हुई एवं पुलकेशिन् तथा हर्षवर्द्धन के समय तक वह निरन्तर चलती रही।

इसके पश्चात् उदित हुआ प्रतीहारों अथवा गुर्जर प्रतीहारों का साम्राज्य। ईसवी छठवीं शताब्दी के मध्य में हरिचन्द्र के पुत्रों द्वारा प्रारम्भ किये गये राजवंश राजस्थान, मालवा, गोपाचल तथा उसके पश्चात् चम्बल क्षेत्र पर अधिकार कर कान्यकुब्ज की विजय के लिए वर्तमान इटावा के पास यमुना पार कर आगे बढ़े, ऐसा प्रतीहार-वंश के इतिहास से स्पष्ट है। भिल्लमाल के प्रतीहार-वंश के शिलुक का आधिपत्य वल्लमण्डल पर था। इसी वल्लमण्डल में उज्जयिनी थी जिस पर नागभट्ट प्रतीहार राज्य कर रहा था। नागभट्ट संभवतः शिलुक का प्रभुत्व स्वीकार करता था। इसी के समय में जुनेद के नेतृत्व में अरबों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया था, जिसे प्रतीहार नागभट्ट ने विफल कर दिया था।[2] इस नागभट्ट की राजधानी उज्जयिनी थी। उज्जयिनी के उत्तर में नागभट्ट प्रतीहार का प्रभाव कहाँ तक था, यह जानने का कोई सुनिश्चित आधार नहीं है। इस नागभट्ट का समय ई० सन् ७३० से ७५६ तक माना जाता है। यही समय उस 'जाउल' का है, जिसका उल्लेख पेह्वा के शिलालेख में है और जिसे हम दिल्ली-संस्थापक तोमर राजा से अभिन्न मानते हैं। यदि हमारा यह विचार ठीक हो तब प्रतीहार नागभट्ट प्रथम का प्रभाव चम्बल-क्षेत्र तक अवश्य था, अथवा यह भी सम्भव है कि जाउल स्वयं मालवा में नागभट्ट प्रथम की सेना में सम्मिलित हो गया हो और वहाँ उसे नागभट्ट ने वह कार्य सौंपा हो, जिसका उल्लेख पेह्वा के शिलालेख में है। यह आगे की बात है, अभी सम्बद्ध विषय यह है कि नागभट्ट प्रथम के समय भी उज्जयिनी-विदिशा और चम्बल तक के क्षेत्र में राजनीतिक एक-सूत्रता बनी हुई थी।

प्रतीहार-वंश की कुछ आगे की घटनाएँ भी इस प्रसंग में महत्वपूर्ण हैं। नागभट्ट प्रथम के पश्चात् प्रतीहार राज्य की बागडोर वत्सराज के हाथ में आयी। इस वत्सराज के समय से ही प्रतीहारों, गौड़-बंगाल के पालों और राष्ट्रकूटों के बीच कन्नौज

---

१. डॉ० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ७८।

२. एपि० इण्डि० २८, पृ० ६६।

के साम्राज्य के अवशेषों पर आधिपत्य करने का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के लेख[1] से प्रकट है कि वत्सराज ने गौड़ के राजा को हराया। उस समय के गौड़ के पाल राजाओं का आधिपत्य समस्त उत्तरापथ पर था। इससे प्रकट होता है कि वत्सराज का प्रभाव उत्तर में चम्बल तक अवश्य होगा। नागभट्ट द्वितीय ने भी कन्नौज को जीतने का प्रयास किया था और गौड़ के पाल राजाओं को पराजित किया था। चम्बल-क्षेत्र तक का प्रदेश नागभट्ट द्वितीय के अधिकार में होगा, यह सहज अनुमान किया जा सकता है। आदिवराह भोज के समय से प्रतीहारों का ग्वालियर और चम्बल-क्षेत्र से सम्बन्ध बहुत स्पष्ट हो जाता है। भोज प्रतीहार ने अपने रहने के लिए ग्वालियर गढ़ पर महल बनवाया था और वहाँ उसकी रानियाँ भी रहती थीं। चतुर्भुज मन्दिर के ग्वालियर गढ़ के वि० सं० ९३३ (सन् ८७६ ई०) के शिलालेख में यह उल्लेख है कि यह मन्दिर उस स्थान पर बना था जो भोजदेव के अन्तःपुर के झरोखे से दिखता था।[2] भोज प्रथम के समय में गोपाचलगढ़ प्रतीहारों का प्रमुख स्कन्धावार था और वे चम्बल के दक्षिणी किनारे तक सुदृढ़ रूप से अधिकार किये हुए थे।

कोई आश्चर्य नहीं है कि विदिशा और कान्तिपुरी के नागों से प्रारम्भ हुई उज्जयिनी-विदिशा और चम्बल तक के क्षेत्र को एक राजनीतिक इकाई समझने की इस परम्परा ने अबुलफजल को प्रथम तोमर राजा के स्थान के विषय में भ्रम में डाल दिया हो और उसने राणा जाजू अथवा अनंगपाल प्रथम के बारे में प्राप्त अनुश्रुति को उस मालवे से जोड़ दिया हो, जो अकबर के समय में सूबा-मालवा कहलाता था। वास्तव में राणा जाजू या अनंगपाल के प्रादुर्भाव का स्थल ऐतिहासिक परम्परा के कारण 'मालवा' से जोड़ा गया "चम्बल-क्षेत्र" था।

इस प्रदेश के लिए इस प्रकार का भ्रम अबुलफजल के पूर्व के फारसी इतिहास लेखकों को भी रहा है। तबकाते-नासिरी में नरवर के राजा चाहड़देव (जाहिर देव) को "मालवा" का सबसे बड़ा राजा कहा गया है।[3]

दिल्ली के तोमर 'गोपचलीय' थे, अर्थात् उनका मूल निवास गोपाचल का क्षेत्र था, यहीं से वे दिल्ली गये थे और चम्बल-क्षेत्र से निरन्तर सम्बन्ध बनाए रहे, यह नयचन्द्र सूरि के हम्मीरमहाकाव्य से भी प्रकट होता है।[4]

१. एपि० इण्डि० ६, पृ० २४८।
२. ग्वा० अभि० क्र० ८; एपी० इण्डि० १, पृ० १५६, पंक्ति ६ "श्री भोजदेव प्रतोल्यावतरि।"
३. इस क्षेत्र को मालवा अभिधान देने की परम्परा आधुनिक काल में भी दिखाई देती है। डॉ० आनन्दकृष्ण ने अपनी पुस्तक "मालवा पेण्टिंग्ज" में इस क्षेत्र की मध्ययुग की चित्रकला को 'मालवा कलम' माना है। उनके इस मालवा में मेवाड़ के पूर्व का क्षेत्र है जिसमें चम्बल और नर्मदा के बीच का भू-भाग सम्मिलित है। पूर्व में इसमें चन्देलों का क्षेत्र कालिंजर और खजुराहो भी सम्मिलित माना है। (कलाभवन, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा सन् १९६३ में प्रकाशित "मालवा पेण्टिंग्ज" पृ० ३।)
४. हम्मीरमहाकाव्य (राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान), पृ० १४१।

अल्लामा यदि केवल "मालवा के तोमर" लिखकर ही सन्तुष्ट रह जाते और दिल्ली की स्थापना राणा जाजू या अनंगपाल अथवा अन्य किसी तोमर राजा ने की थी, यही लिख देते, तब उस भ्रम या भूल को क्षम्य माना जाता, परन्तु उन्होंने मालवे के तोमरों का जो काल्पनिक इतिहास लिख डाला, उसके कारण शाही तवारीख तो भ्रष्ट हुई ही, तोमरों का इतिहास भी गड़बड़ा गया।

अबुलफ़जल का "मालवा" अभिवान ऐतिहासिक परम्परा में देखने से गोपाचल गढ़ और चम्वल के किनारे के बीच के क्षेत्र के लिए मानने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होगी। अबुलफ़जल का आशय यह है कि सन् ७३४ ई० (या ७३६ ई०) में कुरुक्षेत्र में अपना राज्य स्थापित करने के पूर्व तोमर राजवंश इस 'मालवा' क्षेत्र में राज्य कर रहा था। इस चम्बल-क्षेत्र से ही विल्हणदेव इन्द्रप्रस्थ पहुँचा और अनंगपाल विरुद धारण कर उसने नये राजवंश की स्थापना की।

(इ) दिल्ली के तोमर

अबुलफजल ने मालवा के तोमरों के इतिहास के अतिरिक्त दिल्ली के तोमरों की वंशावलि और उनका कुछ इतिहास भी दिया है। उसके अनुसार दिल्ली पर २० राजाओं ने ४२७ वर्ष १ मास और २८ दिन राज्य किया। इन बीस राजाओं के नाम और राज्यकाल भी दिये गये हैं, और ये राज्यकाल वर्ष, मास और दिन की विगत सहित हैं। अबुलफजल के अनुसार दिल्ली के प्रथम तोमर राजा अनंगपाल प्रथम ने सन् ७३४ ई० में दिल्ली के राज्य की स्थापना की थी। उसके बतलाए गणित के अनुसार दिल्ली पर उनका राज्य ४२७ वर्ष रहा, अर्थात् सन् ११६१ ई० तक वे दिल्ली के राजा रहे।

परन्तु एक विचित्र बात और है। २० राजाओं के जो अलग अलग राज्यकाल दिये गये हैं उनका योग ४२७ वर्ष १ मास २८ दिन न होकर ४३७ वर्ष ७ मास ५ दिन आता है।[1] अबुलफजल ने दिल्ली के तोमरों का अन्तिम राजा "पृथ्वीराज तोमर" माना है और उसका विग्रहराज चौहान से पराजित होना लिखा है। इस प्रकार यह घटना सन् ११७१ ई० में हुई थी। इसके पश्चात् अबुलफ़जल ने दिल्ली के सात चौहान राजाओं के नाम दिये हैं—विलदेव (वीसलदेव), अपरगंगू, केहरपाल, सुमेर, जाहिर, नागदे और पिथौरा। इनके राज्यकाल भी इस प्रकार दिये हैं कि वे तोमरों के ४२७ वर्ष के राज्यकाल से मेल खा जाएँ और सन् ११९२ में शहाबुद्दीन गौरी की विजय से भी उनका मेल बैठ जाए। अबुलफजल द्वारा जोड़ की भूल और अन्य विभ्रम उसके असमंजस और द्विविधा की ओर संकेत करते हैं। उसे किसी प्रकार 'दिल्ली चौहानों ने ली" इस अनुश्रुति का मेल प्राप्त तथ्यों के साथ बैठाना था, उसके लिए उसे एक तोमर राजा कम करना पड़ा और फिर दस वर्ष भूल-खाते में और घटाने पड़े

१. परिच्छेद १३ की सारणी देखें।

श्री कनिंघम ने दस वर्ष के गणित की भूल को पकड़ा।[1] परन्तु उनके सामने एक कठिनाई और थी। तब तक बीसलदेव द्वारा दिल्ली लेने का समय सन् ११५१ ई० सुनिश्चित रूप से माना जाने लगा था, अतएव अबुलफजल का सन् ११६१ ई० भी उन्हे दस वर्ष आगे ज्ञात हुआ। दस वर्ष की जोड़ की भूल तथा सन् ११६१ तथा ११५१ का दस वर्ष का अन्तर, इस प्रकार उन्हें २० वर्ष का मेल बैठाना था। इस अन्तर को पूरा करने के लिए श्री कनिंघम ने अबुलफजल की वंशावलि का अन्तिम राजा पृथ्वीराज तोमर फालतू मान लिया।[2] इधर रासो में उन्हें यह लिखा मिला कि दिल्ली का राज्य खोने वाला तोमर राजा अनंगपाल था, अतएव अबुलफजल की वंशावलि के १९वें राजा 'अनेकपाल' के नाम का शुद्ध रूप अनंगपाल माना गया। क्योंकि दो अनंगपाल पहले थे, अतएव यह तृतीय अनंगपाल हो गया।

यदि "दिल्ली चौहानों ने ली थी" अनुश्रुति से अबुलफजल प्रभावित न होता तब निश्चय ही वह यह खोज करता कि पृथ्वीराज तोमर के पश्चात् कोई एक तोमर राजा और हुआ होगा। इस खोज का फल भी उसे सुगमता से प्राप्त हो जाता, क्योंकि अबुलफजल के कथन से ही यह स्पष्ट है कि उसके समक्ष मिनहाज-सिराज की तबकाते-नासिरी थी और उसके आधार पर वह दिल्ली के राय खण्डी, कण्डी या गोविन्द को दिल्ली के तोमरों की वंशावलि में जोड़ देता।

अबुलफजल द्वारा दी गयी तोमर वंशावलि पर आगे अन्य वंशावलियों के साथ विचार किया गया है, यहाँ उसके द्वारा दिया गया दिल्ली के तोमर-चौहानों का इतिहास दिया जाता है।

"विक्रमीय वर्ष संवत् ४२९ (वलभी संवत् अर्थात् सन् ७३४ ई०) में तोंवरकुल का अनंगपाल न्यायपूर्वक राज्य करता था और उसने दिल्ली की स्थापना की। उसी चान्द्रसौर वर्ष के सं० ८४८ (वलभी संवत् अर्थात् सन् ११६६ ई०) में उस प्रसिद्ध नगर के निकट पृथ्वीराज तोमर और बीलदेव (वीसलदेव) चाहान में घमासान युद्ध हुआ और शासन बाद वाले वंश के हाथ में चला गया। राय पिथौरा के राज्यकाल में सुल्तान मुईजुद्दीन साम ने हिन्दुस्तान पर अनेक आक्रमण किये, जिनमें उसे कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। हिन्दू इतिहासों का कथन है कि राजा ने सुल्तान से सात बार युद्ध किये और उसे पराजित किया। ५८८ हिजरी (सन् ११९२ ई०) में थानेश्वर के पास आठवाँ युद्ध हुआ और राजा बन्दी हुआ। कहा जाता है कि एक सौ प्रसिद्ध योद्धा उसके विशिष्ट अनुयायी थे। वे अलग-अलग सामन्त कहलाते थे और उनके असाधारण शौर्य का न वर्णन हो सकता है और न अनुभव या तर्क से उसका समाधान किया जा सकता है कि इस युद्ध में उनमें से कोई नहीं था, राजा भोग विलास में अपने महल में ही पड़ा कामकेलि में समय नष्ट करता रहा और उसने न राज्य के शासन पर ध्यान दिया और न अपनी सेना की कुशलता पर।"

---

१. आर्को० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १४२।
२. वही, पृ० १४९।

इसके आगे अबुलफ़ज़ल ने जयचन्द्र के राजसूय यज्ञ और राय पिथौरा द्वारा संयोगिता-हरण की कथा ठीक रासो (लघुतम, लघु तथा वृहत् संस्करण) के अनुसार दी है। समस्त एक सौ सामन्त संयोगिता की प्राप्ति के लिए वलि देकर "चांदा तथा अपने दो भाइयों के साथ, अपनी नव-वधू को लेकर, जगत को आश्चर्य-मग्न करता हुआ, राय पिथौरा दिल्ली पहुँचा।"

आगे अबुलफजल ने लिखा है "दुर्भाग्य से राजा अपनी इस सुन्दरी स्त्री के प्रेम में ऐसा लिप्त हो गया कि और सब कामकाज छोड़ बैठा। इस प्रकार एक वर्ष बीत जाने पर, ऊपर वर्णित घटनाओं के कारण सुल्तान शहाबुद्दीन ने राजा जयचन्द से मैत्री स्थापित कर ली, और एक सेना इकट्ठी कर इस देश पर आक्रमण कर दिया और बहुत से स्थानों को हस्तगत कर लिया। किन्तु किसी को कुछ बोलने का साहस न हुआ, उसका प्रतिकार करना तो दूर की बात थी। अन्त में मुख्य सामन्तों ने सभा करके राजभवन के गुप्त द्वार से चांदा को भेजा, जिसने रनिवास में पहुँच कर अपने कथनों से राजा के मन में कुछ क्षोभ उत्पन्न किया। किन्तु राजा अपनी पूर्ववर्ती विजयों के अभिमान में युद्ध में एक छोटी सी सेना लेकर गया। उसके वीर योद्धा अब नहीं थे; अतएव उसके राज्य की पूर्व धाक जाती रही थी, और जयचन्द जो उसका पहले सहयोगी था अपनी पुरानी नीति बदलकर शत्रु के पक्ष में था, फलतः इस युद्ध में राजा बन्दी हुआ और सुल्तान के द्वारा गजनी ले जाया गया।"

अबुलफजल की कहानी या इतिहास आगे चलता है "चांदा अपनी स्वामिभक्ति के कारण तुरन्त गजनी गया, सुल्तान की सेवा में नियुक्त हो गया और उसका विश्वास-भाजन बन गया। प्रयत्नों से उसने राजा का पता लगा लिया और बन्दीगृह में पहुँच कर उसे सांत्वना प्रदान की। उसने सुझाया कि वह सुल्तान से उसके धनुर्विद्या के कौशल की प्रशंसा करेगा और जब वह उसके इस कौशल को देखने के लिए तयार होगा, राजा को उस अवसर से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त हो जाएगा। यह प्रस्ताव मान लिया गया और राजा ने सुल्तान को एक बाण से विद्ध कर दिया। सुल्तान के भृत्य राजा और चांदा पर टूट पड़े और उन्होंने उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर डाला। फारसी इतिहासकार एक भिन्न विवरण देते हैं और कहते हैं कि राजा युद्ध में मारा गया।"

अबुलफजल के इतिहास का आधार

अबुलफजल को ये सूचनाएँ कहाँ से प्राप्त हुईं, इसका उल्लेख आईने-अकबरी में नहीं है। उसे यह ज्ञात था कि दिल्ली के तोमर राजाओं में एक पृथ्वीराज तोमर भी था। यह जानकारी निश्चय ही उसे पृथ्वीराज रासो से नहीं मिली थी, क्योंकि रासो के अनुसार किसी अनंगपाल तोमर से चौहानों ने दिल्ली ली थी न कि पृथ्वीराज तोमर से। 'इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध' में अवश्य वीसलदेव चौहान और पृथ्वीराज तोमर के बीच घोर युद्ध दिखाया गया है और उसमें पृथ्वीराज तोमर पराजित हुआ भी दिखलाया गया है। परन्तु अबुलफजल को प्राप्त जानकारी के अनुसार वीसलदेव चौहान और पृथ्वीराज तोमर के बीच सन् ११६६ ई० में युद्ध हुआ था। उस समय तक वीसलदेव मर चुका था

और खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि के अनुसार सन् ११६६ ई० में दिल्ली का राजा मदनपाल तोमर था। वास्तव में अबुलफजल के समक्ष इस अनुश्रुति ने उलझन उत्पन्न करदी थी कि चौहानों ने भी दिल्ली पर राज्य किया था। इस अनुश्रुति को ठीक मान लेने के कारण उससे सामंजस्य बैठाने के उद्देश्य से उसे चाहड़पाल तोमर का अस्तित्व कम करना पड़ा और पृथ्वीराज तोमर को बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का समकालीन मानना पड़ा।

जयचन्द्र गहड़वाल और राय पिथौरा में कभी मैत्री थी और जयचन्द्र ने शहाबुद्दीन की सहायता की थी, ये कथन भी नितान्त निराधार हैं। ज्ञात यह होता है कि अबुलफजल को भारतीय इतिहास की जानकारी देने के लिए कुछ उसी प्रकार के जानपाँडे मिल गये थे जैसे फीरोज तुगलुक के दरबार में इकट्ठे हो गये थे। 'जब फीरोजशाह अशोक-स्तंभ को दिल्ली ले आया तब उस पर खुदे हुए शिलालेख भी देखे गये। फीरोज ने उनका आशय जानना चाहा।[1] कुछ लोगों ने तो यह मान लिया कि उनसे वे शिलालेख नहीं पढ़े जाते, तथापि कुछ ने अपनी विद्वत्ता को आँच न आने दी और उसे पढ़ कर सुना दिया तथा यह आशय समझा दिया कि इस पर लिखा है कि इस स्तंभ को कोई न उखाड़ सकेगा, केवल एक फिरोजशाह नामक बादशाह होगा जो इसे उखड़वा सकेगा।

आख्यान, कल्पना और अनुमानों पर आधारित अबुलफजल के इन कथनों के कारण भारतीय इतिहास को बहुत हानि हुई है। उसे प्रमाण मान कर उसे अनेक बार दुहराया गया है। दिल्ली पर चौहानों के राज्य होने की कल्पना के साथ-साथ संयोगिता-हरण तथा जयचन्द्र का देशद्रोही होना दोनों ही ऐतिहासिक तथ्य मान लिये गये।

१. डॉ० रिजवी : तुगलुक कालीन भारत, भाग २, पृ० १२८।

अनुश्रुतियाँ

राणा अमरसिंह का संदेश

मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह की ओर से हल्दीघाटी के युद्धक्षेत्र में ग्वालियर के तोमर राजा विक्रमादित्य का पुत्र रामसिंह अपने तीनों पुत्रों के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ था।[1] रामसिंह के पुत्र शालिवाहन के साथ सीसौदिया राजकुमारी का विवाह हुआ था। निश्चय ही महाराणा प्रताप और उनके राजकुमार अमरसिंह को तोमरों के इतिहास की जानकारी होगी। अपने संकट के समय में राणा अमरसिंह ने अब्दुर्रहीम खानखाना के पास सन्देश भिजवाया था और रहीम ने उसका उत्तर भी भेजा था। उससे दिल्ली के तोमरों के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। उदयपुर के कविराय मोहनसिंह ने संदेशों के इस आदान-प्रदान को प्रकाशित किया है।[2] राणा अमरसिंह ने संदेश भेजा था—

तंवरां सूं दिल्ली गयी राठौड़ां कनवज्ज।
कहिजो खानाखान ने ऊ दन दीखे अज्ज॥
गौड़ कछावा राठवड़ गोखां जोख करंत।
कहिज्यो खानाखान नै (म्है) बनचर हुआ फिरंत॥

रहीम ने उत्तर दिया था[3]—

धर रहसी रहसी धरम खप जासी खुरसाण।
अमर विसंभर ऊपरै, राखो निहचौ राण॥

कविराय मोहनसिंह ने इन पद्यों में कुछ गूढार्थ की खोज की थी। परन्तु प्रथम छन्द का अर्थ बहुत गूढ नहीं है। राणा अमरसिंह केवल यह सूचना देना चाहते थे कि तोमरों और राठौरों (गहड़वालों) से (एक ही समय) तुर्कों ने राज्य ले लिया था। खानखाना से यह संदेश कहना कि अब वह स्थिति आगयी है कि मेवाड़ का राज्य भी तुर्कों के पास चला जाएगा।

इस अनुश्रुति को प्रामाणिक माना जा सकता है। यदि यह प्रामाणिक है, तब तोमरों का राज्य तुर्कों ने छीना था, न कि चौहानों ने। यदि विग्रहराज चतुर्थ के समय

१. आगे परिच्छेद ४२ देखें।
२. राजस्थान भारती, भाग १, अंक २-३, जुलाई-अक्टूबर, सन् १९४६, पृ० ४२।
३. मध्ययुग में राजनीतिक संदेशों का आदान-प्रदान चारणों के माध्यम से होता था। वह पद्यबद्ध ही रहता था और मौखिक एवं लिखित दोनों प्रकार से सुरक्षित रखा जाता था। ये चारण-गीत अत्यन्त प्रामाणिक हैं।

रावलु अनंगपालु १६, रावलु तेजपालु १७, रावलु मदनपालु १८, रावलु क्रितपालु १६, रावलु लखणपालु २०, राणा पृथ्वीपालु २१, इति राजावली ॥६॥

ततः संवत् १२१६ वर्षे तोमर राजानुं पस्ते चोहाणवंशी रावलु वीसल राज लियो १, अमर गंगेय २, पीथड ३, सोमसर ४, रावल पीयरु ५, रावलु बाहलु न्यागद्यो ७, रावलु पृथ्वीराज ८: इतने चौहाण हुवे।

संवत् १२४६ वर्षे चैत्र बदी २ तेजपाल ढोली लयी। पृथ्वीराज को सवकुवर वीसलपास को पुत्र दिवाकर बांध लियो ॥

संवत् १२४६ वर्षे चैत्र सुदी २, सुलितान शाहबुद्दीन गजनी तहि आयो। १४ वर्षि राज कियो ॥

इन अनुश्रुति में दिल्ली के तोमरों का इतिहास कुछ विस्तार से, तथा अनेक अंशों में प्रामाणिक रूप में मिलता है। अन्य-स्रोतों से इसका समर्थन या खण्डन किस सीमा तक होता है, यह यथाक्रम विवेचित होगा, यहाँ इस 'राजावली' से उपलब्ध तथ्य स्मरण योग्य हैं।

वि० सं० ८३६ (सन् ७८२ ई०) में तोमरों को दिल्ली का राज्य प्राप्त हुआ था। उनके प्रथम राजा का नाम 'आदि राणा जाजु' था।

आदि राणा जाजु की सोलहवीं पीढ़ी में रावल अनंगपाल हुआ था।

रावल अनंगपाल के पश्चात् वि० सं० १२१६ (सन् ११६२ ई०) तक इक्कीस तोमर राजाओं ने दिल्ली पर राज्य किया और जिस तोमर राजा से, इस राजावलि के अनुसार, वीसल चौहान ने राज्य लिया था, उसका नाम पृथ्वीराज तोमर था।

इस राजावलि के अनुसार सन् ११९२, मार्च ३, मंगलवार (वि० सं० १२४६, चैत्रवदि २) को दो घटनाएँ हुईं। (ताराइन के युद्ध में मरने वाले 'दिल्ली के राजा' के पुत्र) तेजपाल ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज के सहकुंवर, वीसल के पुत्र, दिवाकर (नागार्जुन) ने स्वयं दिल्ली सम्राट् बनने की योजना बनाई थी, अतएव तेजपाल ने उसको वन्दीगृह में डाल दिया।

सन् ११९२, १७ मार्च, मंगलवार (संवत् १२४६, चैत्र सुदि २) को शहाबुद्दीन गौरी ने तेजपाल को पराजित कर दिया और उससे दिल्ली का राज्य छीन लिया।

इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध

किसी अज्ञात लेखक का 'इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध' प्रकाशित हुआ है। उसकी रचना आमेर के निवासी किसी दिगम्बर जैन सम्प्रदायानुयायी पंडित ने की है, ऐसा मुनि श्री जिनविजय जी का अभिमत है।[1]

इसकी रचना पिछले मुगल सम्राटों के समय में हुई है। इस पुस्तक की एक प्रति में मुगल जहाँदारशाह (१७१२-१७१३) के राज्यकाल का उल्लेख है और दूसरी में

१. इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध (राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान जोधपुर), प्रधान सम्पादकीय वक्तव्य।

फरुकसियर (१७१३-१७१९) का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इसका लेखक कभी १७१५ ई० के आसपास विद्यमान था। कालक्रम में यह सब से बाद की रचना है। तथापि इसके कुछ विवरण मनोरंजक हैं।

पहले सर्ग में दिल्ली के विभिन्न एकादश नाम दिये गये हैं—

शक्रपंथा इन्द्रप्रस्था शुभकृत् योगिनीपुरः
दिल्ली ढिल्ली महापुर्या जिहानावाद इष्यते।
सुषेणा महिमायुक्ता शुभाशुभकरा इति
एकादशमितनामा दिल्लीपुरी च वर्तते॥

इनमें शक्रपंथा इन्द्र के राज्य का सतयुग का नाम है, दिल्ली और शाहजहांनाबाद तोमरों के पश्चात् के नाम हैं। दूसरे सर्ग में शक्रपंथा से इन्द्रप्रस्थ नाम कैसे पड़ा इसका वर्णन है। शक्रपंथा में इन्द्र ने राज्य किया, इस कारण उसका नाम इन्द्रप्रस्थ पड़ा था। फिर पांडव वंश के राजाओं के नाम दिये गये हैं।

तृतीय सर्ग में 'रामवंश' का राज्य प्रारम्भ होता है। रामवंश का पहला राजा शंखध्वज है। उसने योगिनीपुर में राजधानी बनाई, तथा राजधानी का नाम दिल्ली रखा। उसके पश्चात् परमार विक्रम राजा हुआ।

चतुर्थ सर्ग में परमार-वंश की नामावली दी गई है। इस सर्ग में दिल्ली-ढिल्ली की कथा भी दी गई है, जिसके अनुसार किसी व्यास ने प्रथम तोमर राजा बिल्हण को किल्ली देकर उसे गाढ़ने का आग्रह किया था। किल्ली गाढ़ दी गई और वह शेषनाग के सिर तक पहुँच गई। व्यास ने आशीर्वाद दिया कि जब तक किल्ली स्थापित है तोमरों का राज्य दिल्ली पर अटल रहेगा। बिल्हण के मस्तिष्क में दुर्बुद्धि जागी और उसने यह परखना चाहा कि वास्तव में किल्ली शेषनाग के मस्तक तक पहुँची या नहीं। किल्ली को जब खोदा गया तब उसकी नोंक में रक्त निकला। राजा बहुत दुःखी हुआ। व्यासजी को पुनः बुलाया गया। उन्होंने राजा को फटकारा और किल्ली को पुनः गाढ़ दिया। अबकी बार वह केवल १९ अंगुल भूमि के भीतर गयी। व्यास ने कहा कि अब तेरा राज्य १९ पीढ़ी तक चलेगा; तोमरों के पश्चात् चौहानों का राज्य होगा, फिर पठान आएँगे, फिर मुगल। आगे कभी सिसोदिया वंश का भी राज्य होगा, फिर म्लेच्छ राजा होंगे। आगे पृथ्वीराज रासो का 'अनंगपाल चक्कवे मति जोइ सोउ कीली' छंद दे दिया गया है।

यह कथा और दिल्ली के राज्य का भविष्य का कार्यक्रम पृथ्वीराज रासो के अनुसार है। सन् १७०० के पश्चात् भी दिल्ली पर मेवाड़पति के राज्य होने की कल्पना जीवित थी!

प्रबन्ध के लेखक की दिल्ली-किल्ली कथा के अनुसार दिल्ली पर केवल १९ तोमर राजाओं का राज्य होना था। पाँचवे सर्ग में तोमर राजाओं के राज्य का विवरण दिया गया है तथा कहा गया है—

एकोनविंशति राजा त्वत्कुले स्यास्यति नृपः

फिर आगे १६ तोमर राजाओं के नाम तथा प्रत्येक के राज्यकाल का समय वर्ष, मास, दिन और घड़ी में दिया गया है—

१.	विल्हणदे (अनंगपाल)	१६ वर्ष	५ मास	३ दिन	१८ घड़ी
२.	गंगेव	२१ ,,	३ ,,	३ ,,	८ ,,
३.	पृथकु	१६ ,,	६ ,,	६ ,,	११ ,,
४.	सहदेव	२० ,,	७ ,,	२७ ,,	१५ ,,
५.	श्रीयुतयुत	१५ ,,	३ ,,	८ ,,	३ ,,
६.	कुन्दयुत	१४ ,,	४ ,,	६ ,,	६ ,,
७.	नरपाल	२६ ,,	७ ,,	११ ,,	२० ,,
८.	वत्सराज	२१ ,,	२ ,,	१३ ,,	११ ,,
६.	वीरपाल	२१ ,,	६ ,,	५ ,,	११ ,,
१०.	गोपाल	२० ,,	४ ,,	४ ,,	८ ,,
११.	तोल्लण	१८ ,,	३ ,,	५ ,,	८ ,,
१२.	जुलखरी	२० ,,	१० ,,	१० ,,	१६ ,,
१३.	तसखरी	२१ ,,	४ ,,	३ ,,	१ ,,
१४.	कवरपाल	२१ ,,	३ ,,	११ ,,	८ ,,
१५.	अनंगपाल	१६ ,,	६ ,,	१८ ,,	१० ,,
१६.	तेजपाल	२४ ,,	१ ,,	६ ,,	११ ,,
१७.	मोहपाल	१५ ,,	३ ,,	१७ ,,	११ ,,
१८.	स्कंदपाल	१२ ,,	६ ,,	१६ ,,	० ,,
१६.	पृथ्वीराज	२४ ,,	३ ,,	६ ,,	१७ ,,
		३७०	१०२	१८१	१६६

इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध के अनुसार दिल्ली के तोमरों का राज्य लगभग ३७३ वर्ष रहा। यह गणित किसी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकता।

इसके पश्चात् पृथ्वीराज तोमर और वीसलदेव चौहान कुरुक्षेत्र में भीषण युद्ध दिखाया गया है, इसमें चौहान वीसल विजयी हुआ। उसके पश्चात् चौहानों के सात राजाओं को दिल्ली का राजा दिखाया गया है—

१.	वीसलदे	६ वर्ष	१ मास	४ दिन	४ घड़ी
२.	गंगेव	५ ,,	२ ,,	३ ,,	११ ,,
३.	पहाड़ी	८ ,,	१ ,,	५ ,,	१ ,,
४.	स्यामसु	७ ,,	४ ,,	२ ,,	८ ,,
५.	विहाड़ी	४ ,,	४ ,,	८ ,,	० ,,
६.	गंगेव	३ ,,	१ ,,	५ ,,	११ ,,
७.	पृथ्वीराज	१६ ,,	१ ,,	२१ ,,	३ ,,
		४६	१४	४८	३४

प्रवन्ध के अनुसार चौहानों ने दिल्ली पर लगभग ५० वर्ष राज्य किया था, अर्थात् विग्रहराज चतुर्थ और पृथ्वीराज तोमर का युद्ध सन् ११४२ के आसपास हुआ था। उस समय न वीसल चौहान का अस्तित्व था और न पृथ्वीराज तोमर का। केवल तोमर-वंशावलि के निर्धारण में भी प्रवन्ध अधिक सहायक नहीं है। उसके कुछ नाम ही अन्य वंशावलियों से समानता रखते हैं। साथ ही उसमें जुलखरी और तसखरी जैसे नाम भी मिलते हैं जो या तो प्रतिलिपिकार की मसखरी है या स्वयं प्रवन्ध के लेखक की।

औरंगजेबकालीन ख्यात

औरंगजेब के समय में महाराज जसवंतसिंह के मंत्री मुंहता नेणसी ने एक ख्यात लिखी है जो "मुंहता नेणसीरी ख्यात"[1] अथवा "मुंहता नैनसी की ख्यात"[2] के रूप में प्रकाशित हुई है। यह दिल्ली संस्थापक तोमर राजा के पश्चात् दिल्ली खोने वाले तोमर राजा के इतिहास के लिए उपयोगी नहीं है। तथापि दिल्ली की स्थापना के वारे में उसमें एक महत्वपूर्ण "विगत" प्राप्त होती है। इस विगत में सम्वद्ध प्रविष्टि के पाठ तीन रूप में प्राप्त हुए हैं—

"संमत ८०९ वैसाख सुदि १३ दिल्ली वसी।"

"संमत ८२९ दिली खूंटी गाड़ी। दिल्ली वसाई अनंगपाल।"

"संमत ८२९ वैसाख सुदि १३ सुकरवार नखत उतार फालगणी तुवर आणगपाल राजे दिल्ली मंडी।"

टॉड को प्राप्त अनुश्रुतियाँ

श्री टॉड ने सवाई जयसिंह के समय में लिखी गयी राजतरंगिणी तथा राजावलि का उपयोग किया था। इनको देखने का हमें सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका, केवल श्री टॉड ने अपने ग्रन्थ में उनके विषय में जो उल्लेख किये हैं वही हमें उपलब्ध हुए हैं। तोमरों द्वारा दिल्ली वसाने की घटना और उसके पश्चात् का जो विवरण श्री टॉड ने दिया है वह, संभवतः सवाई जयसिंह-कालीन राजतरंगिणी तथा राजावलि के आधार पर नहीं है, वरन् चन्द वरदायी के एक लाख श्लोक वाले पृथ्वीराज रासो के पाठ पर आधारित है। परन्तु उसी प्रसंग में टॉड ने एक ऐसे ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है जो उनके पास था। श्री टॉड का विवरण कितना उस ग्रन्थ के आधार पर है और कितना स्वयं उनका है, यह समझना कठिन है। श्री टॉड ने लिखा है[3]—

"परन्तु वह (अनंगपाल) १९ राजाओं के उस राजवंश में अन्तिम था जिन्होंने उसके संस्थापक वीलनदेव के समय से लगभग चार सौ वर्ष राज्य किया, जो लेखक के आधिपत्य के एक हस्तलिखित ग्रन्थ के अनुसार उस समय केवल एक समृद्ध

१. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, द्वारा प्रकाशित।

२. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित।

३. टॉड : एनाल्स, १८९८ का संस्करण, प्रथम भाग, पृ० २६८।

ठाकुर था जब उसने उस समय वीरान इन्द्रप्रस्थ में, अनंगपाल विरुद ग्रहण कर राज-चिह्न धारण किये, और यह 'अनंगपाल' शब्द उसके वंश में उसके समय से ही विरुद के रूप में ग्रहण किया जाता रहा। इस समय अजमेर के चौहान दिल्ली का प्रभुत्व मानते थे, यद्यपि बीसलदेव ने इस प्रभुत्व को केवल नाममात्र का बना दिया था, और उसके चौथे वंशधर सोमेश्वर के प्रति इस कारण कृतज्ञ था कि उसने कन्नौज के प्रयासों के विरुद्ध उसे अपनी प्रभुसत्ता की सुरक्षा करने में सहायता दी थी, और इस सेवा के लिए उसने (सोमेश्वर ने) तोमर की पुत्री को विवाह में प्राप्त किया था, जिससे पृथ्वीराज उत्पन्न हुआ था, जिसे उसकी आठ वर्ष की अवस्था में ही दिल्ली का राजा घोषित कर दिया गया था।"

स्पष्ट है कि श्री टॉड का यह विवरण न केवल उस हस्तलिखित ग्रन्थ पर आधारित है जिसका उन्होंने उल्लेख किया है, वरन् उसके साथ पृथ्वीराज रासो में दिया गया विवरण भी जुड़ा हुआ है, जिसके आधार पर कोई 'अनंगपाल' पृथ्वीराज तृतीय का भी समकालीन माना गया है और यह परम्परा जड़ पकड़ गयी है कि दिल्ली के तोमरों का राज्य किसी अनंगपाल के हाथ से चौहानों को प्राप्त हुआ था। इस अनुश्रुति में संशोधन करने वाले विद्वानों ने दिल्ली प्राप्त करने वाले चौहान राजा को पृथ्वीराज तृतीय के स्थान पर विग्रहराज चतुर्थ तो माना, तथापि दिल्ली खोने वाले तोमर का नाम, इस अनुश्रुति के अनुसार वे 'अनंगपाल' ही मानते रहे, और उसका मेल बैठाने के लिए उसे "तृतीय" संख्या दे दी। दिल्ली के तोमरों के इतिहास की यह समस्या अधिक महत्वपूर्ण है, अतएव उसका विवेचन अन्यत्र किया गया है। यहाँ यही लिखना अभीष्ट है कि श्री टॉड को जो ग्रन्थ प्राप्त था, उससे संभवतः उन्हें यही जानकारी प्राप्त हुई थी कि दिल्ली संस्थापक का एक नाम 'बीलनदेव' था, उसकी १९ पीढ़ियों के पश्चात् दिल्ली तोमरों के हाथ से चली गयी।

श्री कनिंघम को प्राप्त साहित्य

मेजर जनरल कनिंघम ने चार अन्य वंशावलियों का उल्लेख किया है। गढ़वाल और कुमायूं की दो तोमर वंशावलियां श्री कनिंघम के पास थीं। केदारनाथ में प्राप्त वंशावलि भी उन्होंने देखी थी। चौथी वंशावलि मूकजी भाट की थी। इस वंशावलि का उपयोग अबुलफजल ने भी किया था, श्री टॉड ने भी उसे देखा था और श्री कनिंघम ने भी। सैयद अहमद द्वारा लिखित आरायशे-महफिल तथा मंगलसेन द्वारा लिखित बुलन्दशहर का इतिहास भी श्री कनिंघम ने देखा था। यह साहित्य हमें उपलब्ध नहीं हो सका। हमारे समक्ष केवल श्री कनिंघम द्वारा उपयोग किये गये उनके अंक और तथ्य ही हैं।

यहाँ श्री कनिंघम के अनुसार उन्हें प्राप्त विभिन्न पोथियों की विशिष्ट बातों को एकत्रित कर लेना उचित है।

कुमायूं-गढ़वाल की वंशावलियों में पहले तीन नाम नहीं दिये गये हैं और चौथे राजा का राज्य वि० सं० ८४६ (सन् ७८९ ई०) में प्रारंभ होना बतलाया गया है।

इनमें अन्य राजाओं के राज्य का समय भी दिया गया है। परन्तु ये वंशावलियाँ अधूरी हैं, इनमें केवल १५ राजाओं के नाम दिये गये हैं।

बीकानेर की वंशावलि में राजाओं के नाम वही हैं जो अबुलफजल की वंशावलि में हैं, तथापि उसमें राजाओं के राज्यों का समय नहीं दिया गया है।

कुमायूं और गढ़वाल की पोथियों में दिल्ली पर चौहानों का राज्य ४१॥ वर्ष बतलाया है। खड्गराय ने यह समय ४० वर्ष माना है। क्यामखाँ रासो में यह समय ४८ वर्ष दिया गया है।

अनुश्रुतियों का महत्व

अनुश्रुतियाँ इतिहास-निर्माण में बहुत उपयोगी मानी जाती हैं, परन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक वे सुनिश्चित तथ्यों के विपरीत नहीं जातीं। अनेक भाषाओं में, अनेक कण्ठों से और विविध माध्यमों से बहुकाल से प्रचारित दिल्ली के विषय में यह अनुश्रुति 'तोमर तें चहुआन होहि' इस स्थापना का खण्डन नहीं कर सकती कि सन् ११५१ ई० से ११९२ ई० तक कभी कोई चौहान राजा दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठा, वह स्थान उनके लिए रिक्त ही नहीं था। यद्यपि केवल कौतूहलवश उस मनोवैज्ञानिक कारण को खोजने का भी हमने प्रयास किया है जिसके आधार पर यह मिथ्या प्रवाद प्रारंभ हुआ था तथापि यह बहुत आवश्यक नहीं है। इस प्रवाद का कारण कुछ भी रहा हो, वह उपलब्ध सामग्री से नितान्त मिथ्या सिद्ध हो जाता है। वे कारण खोजना बहुत उपयोगी नहीं है जिनसे प्रेरित होकर रासोकार भाट ने इस कथा की सृष्टि की कि अनंगपाल ने राय पिथौरा को दिल्ली का राज्य दान में दिया था, यह पर्याप्त है कि यह जान लिया जाए कि यह विशुद्ध कल्पना है। इसी प्रकार, इस ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि अबुलफजल और इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध के लेखक ने विग्रहराज चतुर्थ और पृथ्वीराज तोमर के बीच युद्ध की कथा की सृष्टि क्यों की अथवा विग्रहराज द्वारा दिल्ली जीतने का प्रवाद किन कारणों से फैला, इतिहास के प्रयोजनों के लिए केवल यह जान लेना पर्याप्त है कि ये सब निराधार कल्पनाएँ हैं। अन्य ऐतिह्य सामग्री के आधार पर यदि यह पूर्णतः सिद्ध हो कि सन् ७३६ ई० से सन् ११९३ ई० तक दिल्ली पर तोमरों का राज्य बना रहा तब अनुश्रुतियों के आधार पर इसके विपरीत कथन को नहीं माना जा सकता। अनुश्रुतियाँ इतिहास-निर्माण की सर्वाधिक निर्बल आधार होती हैं, उनका उपयोग केवल अन्तरालों को भरने के लिए किया सकता है, वे श्रेष्ठतर ऐतिह्य सामग्री का खण्डन नहीं कर सकतीं।

परन्तु 'चौहानों ने दिल्ली ली' प्रवाद की मृत्यु से दुःखी होने वाले समुदाय या सम्प्रदाय को सांत्वना देने का एक आधार अनुश्रुति में मिलता है, जो अशुद्ध भी ज्ञात नहीं होता। वि० सं० १६८५ की वंशावलि में एक घटना का उल्लेख है। जिस समय चाहड़-पाल तोमर और उसका राजकुमार तेजपाल ताराइन के युद्ध में व्यस्त थे उस समय एक चौहान कुमार दिवाकर (नागार्जुन) ने दिल्ली के सिंहासन पर कब्जा कर लिया था।

चाहड़पाल ताराइन के युद्ध में मारा गया और जब उसका राजकुमार तेजपाल युद्धक्षेत्र से भाग कर दिल्ली आया तब उसने देखा कि जिसे तोमरों ने जन्म से ही प्रश्रय दिया था वही भानजा-राजा दिवाकर (नागार्जुन) दिल्ली के सूने सिंहासन पर बैठ गया है। तेजपाल ने उसे परास्त कर बन्दी बना लिया। निश्चय ही चौहान दिवाकर एक-दो दिन तक तो दिल्ली-सम्राट् बना ही रहा होगा। इससे अधिक इतिहास उस अनुश्रुति की पुष्टि नहीं करता जिसमें कहा गया है : "अभोजितोमरैरादौ चौहाणैस्तदनंतरम्" या "तोंवर ते चहुआन होई"।

वंशावलि और काल-निर्धारण

कुछ सुनिश्चित तथ्य और तिथियाँ

समस्त ऐतिह्य सामग्री के विवेचन से दिल्ली के तोमरों के इतिहास की कुछ तिथियाँ सुनिश्चित रूप से स्थापित मानी जा सकती हैं और उनके साथ कुछ घटनाएँ और व्यक्ति भी अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। पिछले अनुच्छेदों में फैली हुई तिथियों और घटनाओं को एक स्थल पर रखकर आगे बढ़ना उपयोगी होगा।

(१) सन् ७३६ ई० में जाउल (आदिराणा जाजू या वीलनदेव) ने चम्वल क्षेत्र, तँवरघार, से चलकर कुरुक्षेत्र में नवीन राजवंश की नींव डाली। इसे अमीरखुसरो ने अनंगपाल कहा है, अर्थात् अनंगपाल प्रथम।

(२) इस राजवंश में श्रीजाउल, श्रीआपृच्छदेव, श्रीपीपलराजदेव (श्रीवृक्ष), श्रीसल्लक्षणपालदेव, श्रीअनंगपालदेव (श्रीकिल्लीदेवपाल), श्रीमदन-पालदेव, श्री पृथ्वीराजदेव तथा श्री चाहड़पालदेव नामक आठ राजाओं ने अपने सिक्के ढलवाये।

(३) शिलालेखों से यह तथ्य सामने आता है कि सन् १०५१-१०८१ के बीच अनंगपाल द्वितीय राज्य कर रहा था। श्रीधर के पार्श्वनाथ चरित से भी इसकी पुष्टि होती है। विजयपालदेव सन् ११५० ई० में राज्य कर रहा था, यह भी उसके शिलालेख से प्रकट है।

(४) ललित-विग्रह-राज नाटक के आधार पर यह माना जा सकता है कि सन् ११५१-११५३ के बीच मदनपाल तोमर की राजकुमारी के साथ अजयमेरु के चौहान विग्रहराज चतुर्थ का विवाह हुआ था।

(५) खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि के अनुसार मदनपाल तोमर ने निश्चय ही दिल्ली पर सन् ११५१ से सन् ११६६ या ११६७ ई० तक राज्य किया।

(६) ठक्कुर फेरू की द्रव्यपरीक्षा के अनुसार मदनपाल तोमर के पश्चात् ही पृथ्वीराज तोमर तथा चाहड़पाल तोमर दिल्ली के राजा हुए।

(७) वि० सं० १६८५ की राजावलि के अनुसार ३ मार्च ११९२ को तेजपाल तोमर दिल्ली के सिंहासन पर वैठा और १९ मार्च ११९२ ई० को उसे शहाबुद्दीन ने पराजित कर दिया। इसी स्रोत के अनुसार ३ मार्च ११९२ के आस-पास चौहान कुमार दिवाकर (नागार्जुन) ने एक-दो दिन के लिए दिल्ली के सूने सिंहासन पर अधिकार कर लिया और तेजपाल ने उसे वन्दीगृह में डाल दिया।

(८) राणा अमरसिंह के संदेश से यह प्रमाणित है कि दिल्ली के तोमर और कन्नौज के गहड़वालों का राज्य तुर्कों ने साथ-साथ ही लिया था।

(९) उत्बी, तबकाते-नासिरी, तारीखे-फरिश्ता आदि से भी अनेक तथ्य और तिथियाँ प्राप्त होती हैं। उनमें से यहाँ केवल कुछ का उल्लेख ही पर्याप्त है। सन् ११९१ में दिल्ली के चाहड़पाल ने शहाबुद्दीन के भाले से अपने दो दाँत तुड़वा लिये (अर्थात् खण्डित या खण्डी हो गया[1]) और बदले में उसने शहाबुद्दीन को घातक रूप से घायल कर रणक्षेत्र से भगा दिया और १ मार्च सन् ११९२ में (होली की पूर्णिमा, वि० सं० १२४९[2]) चाहड़ ताराइन के समर-क्षेत्र में मारा गया। सन् ११९२ ई० (१७ मार्च) में (तेजपाल) शहाबुद्दीन से पराजित हुआ और दिल्ली में उसके करद राजा के रूप में राज्य करता रहा। सन् ११९३ ई० में मार्च या अप्रेल मास में कुतुबुद्दीन ने उससे दिल्ली छीन ली और सन् ११९३ के ही मई मास में उसका सिर काटकर दिल्ली के लाल किले पर टाँग दिया।

(१०) आधुनिक इतिहासकारों ने जिसे महीपाल कहा है, (और जिसका वास्तविक नाम कुमारपाल प्राप्त होता है) उसने सन् १०४३ ई० में यामिनी तुर्कों को पराजित किया, यह भी इन्हीं फारसी इतिहास लेखकों से ज्ञात होता है।

इन तिथियों, व्यक्तिनामों और घटनाओं के माध्यम से सन् ७३६ ई० से ११९३ ई० तक ४५७ वर्ष दिल्ली-हरियाना पर अधिकार बनाए रखने वाले तोमरों के इतिहास का ढाँचा खड़ा करने के लिए पर्याप्त आधार का निर्माण हो जाता है। इस दृढ़ धरातल की उपलब्धि के पश्चात् भी अनंगपाल प्रथम से तेजपाल (द्वितीय) तक २२ राजाओं की निर्विवाद वंशावलि प्रस्तुत करना सरल कार्य नहीं है। इन बाईस राजाओं में अनंगपाल प्रथम के पश्चात् 'कुमारपाल' का शौर्य ही अन्य इतिहासों में प्राप्त होता है, तथापि उनका नाम भी मीराते-मसूदी नामक आख्यान काव्य के आधार पर 'महीपाल' के रूप में ग्रहण किया गया है, अतएव उसका नाम भी विवादास्पद हो जाता है। अगला नाम अनंगपाल द्वितीय का है। उसका समय और नाम दोनों ही निर्विवाद हैं। इस प्रकार प्रथम १६ तोमर राजाओं में निर्विवाद नाम (संभवतः तिथियाँ भी) केवल दो की ही हैं। शेष १४ राजाओं के शुद्ध नाम असंदिग्ध रूप से ज्ञात करने का कोई साधन नहीं है। दिल्ली के तोमरों का ऐसा कोई विस्तृत शिलालेख अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है जो उनकी वंशावलि देता हो। उन्हें केन्द्र बनाकर लिखी गयी कोई ऐतिहासिक अथवा अर्ध-ऐतिहासिक रचना भी नहीं है। सोलहवें राजा अनंगपाल द्वितीय के

---

१. जिसे खण्डी, चावुण्ड, खण्ड, गवन्द, गोवन्दह तथा गोविन्द लिखा या पढ़ा गया है। (परिच्छेद २८ देखें।)

२. परिच्छेद २८ का परिशिष्ट २ देखें।

पश्चात् स्थिति कुछ स्पष्ट होती है। परन्तु यह स्पष्टता भी केवल विजयपाल, मदनपाल पृथ्वीराज, चाहड़पाल तथा तेजपाल तक ही सीमित है। अनंगपाल द्वितीय के पश्चात् वंशावलियों में जो राजा प्राप्त होते हैं उनके नाम अन्य ऐतिह्य स्रोतों में भी मिलते हैं तथापि वंशावलियों का राज्यकाल समानता नहीं रखता। चाहड़पाल को तो वंशावलियों ने भुला ही दिया है।

अनेक बिन्दुओं पर इस प्रकार की अनिश्चित स्थिति में जो कुछ सुनिश्चित है या सुनिश्चित किया जा सकता है उसे ग्रहण कर अनिश्चित अथवा संदिग्ध को भविष्य में नवीन जानकारी के आधार पर सुनिश्चित करने के लिए छोड़ने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है।

सुनिश्चित व्यक्तियों, तथ्यों और घटनाओं के बीच में छूटे हुए अन्तरालों को भरने के लिए, हमें वंशावलियों का ही सहारा लेना होगा। भले ही कुछ विद्वानों को वे 'व्यर्थ धूल का ढेर' ज्ञात हुई हैं, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। सुनिश्चित तथ्यों की पृष्ठभूमि में उन्हें परखने पर उनमें से अनेक उतनी अव्यवस्थित ज्ञात नहीं होतीं जितना उन्हें बतलाया गया है।

अग्राह्य वंशावलियाँ

वंशावलियों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग ऐसी वंशावलियों का है जो प्रत्यक्षतः अधूरी ज्ञात होती हैं। इनमें से एक इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध के लेखक जैन पण्डित की वंशावलि है। उसे प्रामाणिक मानकर नहीं चला जा सकता।

वृहद् ज्ञान-भण्डार, बीकानेर, में दो 'दिल्ली-राज्य वंशावलियाँ' हैं। इनमें से एक कल्ह कवि की लिखी हुई है और उसके अन्त में 'जहाँगीर साह अकबर सुत' का उल्लेख है।[1] दूसरी वंशावलि किसी किशनदास ने 'औरंगजेबशाह आलमगीर' के राज्यकाल में बनाई थी, जो कल्ह की कृति की नकल है।[2] श्री अगरचन्द नाहटा ने इन दोनों वंशावलियों के सम्बद्ध अंश की प्रतिलिपियाँ श्री डॉ० दशरथ शर्मा के पास भेजी थीं। इन दोनों वंशावलियों पर से एकीकृत एक तोमर-वंशावलि बनाकर डॉ० शर्मा ने प्रकाशित की थी।[3] यह वंशावलि बहुत उपयोगी नहीं है, उसे केवल कौतूहल की तृप्ति के लिए डॉ० शर्मा के लेख से साभार उद्धृत किया जाता है —

१. रउंपाल (मणंपाल), २. खड़ग, ३. हरिपाल, ४. सुनपाल, ५. तिहुणपाल, ६. अनंगपाल प्रथम, ७. शिवराज, ८. पोपट, ९. महीराज, १०. माहेदास, ११. सवार, १२. विग्रहराय, १३. गोपाल, १४. तिहुणपाल, १५. हरपाल, १६. जैतमल, १७. अनंगपाल द्वितीय।

श्री कनिंघम को कुमायूं और गढ़वाल की पोथियों में जो वंशावलियाँ मिली थीं

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० ९६।
२. वही, पृ० ९७।
३. राजस्थान भारती, जुलाई १९५३, पृ० २३।

वे भी अधूरी हैं और उनके नाम मुद्राओं पर उपलब्ध नामों से नहीं मिलते। इन पोथियों से प्राप्त वंशावलि निम्न रूप में है—

(१) महीपाल (२) जदपाल (३) नयपाल (४) जयदेवपाल (५) चम्रपाल (६) बिवसपाल (७) सुक्लपाल (८) तेजपाल (९) महीपाल (१०) सुरसु (११) जैकपाल (१२) अनेकपाल (१३) तेजपाल (१४) ज्यूनपाल (१५) अनेपाल।

ग्राह्य वंशावलियाँ

उक्त अग्राह्य वंशावलियों को छोड़कर हमने दिल्ली के तोमरों की वंशावलि के निर्धारण के लिए केवल चार वंशावलियों को आधार बनाया है—

(१) अबुलफजल की वंशावलि, जिसके समान ही सैयद अहमद की तथा बीकानेर के मूकजी भाट की वंशावलि है।[1]

(२) वि० सं० १६८५ की वंशावलि।

(३) खड्गराय के गोपाचल-आख्यान की वंशावलि।

(४) संवत् १८४५ की वंशावलि।[2]

इन वंशावलियों के नामों में अद्भुत साम्य है, एक दो नाम नीचे ऊपर अवश्य पाये जाते हैं। तोमर मुद्राओं पर प्राप्त नामों का भी इन वंशावलियों के नामों से बहुत अधिक साम्य है।

प्रथम सोलह तोमर राजाओं के नामों के लिए हमने इन्हीं वंशावलियों को आधार माना है। १५ वें राजा का नाम मीराते-मसूदी के आधार पर आधुनिक इतिहासों में महीपाल माना गया है। परन्तु इसका नाम कुमारपाल था। इस नाम के विषय में सभी वंशावलियाँ एकमत हैं। इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध भी अनंगपाल (द्वितीय) के पूर्व 'कवरपाल' लिखता है। इस कारण हमने तोमरों के पन्द्रहवें राजा का नाम कुमारपाल ही ग्रहण किया है, महीपाल नहीं। इन तोमर राजाओं के राज्यकाल आईने-अकबरी और खड्गराय के गोपाचल आख्यान के अनुसार माने गये हैं।

काल-निर्धारण का आधार तीन तिथियाँ हैं, सन् ७३६ ई०, सन् १०५१-१०८१ ई० (अनंगपाल द्वितीय) और ११९२ ई०। इन वंशावलियों के आधार पर तथा मुद्राओं एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर, दिल्ली के तोमरों के इतिहास की रूपरेखा के लिए हमने जो वंशावलि स्वीकार की है वह संलग्न सारिणी से प्रकट होगी। विवादास्पद बिन्दुओं का विवेचन प्रत्येक राजा के विवरण में आगे के खण्ड में भी किया गया है।

---

१. आर्कों० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १४६।

२. राजस्थान भारती, जुलाई १९५३, पृ० ५।

द्वितीय खण्ड

● इतिहास की रूपरेखा ●

परिच्छेद १४

तोमरों की उत्पत्ति

भारतीय इतिहास में नन्द और मौर्यों के पश्चात् सम्राट् हर्षवर्धन शीलादित्य के समय तक क्षत्रियों की पृथक् सामाजिक वर्ग के रूप में स्थापना हो गई थी, ऐसा उपलब्ध इतिहास-सामग्री से ज्ञात नहीं होता। सम्राट्, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, राजा, राणक, सामन्त, राजकुल आदि हर्ष के पूर्व भी भारत में हुए परन्तु उनके अलौकिक या पौराणिक महापुरुषों से वंश-परंपरा के सम्वन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति उनके प्रशस्ति-कारों में नहीं मिलती। मौखरिवंश का 'वर्धन' अभिधान यह प्रकट करता है कि राज्य-सत्ता अर्जित करने के पूर्व उसके पूर्वज व्यापारी थे। हर्ष के राजकवि बाणभट्ट ने उनके द्वारा राज्य-स्थापना के मूल में अलौकिक और चमत्कारी तत्व जोड़ा अवश्य है, परन्तु उसने उनकी वंश-परम्परा यक्षपति कुबेर अथवा पौराणिक महापुरुषों से सम्बद्ध करने का प्रयास नहीं किया। बाण के अनुसार श्रीकण्ठ नामक जनपद के अन्तःभुक्ति प्रदेश के स्थाण्वीश्वर में पुष्पभूति नामक एक राजा हुआ था जो शिव का अनन्य उपासक था। पुष्पभूति पर भैरवाचार्य महात्मा प्रसन्न हुए, उन्होंने उसे श्मशान में वैताल-साधना कराई, उससे प्रसन्न होकर श्रीदेवी प्रकट हुईं तथा पुष्पभूति को प्रतापी राजवंश का जनक होने का आशीर्वाद दिया। उसी वरदान के प्रताप से वर्धन राजवंश चला।

राज्य-स्थापना के लिए, उसकी रक्षा के लिए तथा उसके विस्तार के लिए उस समय शक्तिबल परमावश्यक था। साथ ही, प्राप्त किये हुए राज्य के निवासियों पर निरंकुश और अबाध नियंत्रण का प्रयोग करने के लिए शस्त्रबल के साथ, इस प्रकार के अलौकिक चमत्कारों का आडम्बर खड़ा करना भी परमावश्यक माना गया था। राजा ईश्वर का अंश है, जनता के मस्तिष्क मे यह भावना हर्षवर्धन के पूर्व भी कूट-कूट कर भरी गयी थी, साथ ही उसकी पार्थिव उत्पत्ति तथा राज्य-स्थापना का मूल भी इसी प्रकार के चमत्कारों से संबंधित किया जाने लगा था। पूर्ववर्ती ईश्वर के अंश के स्थान पर जो नवीन राजवंश आ गया था, उसके राज्य-संचालन के अधिकार के आविर्भाव का समाधान आवश्यक था, हर्ष के राजकवि ने उसे श्रीदेवी के वरदान से जोड़ दिया।

हर्षवर्धन के समय में ही तथा उसके पश्चात् जो नये-नये राजवंश उदित हुए, उनके पुरोहित, पंडित, चारण-भाट भी अपने कार्यों में पीछे न रहे। उनकी कल्पना-शक्ति बाणभट्ट की अपेक्षा, इस दिशा में, अधिक प्रबल थी। उनके द्वारा अत्यन्त विशद सृष्टि प्रस्तुत की गई।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि भारत में सीथियनों, शकों, यूचियों, कुषाणों, हूणों आदि के जत्थे-के-जत्थे आए थे, उन्होंने सामरिक विजयें भी प्राप्त की थी और बड़े-बड़े साम्राज्य

भी स्थापित किये थे। उनके विवाह-संबंध भी हुए होंगे और वंशवृद्धि भी हुई होगी। कोई ऐसी घटना भी भारतीय इतिहास अंकित नहीं करता जिससे यह ज्ञात हो कि उन्हें हिन्द महासागर में धकेल दिया गया हो या खैबर के दर्रे के उस पार भगा दिया गया हो। उन सभी जातियों को भारतीय समाज-शरीर ने पचा लिया, वे उसी में मिल-जुल गयीं। उनके हाथ में शस्त्रबल भी था और अर्जित धनबल भी। उनमें से अनेक अपने साम्राज्यों के वैभव के समय में ही परम वैष्णव अथवा चरम शिवभक्त भी बने थे। उनका क्या हुआ, वे ब्राह्मणों के रूप में हिन्दू समाज में सम्मिलित हुए या क्षत्रिय के रूप में अथवा वैश्य-शूद्र के रूप में, इस प्रश्न का उत्तर न किसी पुराण में मिलता है और न किसी शिलालेख में। कुछ विद्वानों ने सीथियनों, शकों, यूचियों, कुषाणों और हूणों के हिन्दू समाज में विलीन हो जाने के कारण, उनके असिजीवी और उद्धत स्वभाव के साथ राजपूत चरित्र की समानता के कारण उनके कुछ कुलों का संबंध उनसे जोड़ने का प्रयास किया है। इनमें कर्नल टॉड प्रमुख हैं। कुछ विद्वान उन्हें विशुद्ध भारतीय बतलाते हैं। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इन दोनों के बीच का मार्ग प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार राजपूतों की नसों में क्षत्रिय-रक्त प्रवाहित था परन्तु क्षत्रिय जाति में ऐल-इक्ष्वाकु ही नहीं वरन् कुशाण, शक आदि अनार्य जातियाँ भी सम्मिलित थी।

कुछ शिलालेखों से यह प्रकट होता है कि अनेक क्षत्रिय कुलों का आविर्भाव ऐसे शास्त्र-जीवी ब्राह्मणों द्वारा किया गया जिन्होंने धर्म की रक्षा के लिए अथवा राज्य-स्थापना की आकांक्षा से प्रेरित होकर शस्त्र-ग्रहण किया था। गुहिल क्षत्रियों के विषय में ऐसा शिलालेख प्राप्त हुआ है। शक्तिकुमार के शिलालेख में "आनंदपुरविनिर्गतविप्रकुलानन्दनोमहीदेवः जयति श्रीगुहदतः प्रभवः श्री गुहिलवंशस्य"[1] वाक्य यद्यपि विवाद का विषय बना है, तथापि अब यह मान्यता बलवती हो चली है कि गुहिल क्षत्रिय मूल में गुर्जरात्य ब्राह्मण थे। परन्तु डॉ० ओझा ने उन्हें सूर्यवंशी माना है।

बीजोल्या के शिलालेख[2] के अनुसार चौहान सामन्त का पूर्वज चाहमान अहिछत्रा का वत्सगोत्रीय ब्राह्मण था। धर्म की रक्षा के लिए उसने शस्त्र धारण किया और चाहमान वंश चल निकला। मुसलमान हो जाने पर भी चौहान वंश के गौरव को अपनाए रहने वाले शाहजहाँकालीन जान कवि ने चौहानों की वंश परम्परा बीजोल्या के शिलालेख के अनुरूप ही दी है। जान के अनुसार जमदग्नि के परशुराम हुए और

परसराम सुत सूर हैं, ताके बछ बड़ जोत।
चाहुवान है जगत में ते सब बछ सगोत॥
चाइ भयौ सुत बछ को, विधु सुमिर्‍यौ करि चाइ।
चाहुवान तिहि सुत भयौ, करता आयो भाई॥[3]

जान ने इस वंशावली को आगे तक बढ़ाया है। इसी वंश में पृथ्वीराज हुआ

१. इण्डि० एण्टी०, भाग ३९, पृ० १९१।
२. एपी० इण्डि०, भाग ६, पृ० २७।
३. क्यामखां रासो (राजस्थान पुरातत्व ग्रंथमाला), पाठ-भाग, पृ० ४।

और आगे हुआ धुंवराय; जिसके तीन पुत्र कन्ह, चंद और इंद हुए। चन्द ने चन्दवार बसायी, इंद ने इन्दौर। इसी वंश में आगे करमचन्द हुआ जिसे सन् १३८३ ई० में फिरोजशाह तुगलुक पकड़ कर ले गया और मुसलमान बना लिया और उसका नाम क्यामखां रख दिया। उसके वंशज अपने आपको क्यामखानी चौहान लिखते रहे। भार्गव ब्राह्मणों के एक बड़े समूह का गोत्र 'वत्स' है। पृथ्वीराज रासो में तथा कुछ शिलालेखों में चौहानों को अग्निकुल से उत्पन्न लिखा गया है। कुछ शिलालेखों में उन्हें इन्द्र का वंशज माना गया है।[1] 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' उन्हें सूर्यवंशी मानता है और एक शिलालेख के अनुसार वे वत्स के भी वंशज हैं और सोमवंशी भी हैं।[2] डॉ० ओझा का प्रबल मत है कि चौहान सूर्यवंशी हैं।

प्रतीहारों के शिलालेख भी इस विषय में विचार योग्य हैं। बाउक के जोधपुर के शिलालेख[3] में प्रतीहार-वंश की उत्पत्ति के विषय में विस्तृत उल्लेख है। हरिचन्द नामक एक वेदशास्त्रज्ञ ब्राह्मण था। उसके दो पत्नियाँ थीं, एक ब्राह्मण, दूसरी क्षत्रिय। क्षत्रिय पत्नी को 'रानी' कहा गया है। ब्राह्मण पत्नी के पुत्र प्रतीहार ब्राह्मण हुए। क्षत्रिय "रानी" भद्रा के चार पुत्र हुए, भोगभट्ट, कक्क, राजिल्ल और दद्द। इन्हीं चार पुत्रों से प्रतिहारों के राज्य प्रारंभ हुए। हरिचन्द ने समय की परिस्थितियों के कारण शास्त्र छोड़कर शस्त्र ग्रहण किया था। परन्तु कुछ शिलालेख उन्हें सौमित्र लक्ष्मण के वंशज अर्थात्, सूर्यवंशी कहते हैं। प्रतीहारों का राजकवि राजशेखर भी उनका बखान 'रघुकुल-मणि' के रूप में करता है।

परमारों की उत्पत्ति वशिष्ठ मुनि के आबू पर्वत पर स्थित अग्नि-कुण्ड से बतलाई जाती है।

इस विविधता में एक ही एकता दिखाई देती है। हर्षवर्धन के पश्चात् जो नवीन छोटे-बड़े राजवंश प्रस्थापित हुए उनमें अपने कुलों के साथ अलौकिकता और प्राचीनता की प्रामाणिकता जोड़ने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गयी थी। उनके इस मानसिक दम्भ की पूर्ति के लिए राजकवि, प्रशस्तिकार, चारण-भाट उद्यत हुए और एक-दूसरे से मेल न खाने वाली कल्पनाएँ अस्तित्व में आईं। एक विचित्र बात और है। इस समस्त सृष्टि का मूल प्राचीन गुर्जरात्य और उसके आस-पास का प्रदेश है। इस प्रदेश के राजवंशों का प्रभाव जैसे-जैसे यमुना-गंगा की ओर बढ़ता गया, ये आडम्बरपूर्ण कल्पनाएँ भी आगे बढ़ती गयीं।

जब यामिनी तुर्कों और उनके गुलामों की तलवार की ठोकर से इस जाति-दम्भ को आघात लगा उसके पश्चात् तो यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गयी। क्षत्रियों के छत्तीस कुलों की कल्पना संभवतः उसी युग की है। यह विचार करने की बात है कि

---

१. एपी० इण्डि०, भाग ११, पृ० ३०५।
२. एपी० इण्डि०, भाग ६, पृ० ७६।
३. एपी० इण्डि०, भाग १८, पृ० ८७।

जिन कुलों का कहीं-न-कहीं राज्य था या रहा था उन्हें ही इस छत्तीसी में स्थान दिया गया है, अर्थात् जिसका कहीं राज्य नहीं, वह क्षत्रिय, राजपुत्र या राजपूत नहीं।

राजवंशोत्पत्ति के इन विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा में अत्यधिक मानसिक व्यायाम किया गया है। परन्तु एक ही कुल के विभिन्न शिलालेखों के प्रशस्तिकारों ने और उनके राज-कवियों ने इतने प्रकार के कथन किये हैं कि सत्य की खोज मायामृग या कंचनमृग की खोज सिद्ध हुई है। रघुवंशमणि राम उस कंचनमृग की खोज में निकल पड़े थे, जो होता ही नहीं है, और सीता को भी गवाँ बैठे। बाद के प्रशस्तिकारों ने सूर्य, चन्द्र और अग्नि को वंशों का जनक मानकर जो कंचनमृग दौड़ा दिया उसकी चकाचौंध में सत्य की सीता, धरती की पुत्री, खो गयी। आज का मानव यह नहीं मान सकता कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि नृवंश चला सकते हैं, विशेषतः जब चन्द्रतल की धूलि का विश्लेषण संसार की अनेक प्रयोगशालाओं में, यहाँ तक कि भारत में भी, हो रहा है। प्रकृति के प्रतीक के रूप में भी वे किसी एक वंश के जनक न होकर सभी वंशों के पोषक हैं।

परन्तु सीता की माता धरती की खोज से सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है। इन राजकुलों के प्राचीनतर शिलालेखों में किसी विप्र द्वारा राज्य स्थापना की कामना से अथवा धर्म की रक्षा की शुभेच्छा से शस्त्र ग्रहण कर राजवंश चलाने का उल्लेख ही मिलता है। इन्हीं ब्राह्मणों की व्यवस्था से शक, हूण, कुषाण आदि हिन्दू-समाज-तन्त्र में स्थान पा सके होंगे। 'धर्म की रक्षा' के लिए उस समय राज्य की स्थापना आवश्यक थी।

यहाँ एक उदाहरण प्रतीहारों का देना ही पर्याप्त है। उनके मूल उद्गम के स्थान के आसपास ही हूणों का प्रबल और सघन क्षेत्र था। परमार वाक्पतिराज प्रथम के ताम्रपत्र मे प्रकट है कि उस समय एक 'हूण-मण्डल' उनके राज्य के अन्तर्गत भी था।[1] हरिचन्द ने एक ब्राह्मण पत्नी होते हुए भी किसी शस्त्रधारी की पुत्री से विवाह किया और उसी को रानी मानने पर वह राज्यशक्ति प्राप्त कर सका। उस रानी के कुल के शस्त्रजीवियों की सेनाओं ने ही हरिचन्द के पुत्रों को विभिन्न क्षेत्रों में प्रतीहार राज्य स्थापित करने में सहायता दी। भोजदेव (प्रथम) के समय तक प्रतीहार साम्राज्य सुदृढ़ और विस्तृत हो गया था। उत्तरी भारत और दक्षिण के अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए भोज ने गोपाचलगढ़ को अपना मुख्य स्कन्धावार अथवा राजधानी बनाया था। प्रतीहार राजाओं ने इसकी प्रतिरक्षा का भार लाटमण्डल के ब्राह्मणों को दिया था। भोजदेव के समय के कोट्टपाल ने अपने तथा अपनी पाँच पत्नियों के पुण्य की वृद्धि के लिए एक विष्णु-मन्दिर एक ही शिला को उकेर कर बनवाया था उस पर एक शिलालेख[1] में उसने अपने वंश का वर्णन किया है। वार्जर-वंश में नागरभट्ट नामक एक कुमार था जो अति ललित-लाट-मण्डल के तिलक, आनन्दपुर नगर, से आया था। उसके बाइल्लभट्ट नामक पुत्र हुआ। यह बाइल्लभट्ट वैयाकरण भी

१. ग्वा० अभि० क्र० २२।
१. एपी० इण्डी० १, पृ० १५६; ग्वा० अभि० क्र० ९

था, साथ ही समरशूर भी। उसे रामदेव प्रतीहार ने गोपाचलगढ़ का 'मर्यादाधुर्य' नियुक्त किया। इस वाइल्लभट्ट का पुत्र 'अल्ल' था। कोट्टपाल अल्ल अपने शास्त्रज्ञान के विषय में मौन है, शस्त्र-कौशल का ही वखान करता है। नागरभट्ट की कुछ पीढ़ियाँ वीतने पर उसके वंशज 'शास्त्र' भूल गये और मात्र क्षत्रिय वन गये। जिस प्रकार हरिचन्द के पुत्र राजपुत्र, क्षत्रिय वने, उसी प्रकार नागरभट्ट की संतान भी शास्त्र को भूल केवल क्षत्रिय वन गयी।

भोज प्रतीहार के गोपाचल के स्कन्धावार में ऐसे दस-वीस हजार सैनिक अवश्य ही होंगे जो गुर्जर देश से आए होंगे। वे क्षत्रिय न वन सके, केवल शस्त्रधारी रह गये। गोपाचल के वास मील के आसपास आज गाँव के गाँव गूजरों के वसे हुए हैं। वे न छत्तीस कुली हैं और न चन्द्रवंशी-सूर्यवंशी। यदि उनकी शरीर-सम्पत्ति को देखा जाए तव वरवस कनिष्क की मूर्ति का स्मरण आ जाता है। गुजरात के हूण भी ऐसे ही होंगे। वेदशास्त्रज्ञ हरिचन्द ने किया यह कि इन्हीं असिवारियों की किसी कन्या से विवाह कर गुर्जर प्रतीहारों के राजवंशों की सरिता प्रवाहित की, जिसमें नागरभट्ट जैसे अनेक शास्त्रजीवियों की सन्तानें भी मिल गयीं। इनकी सेना का प्रमुख भाग उन हूण-गुर्जरों का था जो पराजित हो जाने के पश्चात् भी शस्त्रजीवी रहे। गोपाचल के आस-पास के गुर्जर-गूजरों का यही उद्गम ज्ञात होता है।[1] तोमरों से इनका सम्पर्क अवश्य हुआ होगा। आगे मानसिंह तोमर ने तो इन्हीं गुर्जरों की कन्या प्रसिद्ध गूजरी को गूजरी-महल में वसाया था। यदि अनेक स्थानों के नृतत्वों का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में परीक्षण किया जाए तव राजपूतों के अपेक्षाकृत प्राचीन शिलालेखों के कथन सत्य ही ज्ञात होते हैं। शक, कुषाण, हूण, आदि किसी समारोह में किसी एक जाति में दीक्षित नहीं किये गये थे, अपने वौद्धिक और सामाजिक स्तर के अनुसार विभिन्न दलों में सामन्त, सैनिक, सेवक के रूप में खपाये गये थे। वे सव छत्तीसकुली राजपूत भी नहीं वनाये गये, न चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में समेटे गये। वे केवल भारतीय समाज के अंग माने गये। धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़गति से वढ़ने वाला कालचक्र, सामाजिक सम्पर्क, वैध-अवैध विवाह आदि के माध्यम से उस समय तक भारतीय समाज को एकरूपता देता रहा जव तक कि मध्ययुग में जाति-दम्भ को चरम सीमा पर नहीं पहुँचाया गया। उसके कारण सामंजस्य के प्रवाह का जो अवरोध हुआ उसका भीषण परिणाम भारतीय समाज को भुगतना पड़ा है। एक हजार वर्ष वीतने पर भी वह विखरा हुआ दिखाई देता है। हमारी सामाजिक पाचन शक्ति नष्ट हो गयी।

क्षत्रिय-वंशोत्पत्ति सम्वन्धी इतिहास की जटिल समस्या का यह अत्यधिक सरली-कृत समाधान ज्ञान की प्रकाण्ड गरिमा से मण्डित शास्त्रीय ग्रन्थों के लिए संभवतः ग्राह्य

१. गोपाचल के आसपास के क्षेत्र के आगे गूजर दतिया, सेंवड़ा, मोठ, कोंच, समथर, उरई, माधोगढ़ तक फैले हुए हैं। गूजरों के ५२ पुर वस गये थे, जिनका केन्द्र समथर रहा है। भोजदेव के समय तक प्रधान दौड़ गोपाचल से कन्नौज की ओर थी। आज भी गोपाचल मे इटावा तक के मार्ग पर गूजरों के सघन ठिकाने मिलते हैं। इसी मार्ग पर वड़गूजर तथा उनके ही अंश सिकरवार भी हैं।

न हो। अल्लामा अबुलफजल ने इस विवाद को प्रारम्भ किया था। उसने मुगल बादशाह अकबर के समय के सूबा अजमेर के विवरण में मेवाड़ के गुहिलपुत्रों को ईरान के बादशाह नौशेरवाँ आदिल की सन्तान बतलाया है। अकबर मेवाड़ से दुःखी था, अबुलफजल ने अपना यह इतिहास उसे सुनाया होगा, बादशाह को कुछ सन्तोष तो मिला होगा। अबुलफजल की कल्पनाओं से तोमर-इतिहास भी पीड़ित है, परन्तु उसका स्वरूप दूसरा है। फिर भी अल्लामा की बात का बुरा मानने की आवश्यकता नहीं है, ईरान का आर्यमिहिर कुरुष, कुरुक्षेत्र की रज से उत्पन्न हुआ था, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है। अल्लामा द्वारा प्रारम्भ किये गये विवाद को, कम-से-कम तोमरों के सन्दर्भ में, हम इस कथन के साथ समाप्त करेंगे कि भारतीय इतिहास के उस संधिकाल में उस समय के समाज के कर्णधारों ने अति बुद्धिमत्तापूर्वक शस्त्रबल से जीते गये विदेशी असिधारियों को विवाह-सम्बन्धों द्वारा तथा उन्हें सैनिक, सामन्त, सार्थवाहों के प्रहरी आदि बनाकर अपना अंग बना लिया। उस समय ब्राह्मण, संभवतः प्रबुद्ध था, अतएव पहल उसी ने की।

महाभारतकालीन कर्ण को उसके समकालीन कुलीन छत्रधारियों ने उसके वंश के कारण नीचा दिखाने का प्रयास किया था। उसी युग में बेचारा एकलव्य इसी कारण अपना अँगूठा ही कटवा बैठा था। परन्तु कर्ण हार मानने वाला नहीं था, उसने कहा था "मैं सूत हूँ, या सूतपुत्र हूँ, जो हूँ सो बना रहने दीजिए, किसी कुल में जन्म लेना दैवाधीन है, मात्र प्राकृतिक घटना है; मेरे हाथ में मेरा पराक्रम है, उसे ही परख लीजिए।" पराक्रम किया भी अद्भुत, परन्तु गति वही हुई जो एकलव्य की हुई थी, किसी और रूप में। एकलव्य की गुरुभक्ति का लाभ उठाया गया और कर्ण की दान-वीरता का। ईसवी पूर्व पहली शताब्दी से पोषित और मध्ययुग में पल्लवित तथा तुर्कों और अंगरेजों के युग में पुष्पित इस जातिदम्भ की भावना ने हमारे समाज-शरीर को अत्यधिक रोगग्रस्त किया है। उससे शीघ्र पीछा छुड़ाना श्रेयस्कर है; छूट तो रहा ही है।

क्षत्रियों के इतिहास में हमें तो कर्ण की कसौटी ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञात होती है। सूर्य, चन्द्र और अग्नि के नामों से आधुनिक मस्तिष्क को प्रभावित नहीं किया जा सकता। राष्ट्र की रक्षा में किसने कितना योगदान दिया है, भारतीय संस्कृति को किसने कितना आगे बढ़ाया है, इसका विवरण ही किसी व्यक्ति या वंश को इतिहास में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करा सकता है। अपने युग की परिस्थितियों में तोमरों ने जो पराक्रम किये थे, देश की रक्षा में जो पौरुष दिखाए थे वे उन्हें इस कसौटी पर खरा सिद्ध करते हैं; भारत के इतिहास में उन्हें गौरवपूर्ण स्थान मिले, इसके वे पूर्ण अधिकारी हैं।

परन्तु इसका यह आशय नहीं कि तोमरों के वंश की उत्पत्ति का वृत्तान्त, मध्ययुगीन पद्धति के अनुसार उपलब्ध नहीं है। सूर्यवंश, चन्द्रवंश और अग्निकुल जैसी परम्पराओं में भी उनका बहुत श्रेष्ठ स्थान माना गया है। उनके मध्यकालीन इतिहासकार उनकी उत्पत्ति उस सोमवंश से मानते हैं जिसमें हस्तिनापुर के शान्तनु उत्पन्न हुए थे। उनका एक वंशज दुर्योधन हस्तिनापुर में रह गया और, दूसरा, युधिष्ठिर, अपने

भाइयों सहित इन्द्रप्रस्थ चला आया। उसके भाई अर्जुन के पुत्र थे अभिमन्यु और अभिमन्यु के परीक्षित। परीक्षित के वंश में आगे तोमर हुए। जब राजपूतों के छत्तीस कुलों की कल्पना साकार हुई तब तोमरों को भी दिल्ली के राजा के रूप में उसमें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ।

वि० सं० १६८८ के रोहिताश्वगढ़ के मित्रसेन के शिलालेख[1] में तोमरों को पाण्डववंशी तथा सोमवंशी लिखा है। मित्रसेन स्वयं तोमर था और ग्वालियर के तोमर राजवंश की शाखा का था। उसे निश्चय ही अपने पूर्वजों के कुल का ज्ञान होगा।

खड्गराय तोमरों का प्रामाणिक इतिहासकार है। शाहजहाँ के राज्यकाल में उसने गोपाचल-आख्यान लिखा था। खड्गराय ने तोमरों को अत्रि ऋषि से उत्पन्न माना है—

वरनौ कछू सुनी इहि भाँति, रिसि अत्रेव तनी उतपाति।

साथ ही खड्गराय ने तोमर वंश की उत्पत्ति का तत्कालीन परम्परा के अनुसार भी वर्णन किया है—

अब सुनियौ तोंवर उतपाति, छत्रिन में सो उत्तम जाति
कछु कछु कथा हेतु श्रुत भयो, सोमवंश अव वरनन लयो
पंडवंस जग तेज निदान, महाराज वंसी वरवान
जो कछु सोमवंश नृप कहे, ते हरिवंस कथा में रहे।

खड्गराय के पूर्व तोमरों के पुरोहितों के वंशज, 'सनाढ्य जाति गुणाढ्य' के अभिमानी, केशवदास ने तोमरों को "सोमवंश यदुकुल कलश" कहा है और एक तोमरवंशी श्यामसिंह को "प्रवल पांडव वंश" का वतलाया है।

तोमर जाति के नाम की वर्तनी विभिन्न रूप में मिलती है। शिलालेखों और तत्कालीन संस्कृत ग्रन्थों में वे "तोमर" कहे जाते हैं। समकालीन हिन्दी ग्रन्थों में यह नाम 'तंवर', 'तोंवर', 'तुँवर' रूप में मिलता है। कुछ फारसी इतिहासों में 'तुनूर' या 'तौंर' भी पढ़ा जाता है। पश्चिमी भारत के जैन विद्वान उन्हें "तुंग" लिखते थे।[2] इस इतिहास में उनका शुद्ध नाम "तोमर" ग्रहण किया गया है।

राजपूतों के साढ़े तीन कुल

राजपूतों के छत्तीस कुल गिनाये गये हैं। परन्तु क्यामखानी चौहान जान कवि ने सत्रहवीं शताब्दी में उनको केवल साढ़े तीन कुलों में समेट दिया है। जान कवि के अनुसार वादशाह अकवर ने वीरवल से कहा था[3]—

---

१. ज० ए० सो० वं०, भाग ८, खण्ड २, पृ० ६६३।

२. प्रवंध चिन्तामणि, पृ० ११७।

३. क्यामखां रासा (राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर), पृ० ५४।

साढ़े तीन कुली कहैं, रजपूतन की जात ।
तोहि कहौं समझाइ कैं, सुनि लै तिन की बात ॥
चाहुवांन तुंवर दुतीय, तीजौ आहि पंवार ।
आधे में सगरे कुली, साढ़ै तीन विचार ॥

जान को चौहानों को सर्वश्रेष्ठ बतलाना था, अतएव उसकी साक्षी कच्ची है। अकबर निश्चय ही शकशल्य सीसौदिया-वंश को भी खरा प्रथम राजपूत कुल समझता होगा ।

राजपूत और राजपूताना

वर्तमान राजस्थान या मुगलकालीन राजपूताने में तोमरों की राजधानी कभी नहीं रही। परन्तु यह उल्लेख्य है कि राजपूताना या राजस्थान से 'राजपूत' शब्द का सीधा सम्बन्ध नहीं है। भौगोलिक विभाग के रूप में 'राजपूताना' शब्द का उद्‌गम मुगलों के समय में हुआ था, परन्तु 'राजपूत' शब्द का प्रयोग मुगलों के बहुत पहले होने लगा था। 'राजपूत' शब्द का उद्‌गम 'राजपूताना' से नहीं है, इसके विपरीत 'राजपूताना' नाम 'राजपूत' से उत्पन्न हुआ है। क्षत्रिय राजाओं के लिए 'राजपुत्र' शब्द सन् १३१८ ई० में लिखी गयी ठक्कुर फेरू की 'द्रव्यपरीक्षा' में मिलता है; सन् १३९७ ई० में लिखी गयी 'चन्दायन' में 'राजपूत' शब्द प्रयुक्त हुआ है और सन् १४५५ ई० में रचित 'कान्हड़दे-प्रबन्ध' में भी। अकबर के समय में वर्तमान राजस्थान में ही स्वतंत्र राजपूत राजा शेष रह गये थे और मुगलों के राजपूत सामन्तों के ठिकाने भी वहीं पर थे, अतएव उस प्रदेश को 'राजपूताना' अभिधान दिया गया। प्रादेशिक नाम 'राजपूताना' मुगल-काल की देन है, 'राजपूत' शब्द उससे प्राचीन है जो राजकुल, राजपुत्र आदि की परम्परा में विकसित हुआ है।

परिच्छेद १५

तोमरगृह-तँवरघार और उसके तोमर सामन्त

मध्यदेश के प्राचीन अनूप तथा दक्षिण-अवन्ति जनपद, जहाँ आजकल मध्यप्रदेश का नीमाड़ नामक जिला है, विन्ध्यपाद अथवा सतपुड़ा का क्षेत्र है, और उसके पश्चात् है इस प्रदेश का प्रधान पर्वत विन्ध्याचल। इस विशाल पर्वत-शृंखला को एक पर्वतकुल माना जाता था, जिसके विभिन्न नाम थे—महेन्द्र, मलय, सह्य, शक्तिमान, ऋक्षवान, विन्ध्य और पारियात्र। ये विन्ध्याचल के विभिन्न भागों के नाम थे। विन्ध्याचल विहार से प्रारंभ होकर गुजरात तक लगभग ७०० मील लम्बा है। हर्षवर्धन के समय से ही इस विन्ध्याचल के अंचल से अनेक राजवंश उत्पन्न हुए और उनके द्वारा भारत के आधी सहस्त्राब्दी के इतिहास-पृष्ठ आच्छन्न किये गये। विन्ध्याचल उत्तर की ओर नीचा होता गया है, उसने अपना आंचल नीचा किया और मालवा के पठार की भूमि प्रदान की, आगे और नीचा हुआ तथा ग्वालियर गढ़ पर आकर लगभग विलुप्त हो गया, जिससे प्राप्त हुए वर्तमान मध्यप्रदेश के ग्वालियर, भिण्ड और मुरैना के मैदानी क्षेत्र। इसी दिशा में और इसी गति से विन्ध्याचल से कुछ महानद वह निकले हैं। प्राचीन अवन्तिमण्डल के दक्षिण में वर्तमान इन्दौर नगर के निकट महू नामक स्थान के पास जनपाव नामक पहाड़ी से चर्मण्वती-चम्वल निकली और मध्यप्रदेश की उत्तर-पूर्वी प्राकृतिक सीमा वनाती हुई, उत्तर की ओर चल पड़ी और यमुना में मिल गई। एक और नदी पार्वती, जो इसी नाम की एक अन्य नदी से विभेद करने के लिये 'पश्चिमी' पार्वती कही जाती है, आष्टा के निकट विन्ध्य से निकली और जहाँ वर्तमान राजस्थान तथा मध्यप्रदेश की सीमाएँ मिलती हैं, वहाँ चम्वल में मिल गयी। चम्वल और (पश्चिमी) पार्वती के पूर्व में है सिन्धु नदी। यह नदी विदिशा के पास स्थित सिरोंज कस्वे के पास नैनवाह नामक ग्राम से निकलती है, और वर्तमान गुना, शिवपुरी, दतिया, डवरा तथा लहार तहसीलों में होती हुई इटावा जिले में यमुना से मिल जाती है। सिन्धु नदी की दो सहायक नदियों का उल्लेख यहाँ और आवश्यक है। पार्वती (पूर्वी) शिवपुरी के पास से निकलती है और प्राचीन पद्मावती (वर्तमान पवाया) के पास सिन्धु में मिल जाती है। सिन्धु नदी के पूर्व में है इतिहास प्रसिद्ध वेत्रवती (वेतवा)। यह भोपाल के ताल से निकल कर वर्तमान भेलसा, गुना तथा शिवपुरी जिलों में होते हुए वर्तमान विन्ध्यक्षेत्र को पार करतो हुई यमुना में मिल जाती है।

ज्ञात होता है कि मध्ययुग के राजवंशों के इतिहास-पुरुष विन्ध्य के इन महानदों के ढलानों के मार्ग के अनुसरण में ही सतपुड़ा और विन्ध्य की ऊँचाइयों से उतरते हुए चढ़ते आए और गोपाद्रि का सहारा लेकर उत्तर की ओर वढ़े, चम्वल पार की और अपने

चरम लक्ष्य हरियाना प्रदेश और गंगा-यमुना के दोआब की उर्वर भूमि का वैभव प्राप्त करने के लिए अग्रसर हुए। इस युग के प्रवर्तक हर्षवर्धन उलटे चले और विन्ध्य का सहारा लिए हुए पुलकेशिन् से टकरा कर परास्त हो गए। राष्ट्रकूट और प्रतीहार इसी मार्ग से चम्बल तक पहुँच कर यमुना के पार कन्नौज की ओर अग्रसर हुए। प्रतीहारों के साम्राज्य के विकास की कथा तो विन्ध्य की ढलान से लाभ उठाकर क्रमशः उत्तर की ओर बढ़ने की गाथा है। नागभट्ट प्रथम के समय में मालवा का पठार कब्जे में कर वे भोज प्रथम के समय तक गोपाचल पर पूर्ण प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। यहीं से चम्बल पार कर उन्हें यमुना के आगे कान्यकुब्ज प्राप्त करना थी।

तोमरगृह के संदर्भ में केवल वह क्षेत्र विवेच्य है जो उत्तर और पूर्व में चम्बल से घिरा है, पूर्व में जिसे बेतवा घेरे हुए है और कहीं-कहीं जिसकी पूर्वी सीमा सिन्धु ने वनाई है तथा दक्षिण में जो नलपुर (वर्तमान नरवर) के आगे बीस मील के लगभग गया है। इसके केन्द्र में गोपाचल है। दक्षिण में वह नलपुर है जिसके आसपास अकबर के समय तक हाथियों के झुण्ड घूमते हुए मिलते थे। पूर्व में वर्तमान श्योपुर में भी अत्यन्त सघन वन थे और अभी भी हैं। पूर्व और उत्तर में चम्बल स्वयं सदा सुदृढ़ गढ़ का रूप धारण किये रही है। यद्यपि यहाँ की भूमि समतल है तथापि मीलों दूर तक चम्बल, क्वांरी, आसन तथा सांक नदियों ने इतने बड़े और गहरे 'भरके' बना दिये हैं कि उनमें बड़ी सेना तक समा जाने पर भी वह बाहर से दिखाई नहीं देती। इस प्रदेश का निवासी सदा ही अत्यन्त बलिष्ठ, वीर और स्वाभिमानी रहा है। खड्गराय ने चम्बल-क्षेत्र के राजा देवब्रह्म का वर्णन करते हुए लिखा है—

महासूर सूरन कौ नाह, चामिलवार रहै ऐसाह।

जो स्वयं परमवीर हो, जिसे चम्बल क्षेत्र के वीरों का नेतृत्व प्राप्त हो और जिसके आधिपत्य में उसैत के चम्बल-घाट का द्वार 'ऐसाह' हो, वह अजेय है, उसकी सहायता की प्रत्येक ऐसी शक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता थी जो विन्ध्य से उतर कर चम्बल के उत्तर में विजयेच्छा से बढ़ना चाहती थी अथवा उत्तर से दक्षिण की ओर आना चाहती थी।

गोपाचल के उत्तर में वर्तमान मध्यप्रदेश राज्य के मुरैना जिले की कुछ तहसीलों के कुछ भागों को तँवरघार, तोमरगृह, कहा जाता है। आज की तहसीलों की सीमाओं में उसे बाँधना कठिन है। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि भदावर के पूर्व में चम्बल के दक्षिणी किनारे-किनारे श्योपुर तक इसकी पश्चिमी और उत्तरी सीमा मानी जाती है और वह ग्वालियर गढ़ से उत्तर में ८-१० मील तक चलता है। तोमर आजकल अम्बाह और मुरैना तहसीलों में सिमटे दिखाई देते हैं, जहाँ उनके ऐसे अनेक गाँव हैं जिनमें उनके पुरोहित सनाढ्यों के अतिरिक्त अन्य किसी जाति का अस्तित्व केवल नाममात्र के लिए है। यह आज का तँवरघार है, कभी यह तोमरगृह दक्षिण में सिन्धु, पारा और लवणा के किनारे बसे हुए पवाया और नरवर तक फैला हुआ था। डबरा-पिछोर के पास उनके पुरोहितों का शुक्लहार, सुकुलहारी, था। जिस तोमरगृह का

उल्लेख हम कर रहे हैं वह दक्षिण में कहीं तक भी रहा हो, उत्तर में उनके स्थान चम्बल के दोनों ओर थे, और दक्षिणी तट पर उनका वर्चस्व बहुत प्राचीन है।

प्रतीहार नागभट्ट प्रथम के समय में इसी चम्बल क्षेत्र का एक तोमर अधिपति प्रतीहारों की ओर से किसी कार्य के लिए नियुक्त हुआ और श्रीपथ त्रिभुवनगिरि (तहनगढ़) होता हुआ थानेश्वर की ओर गया। वहाँ की तत्कालीन परिस्थितियों में उसे स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का अवसर मिला और वह अनंग प्रदेश का राजा बन गया। परन्तु चम्बल-क्षेत्र में भी उसके कुटुम्बी रह गये। संभव यह है कि जाउल के वंशज प्रारंभ में 'आदि राणा जाजू'-'जाउल' की ओर से ही चम्बल-क्षेत्र का प्रबन्ध करते रहे हों, परन्तु प्रतीहार भोज प्रथम ने उन्हें अवश्य अपने वशवर्ती बना लिया और उन्हें प्रतीहारों के सामन्तों के रूप में ही कार्य करने के लिए विवश कर दिया। ईसवी ९५० के पश्चात् लगभग ऐसी परिस्थितियाँ अवश्य उत्पन्न हो गयीं जब चम्बल क्षेत्र के तोमर सामन्तों ने प्रतीहारों का जूआ उतार फेंका और दिल्ली का तोमर साम्राज्य सतलज से गोपाचल तक फैल गया।

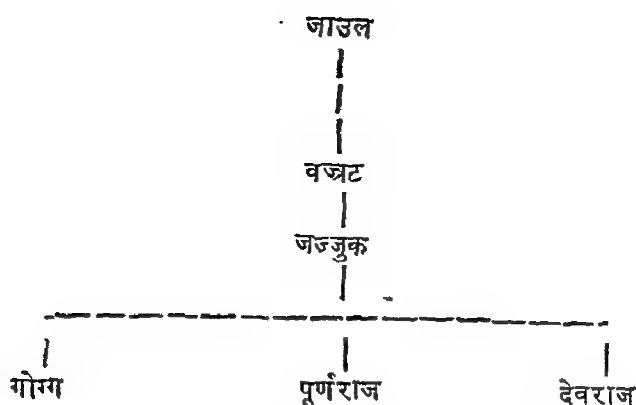
चम्बल-क्षेत्र का प्रतीहार-सामन्त गोग्ग तोमर

रामदेव प्रतीहार ने गोपाचल गढ़ पर वाइल्लभट्ट को मर्यादाधुर्य (सीमाओं का रक्षक) नियुक्त किया और जब आदिवराह भोज प्रथम को त्रैलोक्य जीतने की इच्छा हुई थी तब उन्होंने अल्ल को गोपाद्रि पर उसी प्रयोजन से नियुक्त किया था, ऐसा गोपाचल गढ़ के शिलालेखों में उल्लेख है।[1] गोपाचल पर गुर्जरात्र के प्रतीहारों ने अपने प्रदेश के अधिकारी नियुक्त किये, यह स्वाभाविक है। वाइल्लभट्ट और अल्ल लाट-मंडल से आए थे और बलाधिपति तत्तक भी उसी र का ज्ञात होता है। परन्तु चम्बल-क्षेत्र में प्रतीहारों को स्थानीय सामन्तों का सहयोग लेना परमावश्यक हुआ होगा। जाउल तोमर के वंशज इस क्षेत्र में उस समय प्रभावशाली थे।

कुरुक्षेत्र, अर्थात्, समन्त या समन्तपंचक आर्यों के प्राचीनतम निवास का अत्यन्त प्रसिद्ध तीर्थ रहा है। यहीं पाण्डवों को कुलघात के प्रायश्चित्त के रूप में स्नान करना पड़ा था। बहुत समय तक, और कुछ सीमा तक आज भी, यह बहुत बड़ा तीर्थ माना जाता है। कुरुक्षेत्र में थानेश्वर के लगभग १४ मील पश्चिम में पृथूदक नामक प्राचीन तीर्थ-स्थल है जहाँ बड़े-बड़े सम्राट्, राजा, सामन्त, श्रेष्ठि और जन साधारण तीर्थ-यात्रा के लिए जाते रहे हैं। आज उसका नाम पेह्वा है। कभी यह घोड़ों की बड़ी मण्डी थी और अश्वपति बनने के आकांक्षियों को भी वहाँ जाना पड़ता था। किसी महेन्द्रपाल के समय यहाँ तीन तोमरबन्धु आये थे। उन्होंने विष्णु का त्रिमंदिर बनवाया और अपना एक शिलालेख भी उत्कीर्ण करा दिया।[2] इस शिलालेख में उनकी वंशावलि भी दी गयी है—

---

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ८, ९ तथा ६१८; एपी० इण्डी० १, पृ० १५६।
२. एपी० इण्डी० १, पृ० २४२।



इस शिलालेख में उल्लेख है कि तोमरवंशी 'जाउल' ने पहले किसी राजा का कार्य-भार संभाला और फिर स्वयं स्वतंत्र राजा बन गया। उसकी अनेक पीढ़ियों बाद (जिनकी संख्या शिलालेख में नहीं है) वज्रट हुआ जिसने 'शुभतर व्यापार' द्वारा पर्याप्त उन्नति की। वज्रट का पुत्र हुआ जज्जुक। जज्जुक की दो पत्नियाँ थीं, चन्द्रा और नायिका। चन्द्रा का पुत्र था भूनाथ 'गोग्ग' तथा नायिका के दो पुत्र पूर्णराज और देवराज थे। ये दोनों श्रेष्ठ सेनापति थे।

'जाउल' नाम परिचित है। यह वह तोमर राजा है जो सन् ७३६ ई० के आस-पास किसी राजा का कार्यभार देख रहा था और फिर स्वयं राजा बन गया। जब गुर्जरात्र में प्रतीहार अपना राज्य सुदृढ़ कर रहे थे उसी समय यह जाउल राजा हुआ। यह दिल्ली का संस्थापक 'आदि राणा जाजु' है। भूनाथ गोग्ग ६०० ई० के आस-पास विद्यमान था। वज्रट ८५० ई० के आस-पास हुआ होगा, और उसी समय उसने 'शुभतर व्यापार' द्वारा समृद्धि पाई होगी। उस समय आदिवराह भोज प्रतीहार सम्राट् थे और गुजरात के नागर भट्ट, वाइल भट्ट और अल्ल गोपाचल गढ़ पर आ चुके थे। वज्रट तोमर ने 'शुभतर व्यापार' यही किया कि वह प्रतीहार सम्राटों का पक्षपाती बना और चम्बल क्षेत्र के दस्युओं का उन्मूलन करने में उनकी सहायता कर समृद्धि प्राप्त की।[1] उसका पुत्र जज्जुक तथा पौत्र गोग्ग, पूर्णराज तथा देवराज भी यही कार्य करते रहे। तोमरों की यह शाखा उनके आदि राजा जाउल की उस शाखा की वंशज थी जो उसके साथ न जाकर चम्बल क्षेत्र में ही रह गयी।

पृथूदक तीर्थ हरियाने में दिल्ली के पास होने के कारण कुछ विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि वज्रट, जज्जुक तथा गोग्ग दिल्ली के तोमर राजाओं में से थे। इतना ही नहीं, गोग्ग के पश्चात् दिल्ली के तोमर राजाओं की वंशावलि भी दे दी गयी है। हर्षनाथ के मन्दिर में वि० सं० १०३० (सन् ९७३ ई०) के चौहान राजा विग्रहराज

१. आगे 'चम्बल का दस्यु चण्डमहासेन' देखें।

द्वितीय के शिलालेख में उल्लिखित तोमर राजा रुद्र को गोग्ग का उत्तराधिकारी[1] अथवा पुत्र या भतीजा[2] कहा गया है। परन्तु ये अभिमत केवल संभावनाओं के रूप में व्यक्त किये गये हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार न भी किया जाए तब साधारण गणित से भी यह अनुमान कुछ विपर्यस्त ज्ञात होता है। हर्षनाथ के लेख के अनुसार चौहान चन्दन ने रुद्र तोमर को मारा था। चन्दन के पिता गूवक द्वितीय ने प्रतीहार भोज प्रथम (सन् ८३६-८८५ ई०) के साथ अपनी बहन का विवाह किया था। यह विवाह, प्राकृतिक संभावनाओं के अनुसार, ८४० ई० के आसपास, अर्थात्, अधिक से अधिक भोज प्रथम की अधेड़ अवस्था में हुआ होगा। उस समय गूवक द्वितीय भी राजा होंगे, क्योंकि पिता की मृत्यु के पश्चात् ही गूवक अपनी बहन का कन्यादान या स्वयंवर कर सके होंगे। बहन भी उनसे छोटी ही होगी, बड़ी नहीं।

भोज प्रथम जैसा ४९ वर्ष का राज्य काल बहुत कम राजाओं को मिलता है। यद्यपि संभव यही है कि गूवक के पुत्र चंदन भोज प्रथम के समय में ही शाकंभरी-नरेश हो गये थे, तथापि उनका राज्य भोज की मृत्यु के पूर्व प्रारम्भ हो ही गया होगा।

पेह्वा शिलालेख के 'महेन्द्रपालदेव' को प्रतीहार महेन्द्रपाल प्रथम (सन् ८८५–९०८) माना गया है, अतएव गोग्ग उनके राज्यकाल में पृथूदक में आया होगा। ऐसी दशा में चन्दन राजा महेन्द्रपाल प्रथम के समकालीन माने जाएँगे, अर्थात् गोग्ग, पूर्णराज और देवराज के भी समकालीन। चन्दन राजा ने जिस रुद्र को मारा था यदि उसे गोग्ग का पुत्र माना जाए तब यह मानना पड़ेगा कि गोग्ग थोड़ा जल्दी मर गया। भतीजा मानने पर तो गोग्ग, पूर्णराज और देवराज को भी बहुत जल्दी देवलोक भेजना पड़ेगा। यह फलागम अनेक अकाल मृत्युओं की अपेक्षा करता है। रुद्र को गोग्ग का पिता भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि शिलालेख में गोग्ग के पिता का नाम दिया गया है।

परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि पेह्वा के शिलालेख में उल्लिखित 'महेन्द्रपालदेव' को प्रतीहार महेन्द्रपाल (८८५-९०८ ई०) से अभिन्न मानने का कोई आधार नहीं है। जिस प्रकार उस शिलालेख के एक श्लोक में 'महेन्द्रपालदेव' का उल्लेख किया गया है वह यह प्रकट नहीं करता कि वह किसी सम्राट् या राजा का उल्लेख है। प्रतीहार सम्राटों के नाम के साथ परमभट्टारक परमेश्वर जैसे भारी-भरकम विरुद उनके समस्त शिलालेखों में निरपवाद रूप में मिलते हैं, परन्तु इस शिलालेख में महेन्द्रपालदेव के विषय में केवल यह लिखा है—

---

१. द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपल, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, भाग ४, पृ० ११२।

२. दिल्ली का तोमर (तंवर) राज, राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० १८।

यशशक्तः स्वकुल··· ···· ··· मृद्धरा
भिन्दान ···· परबलमानसं समन्तात् ।
सश्श्रीमाञ्जयति महेन्द्रपालदेव :
शान्तारिश् शशधर सुन्दरः शरण्यः ॥

इन पंक्तियों को 'प्रतीहार', अथवा 'सम्राट्' का उल्लेख कदापि नहीं माना जा सकता। संभव यह अधिक है कि ये महेन्द्रपालदेव पेह्वा की घोड़ों की मण्डी के प्रबन्धक या स्थानीय प्रशासक हों।

पेह्वा के शिलालेख के सम्पादक डॉ० बुह्लर ने केवल महेन्द्रपाल के उल्लेख मात्र से यह परिणाम निकाला है कि पेह्वा पर प्रतीहार महेन्द्रपाल प्रथम का राज्य था। उनका तर्क यह है कि गोग्ग प्रथूदक का निवासी नहीं था, वह वहाँ गया और मन्दिर बनवाया तथा यह स्वाभाविक है कि उसने प्रथूदक-क्षेत्र के तत्कालीन राजा महेन्द्रपाल का नामोल्लेख कर दिया।[1] इसके विपरीत भी हो सकता है। महेन्द्रपाल प्रथम का प्रथूदक तक राज्य न हो और वह क्षेत्र जहाँ से गोग्ग आया था महेन्द्रपाल के राज्य में हो तब भी गोग्ग अपने राजा का नाम अपने शिलालेख में लिखवा सकता था।

आज काशी में अनेक राजाओं और जागीरदारों के बनवाए हुए मन्दिर और भवन मिलते हैं। उनमें से अनेक मुगलों और अंगरेजों के समय के हैं। उन पर शिलालेख भी हैं, परन्तु उन पर उन्हीं राजाओं या जागीरदारों के नाम हैं जिन्होंने उन्हें बनवाए हैं। उनका राज्य काशी पर कभी नहीं रहा। तीर्थों पर प्राप्त शिलालेख अथवा तीर्थों के उल्लेखयुक्त शिलालेखों ने भारतीय इतिहास में बहुत भ्रांतियों को जन्म दिया है।

गोग्ग के प्रशस्तिकार ने उसे 'भूनाथ' कहा है। यह विरुद राजा या महाराजा का पर्यायवाची नहीं है। जिसके आधिपत्य में "भू" थी, चाहे वह जमींदार हो या जागीरदार उसके प्रशस्तिकार उसे 'भूनाथ' ही लिखते रहे हैं। दक्षिणा की आशा रखने वाले पण्डे आज भी इस प्रकार का बखान करते हैं। जिसमें मन्दिर बनवाने की सामर्थ्य हो उसे प्रशस्तिकार 'भूनाथ' भी न कहता तब आश्चर्य ही था। गोग्ग का पुण्य प्रबल सिद्ध हुआ, 'भूनाथ' से वह राजा बना और फिर बन गया दिल्ली सम्राट्! अब हजार वर्ष हो चले गोग्ग का पुण्य क्षीण हो जाना चाहिए, और यह मानना चाहिए कि वह दिल्ली का राजा नहीं था, केवल चम्बल क्षेत्र का सामन्त था।

चम्बल-क्षेत्र का सामन्त विट्ठलदेव

गोग्ग के पश्चात् एक शताब्दी के भीतर चम्बल के तोमर सामन्त अपना पुनर्गठन करते दिखाई देते हैं। उनका इतिहास खड्गराय ने अपने गोपाचल आख्यान में दिया है। खड्गराय ने पहले सोमवंश का वर्णन किया है। इस वंशावलि में पहले वह परीक्षित तक आया और फिर बड़े-बड़े व्यवधान छोड़कर तेजपाल, मदनपाल, खांडशिव तक

१. एपी० इण्डि०, भाग १, पृ० २४२।

वंशावलि को ले आया। उसके आगे ६ राजा देकर वह ग्वालियर से तोमर-राज्य-संस्थापक वीरसिंहदेव तक आया। आगे ग्वालियर के तोमरों की और फिर कृष्णसिंह तोमर तक की वंशावलि है। कृष्णसिंह का उल्लेख कर और उसे "सोमवंश को तिलक प्रमान" बतलाकर खड्गराय ने सोमवंश वर्णन सम्पूर्ण कर दिया।

इसके पश्चात् खड्गराय फिर वापिस लौटा और उसने "रावत वरनन" प्रारम्भ कर दिया और उसके पश्चात् वह कहने लगा—

अवसर व्यौरा सुनियो नाथ। ज्यों तोंवर गढ़ आयो हाथ॥

यहाँ सम्बन्ध रावत अथवा सामन्तों से है। खड्गराय ने रावतों की शाखा में नौ सामन्तों को गिनाया है। अन्तिम सामन्त ने ऐसाह का ठिकाना उस तोमर राजा को सौंप दिया, जो दिल्ली से निराश होकर चम्बल-क्षेत्र में लौटा था; खड्गराय के खाण्डशिव अर्थात् चाहड़पाल का पुत्र (तेजपाल) कुत्बुद्दीन ऐबक द्वारा सन् ११९३ ई० में मारा गया था। इस काल-विन्दु को लेकर चम्बल के तोमर सामन्त विट्ठलदेव का काल-निर्धारण हो सकता है।

वीरसिंहदेव का अन्तिम समय १३९९ या १४०० तक सुनिश्चित है। उसके पूर्व खाण्डशिव (चाहड़पाल) तक ८ राजा और हैं। इनका समय २०० वर्ष मानकर यह कहा जा सकता है कि खांडशिव (चाहड़पाल) का पौत्र सन् १२०० के आसपास दिल्ली-क्षेत्र से ऐसाह में आया होगा।

विट्ठलदेव के पश्चात् ९ सामन्त और हुए थे। उनके लिए २२५ वर्ष का समय मानकर विट्ठलदेव का समय लगभग ९७५ ई० आता है।

ज्ञात होता है कि ९७५ ई० के आसपास कभी दिल्ली के तोमर सम्राट् ने चम्बल-क्षेत्र के सामन्तों का पुनर्गठन किया और अपने साम्राज्य की इस दक्षिणी सीमा को सुदृढ़ बनाने का निर्देश दिया। उस समय चम्बल के दक्षिणी किनारे पर तोमरों के अनेक गढ़ दिखाई देते हैं।

खड्गराय ने ऐसाह[1], असेत[2], कुदौठा[3], झगुठौना[4] नामों का उल्लेख किया है।

---

१. 'ऐसाह' वर्तमान परगना अम्बाह के पश्चिमी छोर पर चम्बल नदी के लगभग एक मील दक्षिण में बसा हुआ है। ऐसाह के पास ही 'गढ़ी' है। (मध्यप्रदेश शासन के भू-अभिलेख विभाग द्वारा प्रकाशित अम्बाह तहसील के ग्रामों की सूची में इसका क्र० ११ है)।

२. 'असेत' का आधुनिक नाम 'उसेथ' है जो तहसील अम्बाह में पिनाहट-अम्बाह मार्ग पर चम्बल के पास बसा हुआ है। उसी के पास चम्बल का उसेथ-घाट है। उक्त सूची में यह क्र० १० है।

३. 'कुदौठा' वर्तमान 'कुठियाना' ग्राम ज्ञात होता है। यह भी परगना अम्बाह में चम्बल के किनारे पर है।

४. 'झगुठौना' या तो परगना मुरेना का 'जखौना' ग्राम है जो चम्बल के दो मील दक्षिण में है, अथवा 'रिठौना' ग्राम है जो चम्बल के लगभग तीन मील दक्षिण में है।

ये सब चम्बल के दक्षिण किनारे पर नदी से एक-दो मील दक्षिण की ओर फैले हुए हैं। इन सामन्तों की दक्षिणी सीमा में था गुठीना का ठिकाना जो ग्वालियर गढ़ के उत्तर पूर्व में लगभग १२ मील पर है।

इन्हीं तोमर सामन्तों में थे बिट्ठलदेव तोमर, जिनके तीन भाई और थे, देवगणदेव, राजनदेव और हम्मीरदेव। इनके अधिकार में असेत और कुदौठा के आसपास के ग्राम थे।

संभवतः दिल्ली सम्राट् के संकेत पर ही विट्ठलदेव ने अपने इलाके को संगठित किया। असेत और कुदौठा के ठिकाने एक में सम्मिलित कर दिये गये। विट्ठलदेव ने अपने अधीन १२० ग्राम रखें और ऐसाह को अपनी राजधानी बनाया। देवगणदेव को गुठीना के ८४ ग्राम दिये गये। राजनदेव को झगुठोना के ५२ ग्राम दिये गये।

सबसे छोटे हम्मीरदेव ने बटवारे में कोई भाग नहीं लिया। वह इस प्रदेश को छोड़कर तुंगावती के किनारे मेडगिरि में चला गया। किसी तुंग भूप ने उन्हें वहाँ तुंगपट्टन में स्थापित किया।

बिट्ठलदेव के पश्चात् रावतों (सामन्तों) की इस शाखा की आठ पीढ़ियों तक इस प्रदेश में रहीं। खड्गराय ने इनकी वंशावलि निम्नलिखित रूप में दी है—

१. बिट्ठलदेव, २. रुद्र, ३. ग्यानचन्द्र, ४. ध्यानचन्द्र, ५. लोहंगदेव, ६. शक्तिसिंह, ७. मणिदेव, ८. खाना और ९. चन्द्रभानु।

ये रावत दिल्ली के तोमरों के सामन्त थे यह बात इसी तथ्य से प्रकट है कि दिल्ली से निराश होकर तोमरगृह में लौटने पर उस राजवंश ने अपनी राजधानी 'ऐसाह' को ही बनाया। जब चम्बल-क्षेत्र का राजा देवब्रह्म (जिसे गोपाचल आख्यान में ब्रह्मदेव कहा गया है) ऐसाह में अपने राज्य-विस्तार की चिन्ता में था तब उसके विषय में खड्गराय ने लिखा है—

आदि थान दिल्ली ही रह्यौ। कछु दिन बास छुटि सो गयौ।

बिट्ठलदेव का यह बटवारा नितान्त पारिवारिक मामला नहीं था, उसके पीछे प्रबल राजनीतिक कारण थे। हम्मीरदेव के बटवारे में हिस्सा न लेकर तुंगपट्टन चले जाने का भी विशेष कारण था। उन्हें वहाँ कुछ बड़ी उपलब्धि होने वाली थी और तत्कालीन तोमर साम्राज्य को उनकी वहाँ आवश्यकता थी।

हमारा अनुमान है कि विट्ठलदेव गोग्ग के वंश में एक-दो पीढ़ी पश्चात् हुए थे और उसी के उत्तराधिकारी थे। सन् ९७५ ई० तक चम्बल के तोमर सामन्त प्रतीहारों के प्रभाव से मुक्त हो चुके थे और उन्होंने दिल्ली के तोमर राजा गोपाल या सुलक्षणपाल से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। उन्हीं की सेवा में हम्मीरदेव चला गया।

चम्बल का दस्यु चण्डमहासेन

वर्तमान धौलपुर के पास चम्बल पार करने का घाट बहुत प्राचीन समय से है। अत्यन्त प्राचीनकाल से अहिछत्रा, मथुरा आदि से व्यापारिक माल लेकर चलने वाले

महासार्थ इस घाट को पार कर कान्तिपुरी (वर्तमान कुतवार-सुहानियाँ), गोपाचल, पद्मावती (वर्तमान पवाया), विदिशा होते हुए उज्जयिनी जाते थे। उज्जयिनी से ये महासार्थ गुजरात के बन्दरगाहों पर माल पहुँचाते थे जहाँ से वह विदेशों को भेजा जाता था। विदेशों से समुद्री मार्ग से लाये गये माल को ये सार्थ देश के भीतरी भागों में लाते थे और उन्हें फिर लौटते समय चम्बल पार करनी पड़ती थी।

धवलपुरी (वर्तमान धौलपुर) में रहने वाले चण्डमहासेन चाहमान का वि० स० ८९८ (सन् ८४२ ई०) का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है।[1] इसके अनुसार चाहमान वंश में ईसुक नामक व्यक्ति का पुत्र महिषराम था। वह जब मारा गया तब उसकी पत्नी कनहुल्ला उसके साथ सती हो गयी। उनका पुत्र था चण्ड या चण्डमहासेन। इस चण्ड ने इस क्षेत्र के म्लेच्छों को अपने वशवर्ती किया। वह अनिर्जित जैसे नृपों के लिए त्रास का कारण बना। उसने ब्राह्मणों को दान-द्वारा संतुष्ट किया तथा जंगल में सूर्य का मंदिर बनवाया।

धवलपुरी उस समय छोटा-मोटा गाँव होगा जिसका महत्व और अस्तित्व चम्बल-घाट के कारण था और उसके निवासी वे लोग होंगे जिनका सम्बन्ध चम्बल घाट पार करने वाले सार्थवाहों से आता होगा। इन्हीं सार्थवाहों का मुखिया भोज प्रतीहार के समय वि० सं० ९३३ (सन् ८७६ ई०) में सव्वियाक था।[2] सन् ८५० ई० के आसपास वज्रट तोमर को ऐसाह पर सामन्त नियुक्त किया गया था। भोज प्रतीहार द्वारा चम्बल-क्षेत्र का इस प्रकार प्रबन्ध करने के पूर्व इस चण्ड चौहान का अस्तित्व अनेक उपयोगी और मनोरंजक तथ्यों पर प्रकाश डालता है।

भोज प्रतीहार द्वारा चम्बल-क्षेत्र में शान्ति-व्यवस्था करने के पूर्व महिषराम और चण्ड सार्थवाहों के संकट बने हुए थे। संभावना यह है कि वे उन्हें लूटते रहे हों अथवा पर्याप्त धन प्राप्त करने के पश्चात् ही उन्हें आगे जाने देते हों। जिन म्लेच्छों का उल्लेख उक्त शिलालेख में है उन्हें डॉ० रे ने अरब माना है। परन्तु चम्बल के किनारे की स्थिति से परिचय न होने के कारण यह अनुमान निकाला गया है। वास्तव में चण्ड ने अपने गिरोह में चम्बल के किनारे के भीलों[3] को एकत्रित कर लिया था जिनके साथ वह इस क्षेत्र में उत्पात करता रहता था। उस समय प्रतीहारों का सामन्त अनिर्जित था जो चण्ड के उत्पातों को रोक न सका। इसी कारण भोज प्रतीहार ने वज्रट तोमर को इस क्षेत्र का सामन्त नियुक्त किया था। चम्बल-घाट पार करने वाले सार्थ सकुशल कन्नौज की ओर जा सकें इस हेतु सव्वियाक को प्रधान सार्थवाह नियुक्त किया गया था, जिसका

---

१. डॉ० हेमचन्द रे : डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, भाग २, पृ० १०५९।
२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ९।
३. हेमचन्द्र सूरि ने 'शब्दार्थ चिन्तामणि' में मल्ल, भिल्ल और किरातों को म्लेच्छ जाति कहा है और भोजदेव परमार ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में इनकी बोली को 'म्लेच्छभाषा' कहा है।

मुख्यालय गोपाचल गढ़ रखा गया था। वज्रट तोमर ने चण्ड के उपद्रवों को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की।

चम्बल-क्षेत्र के दस्यु यद्यपि मानव को त्रास देते रहे हैं तथापि वे देवी देवताओं के प्रति श्रद्धालु रहे हैं, वे ब्राह्मणों को दान भी देते रहे हैं और मन्दिर भी बनवाते रहे हैं। चण्ड महासेन ने भी यही किया और ब्राह्मणों ने उसकी प्रशस्ति लिखकर पत्थर पर अंकित करादी तथा उसे चम्बल-क्षेत्र के प्रथम ज्ञात दस्युराज के रूप में चिरस्थायी बना दिया।

प्रथूदक के शिलालेख में वज्रट तोमर द्वारा किये गये 'शुभतर व्यापार' का स्पष्टीकरण यह चण्ड चौहान है। वज्रट तोमर ने 'शुभतर व्यापार' यह किया कि इन दस्युओं का दमन कर सार्थवाहों का मार्ग निष्कण्टक बना दिया। ज्ञात यह होता है कि इस सेवा के बदले में भोज प्रतीहार ने उसे चम्बल-क्षेत्र का सामन्त मान लिया और सार्थवाहों से तटकर प्राप्त करने की अनुमति दे दी।

तम्वरावती और तुंगपट्टन

खड्गराय ने गोपाचल आख्यान में जिस रावत (सामन्त) वंश का विवरण दिया है, उसका विवेचन हम कर चुके हैं। सन् ९५० ई० के आसपास कभी जब रावत विट्ठलदेव ने चम्बल-क्षेत्र के तोमरों का पुनर्गठन किया और समस्त प्रदेश को अपने भाइयों के बीच बाँटा, तब उनका सबसे छोटा भाई हम्मीरदेव उस बटवारे से संतुष्ट नहीं हुआ, और चम्बल-क्षेत्र को छोड़कर किसी तुंगपट्टन की ओर चला गया।

तिनि लहुरे हमीरद्यो भये। अहिनौबांट मेंड क(ग)रि गये।
राजा तुंग भए है जबै। ची(चौ)रा देवी थापी तबै।
तुंगावती नदी बहे जहाँ। तुंग पाटन थापौ तहाँ।
तुंग भूप तहाँ थाप्यौ आप। ताकै सुनै रहे नहिं पाप।

किसी तुंग भूप ने तुंगावती नदी के किनारे तुंगपट्टन में हम्मीरदेव को स्थापित कर दिया। वहाँ चीरा देवी (सीमा—चीरा—की संरक्षिका देवी) के मन्दिर का भी निर्माण करा दिया। तुंगपट्टन की स्थापना कब हुई थी, इसका आशय खड्गराय के उल्लेख से स्पष्ट नहीं है, तथापि वह ईसवी सन् १००० के पूर्व हुई थी, यह स्पष्ट है।

इस तुंगपट्टन की खोज हमें बहुत उलझाए रही। मधुकरशाह बुन्देला ने अपने प्रदेश को तुंगारण्य कहा है—

ओड़छौ वृन्दावन सौ गाँव।
गोवरधन सुखसील पहरिया जहाँ चरत तृन गाय।
....
सो थल तुंगारण्य बखानौ ब्रह्मा वेदन गायौ।
सो थल दियौ नृपति मधुकर कों श्रीस्वामीहरिदास बतायौ॥

केशवदास ने भी "तुंगारण्य" का उल्लेख किया है—

केशव तुंगारन्य में नदी बेतवै तीर।
जहाँगीरपुर बहु बस्यौ पंडित-मंडित-भीर॥
(विज्ञानगीता)

नदी बेतवै-तीर जहँ, तीरथ तुंगारन्य
नगर ओड़छौ बहु बसै, धरनीतल में धन्य॥
(रसिकप्रिया)

इस तुंगारण्य में ओड़छा नगर है, कोई पट्टन नहीं है। रुद्रप्रताप बुन्देला ने ओड़छा गढ़ की नींव २९ अप्रैल १५३१ ई० (वैशाख सुदी १३, रविवार, वि० सं०

१५८८) को रखी थी।[1] ओड़छा क्षेत्र में तोमरों का कभी प्रभाव भी नहीं रहा। ऐसी स्थिति में तुंगारण्य में हम्मीरदेव के तुंगपट्टन की खोज व्यर्थ रही।

एक तुंग-भूपों की शाखा किसी जगत्तुंग ने भी स्थापित की थी, जो रोहितगिरि (रोहिताश्वगढ़) से चलकर पश्चिमी महाकोशल के किसी क्षेत्र में राज्य करती थी।[2] उनका समय लगभग ९०० ई० के आसपास है। परन्तु यह संभावना नहीं है कि चम्वल-क्षेत्र का यह सामन्त "पूर्वराष्ट्र-विषय" की ओर गया हो। यह हो सकता है कि रोहिताश्वगढ़ से कोई तुंग पश्चिम की ओर भी चला गया हो।

आगे हम इस विषय पर विस्तार से लिखेंगे कि तोमरों को लगभग एक शताब्दी तक बंगाल के पालों का करद राजा रहना पड़ा था। नारायण-पाल (८५४-९०५ ई०) ने अपने पुत्र राज्यपाल का विवाह किसी राष्ट्रकूट 'तुंग' की राजकुमारी से किया था।[3] इस तुंग को राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय (८७८-९१४) के राजकुमार जगत्तुंग से अभिन्न माना गया है। जैनाचार्य महावीर ने अपने ग्रन्थ 'गणितसार-संग्रह' में अमोघवर्ष राष्ट्रकूट (८१४-८७७ ई०) को नृपतुंग कहा है।[4] इनका समय हम्मीर तोमर के समय से मेल नहीं खाता, यद्यपि यह सम्भव है कि किसी राष्ट्रकूट राजा की सहायता से हम्मीर को तँवरावती में स्थापित होने में सुविधा मिली हो और खड्गराय का आशय राष्ट्रकूट तुंग से हो। परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में हम 'तुंग' का अर्थ 'तोमर' अथवा 'वड़ा' मानकर ही चलेंगे।

हम्मीर तोमर की जिस तुंगपट्टन में तुंगभूप ने स्थापना की थी वह चम्वल के उत्तर-पश्चिम में है।

राजस्थान के उत्तर-पूर्वी भाग में एक क्षेत्र है जिसे आजकल 'तंवरवाटी' कहा जाता है और उसके प्रमुख स्थल का नाम 'पाटन' है। इस इलाके में आज भी तोमर रहते हैं। पाटन के सरदार भी तोमर रहे हैं। यह पाटन राजस्थान के मानचित्र पर २७ ° -४९' उत्तर तथा ७५ ° -५८' पूर्व पर स्थित है। वहीं तुंगा नामक स्थान है। तुंगा और पाटन दोनों ही जयपुर राज्य के पश्चात् के इतिहास में प्रसिद्ध है। तुंगा पर जयपुर की सेनाओं ने महादजी सिन्धिया को पराजित किया था और पाटन पर वे स्वयं पराजित हुई थीं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रवन्ध-चिन्तामणि में मेरुतुंगाचार्य ने 'तोमर' को 'तुंग' लिखा है, उसके अनुसार तुंगपाटन का आशय तोमर-पाटन तथा 'तुंग भूप' को 'तोमर भूप' माना जा सकता है।

इस तम्वरावती प्रदेश के तुंग (तोमर या वड़े) पट्टन में चम्वल के सामन्तों के तुंग

१. डॉ० भगवानदास गुप्त : महाराज छत्रसाल बुन्देला, पृ० १९।
२. डॉ० रे० डॉयनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, भाग १, पृ० ४२०; मिश्र, औरिसा अण्डर द भौम किंग्स, पृ० ४१।
३. एपी० इण्डि०, भाग १४, पृ० ३२४।
४. जैन-प्रशस्ति-संग्रह, प्रथम भाग, पृ० १७५।

भूप ने हम्मीरदेव को स्थापित कर दिया। इस तम्वरावती या तँवरवाटी क्षेत्र पर दिल्ली के तोमर सम्राटों का आधिपत्य था। वहाँ पट्टन को वसा कर और चीरादेवी की स्थापना कर अपने एक सामन्त को स्थायी रूप से जमा देने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न हुई इसके लिए तत्कालीन तोमर-चौहान संघर्ष को ध्यान में रखना होगा।

तम्वरावती और पट्टन से बीस मील पश्चिम में शेखावाटी में हर्ष नामक ग्राम है। यहाँ हर्षनाथ का मन्दिर है। इस मन्दिर में शाकंभरी के चौहानों के अनेक शिलालेख मिले हैं। हर्षनाथ के इस मन्दिर का जीर्णोद्धार विग्रहराज द्वितीय ने वि० सं० १०३० (सन् ९७३ ई०) में करवाया था, ऐसा एक शिलालेख से प्रकट होता है।[1] चौहानों का राज्य, अनन्त प्रदेश, इसी हर्ष ग्राम से प्रारंभ होता था।[2] उसके पूर्व में तम्वरावती के पास तक चौहानों की राज्य-सीमा थी और उससे मिला हुआ दिल्ली के तोमरों का इलाका था। विग्रहराज द्वितीय के पूर्व से ही चल रहे विग्रहों की गाथा उसके वि० सं० १०३० के शिलालेख में अंकित की गयी है। इन झगड़ों से निपटने के लिए ही दिल्ली के तोमर सम्राटों ने तम्वरावती में अपना एक स्कंधावार स्थापित किया होगा। विग्रहराज द्वितीय के समय तक हर्षनाथ पर चौहान जम गये थे और तम्वरावती में तोमर। इसी समय या इसके पश्चात् ही दिल्ली के तोमर सम्राट् ने पट्टन की स्थापना की और वहाँ चम्वल-क्षेत्र से आए हम्मीरदेव को अपने सेनापति और सामन्त के रूप में जमा दिया।[3]

---

१. एपी० इण्डि०, भाग २, पृ० १२१।
२. डॉ० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ११ तथा २३।
३. परिच्छेद २० भी देखें।

परिच्छेद १७

हरियाना प्रदेश और समकालीन राजनीतिक स्थिति

वर्तमान पंजाब राज्य के अम्बाला जिले में स्थित थानेश्वर और उसके आस-पास का प्रदेश भारत के इतिहास में अत्यंत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। पाणिनि ने जिस कुरु जनपद का उल्लेख किया है वह यहीं था; काशिका में कुरुराष्ट्र, कुरुजांगल और कुरुक्षेत्र तीन विभिन्न भौगोलिक इकाइयाँ बतलाई गई हैं। कुरुराष्ट्र गंगा-यमुना के दोआब को कहा जाता था, जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। कुरुजांगल उन प्रदेशों का था जहाँ आजकल रोहतक, हांसी और हिसार जिले हैं। कुरुक्षेत्र में वर्तमान कैथल और करनाल जिले के क्षेत्र थे। सरस्वती और दृशद्वती नदियों के बीच का क्षेत्र कुरुक्षेत्र है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वोत्तम था कुरुक्षेत्र उसका पर्यायवाची था। वैदिककाल में परशुराम भार्गव ने अपने पिता की हत्या से कुपित होकर क्षत्रियों का संहार किया था और उनके रक्त से पांच कुण्ड भरकर अपने पिता का तर्पण किया था। वे पांचों कुण्ड समंत-पंचक कहलाए और 'समंत' नाम कुरुक्षेत्र का पर्याय हो गया। इसी धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में द्वापर का महाभारत हुआ था जिसने भारत के इतिहास का युग-परिवर्तन किया था। महाभारत-युद्ध का मूल कारण भी यही क्षेत्र था। श्रीकृष्ण ने अपने दौत्य में दुर्योधन से आग्रह किया था कि वह पाण्डवों को पाँच ग्राम दे दे, वे कुरुक्षेत्र के पानीपत, सोनपत, इन्द्रपत, तिलपत तथा बाघपत थे। ये उस साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ अंश थे, अतएव बात टूट गयी और यही क्षेत्र युद्धक्षेत्र बन गया। यह संयोग ही है कि इसी क्षेत्र में वे अनेक युद्ध हुए जो भारत के इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुए।

तीर्थ के रूप में कुरुक्षेत्र प्राचीन काल से अत्यंत पवित्र माना गया है। यहाँ के समंत-पंचक में स्नान करने के लिए समस्त भारत के हिन्दू धर्मावलम्बी अत्यंत श्रद्धापूर्वक यात्राएँ करते रहे हैं। वर्धन साम्राज्य के उदय के साथ थानेश्वर और कुरुक्षेत्र का राजनीतिक महत्व भी बहुत अधिक बढ़ गया। बाणभट्ट के अनुसार स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) श्रीकण्ठ नामक जनपद में स्थित था। श्रीकण्ठ नामक नाग ने इस क्षेत्र को श्रीकण्ठ जनपद नाम दिया था। इससे ज्ञात होता है कि ईसवी पहली अथवा दूसरी शताब्दी में इस क्षेत्र पर विदिशा, पद्मावती, कान्तिपुरी तथा मथुरा के नागों का भी आधिपत्य रहा होगा। परन्तु वर्धनों ने तो निश्चय ही उसे अपनी राजधानी बनाया था। बाण के अनुसार इस प्रदेश में पुष्पभूति नामक एक राजा हुआ था जो शिव का अनन्य उपासक था। किसी भैरवाचार्य ने पुष्पभूति को श्मशान-भूमि में बेताल की साधना कराई थी और उससे प्रसन्न होकर श्रीदेवी प्रकट हुई थी तथा अपने भक्त को शक्तिशाली राजवंश की स्थापना करने का वरदान दिया था। यह कथा वर्धनों की प्रजा को अथवा उनके प्रतिद्वंदियों को

प्रभावित करने के लिए उपयोगी सिद्ध हुई होगी, परन्तु इतिहास के लिए उपयोगी तथ्य यह है कि पुष्पभूति के वंशज हर्षवर्धन ने थानेश्वर को राजधानी बनाकर एक बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना की थी।

बाणभट्ट ने हर्षचरित में श्रीकण्ठ जनपद और उसकी राजधानी का अत्यंत उत्कृष्ट वर्णन किया है। उसमें हरे-भरे उपवन, सुन्दर कुञ्ज, अन्न से सम्पन्न खेत और फलों से भरे उद्यान थे। वहाँ सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। नागरिकों का आचरण निष्कलंक था। वे पुण्यात्मा थे और उनमें अतिथि सत्कार का भाव प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। उनके बीच महापुरुषों का अभाव नहीं था। अधर्म, वर्णसंकर, विपत्ति तथा व्याधि का कहीं नाम न था। सत्य के जिज्ञासुओं तथा सांसारिक सुखों की कामना करने वालों को समान सुविधाएँ प्राप्त थीं। ऋषियों, व्यापारियों तथा प्रेमियों, सभी के लिए वह प्रदेश प्रिय था। विद्वानों और योद्धाओं से वह प्रदेश भरा पड़ा था। ललित कला प्रेमियों की संख्या भी कम न थी। गुण तथा धार्मिक आचरण का अत्यधिक सम्मान किया जाता था।

बाणभट्ट द्वारा प्रस्तुत इस वर्णन के साथ ही समकालीन बौद्ध यात्री ह्वेनसांग द्वारा प्रस्तुत वर्णन रुचिभेद और मतभेद का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस चीनी यात्री के अनुसार लोगों के रीति-रिवाज और रहन-सहन संकुचित तथा अनुदार थे, सम्पन्न कुल अपव्ययिता में एक दूसरे से स्पर्धा करते थे। मंत्र-विद्या में लोगों को बड़ा विश्वास था, अद्भुत चमत्कार पूर्ण कार्यों का वे बहुत मूल्य मानते थे। बाणभट्ट के कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है, परन्तु उसके वर्णन को ह्वेनसांग के साथ देखने में समंत-प्रदेश, कुरुक्षेत्र की वास्तविक स्थिति ही सामने आती है।

हर्षवर्धन

हर्षवर्धन ने थानेश्वर को अपनी राजधानी बनाया अवश्य, परन्तु उसके राज्य के पिछले दिनों में सत्ता का केन्द्र धीरे-धीरे थानेश्वर से कन्नौज चला गया। हर्ष को कान्यकुब्ज का राज्य उसकी बहन राज्यश्री के माध्यम से प्राप्त हो गया था। तत्कालीन वर्णनों के अनुसार हर्ष ने विपाशा से ब्रह्मपुत्र और हिमालय से नर्मदा तक का प्रदेश अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। कुछ इतिहासज्ञ हर्ष की दक्षिण की राज्य-सीमा चम्बल के उत्तर तक मानते हैं। परन्तु हर्ष के साम्राज्य में पंचगौड़ या पंचभारत अर्थात् सारस्वत (पंजाब), कान्यकुब्ज, गौड़, मिथिला तथा उत्कल के प्रदेश अवश्य थे। राज्य-विस्तार के पश्चात् हर्ष ने आक्रमण और युद्ध बंद कर दिये, भाले और तलवारें शस्त्रागार में जमा होने लगीं। राज्य-व्यवस्था छोड़ हर्षवर्धन धार्मिक कृत्यों में प्रवृत्त हुए। प्रति पाँचवें वर्ष महामोक्ष-परिषदें होने लगीं जिनमें राज्यकोष दान के रूप में वितरित किया जाने लगा। ह्वेनसांग अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुआ, उत्तर भारत का सम्राट् हर्ष बौद्ध हो गया। सन् ६४७ ई० में अपने साम्राज्य को अत्यंत विचलित अवस्था में छोड़ हर्ष परलोकगामी हुआ। इस प्रकार श्रीदेवी के वरदान से प्रसूत परम-शैव पुष्पभूति का राजवंश समाप्त हुआ।

यशोवर्मन

हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त उत्तर भारत में अव्यवस्था का युग प्रारम्भ हुआ। हर्ष के पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक कुरुक्षेत्र का इतिहास अज्ञात ही है। कुरुक्षेत्र का उल्लेख आगे कन्नौज के यशोवर्मन के राजकवि वाक्पति के गौड़वहों (गौडवध) नामक ऐतिहासिक काव्य में प्राप्त होता है। वाक्पति के अनुसार यशोवर्मन ने अपनी दिग्विजय सोन नदी की घाटी से प्रारम्भ की थी, वहाँ से वह विन्ध्य पर्वत पर पहुँचा, जहाँ उसने विन्ध्यवासिनी देवी की पूजा की। देवी का आशीर्वाद लेकर यशोवर्मन ने मगध और वंग की विजय की। इसके पश्चात् दक्षिण के राजाओं को अपने अधीन करता हुआ वह मलय पर्वत तक पहुँचा। वहाँ से उसने पारसीकों पर आक्रमण किया तथा लम्बे युद्ध के पश्चात् उन्हें पराजित किया। पश्चिमी घाट के प्रदेशों से भेटें प्राप्त करने के पश्चात् वह नर्मदा के तट पर पहुँचा। यहाँ से उसने मरुभूमि पार की तथा श्रीकण्ठ जनपद में पहुँच गया। श्रीकण्ठ जनपद, अर्थात्, कुरुक्षेत्र में महाभारत के युद्धस्थल का दर्शन करता हुआ यशोवर्मन अयोध्या की ओर चला गया।

यशोवर्मन की दिग्विजय की वास्तविकता की परख करने का यह स्थल नहीं है, यहाँ यही देखना पर्याप्त है कि यशोवर्मन कुरुक्षेत्र में किस समय आया होगा। यशोवर्मन को सन् ७३३ ई० के आसपास काश्मीर के ललितादित्य ने पराजित कर उसका राज्य समाप्त कर दिया था।[1] सन् ७२४ ई० के आसपास यशोवर्मन का पारसीकों (अरबों) से युद्ध हुआ होगा। संभावना यह है कि सन् ७३० ई० के आसपास यशोवर्मन कुरुक्षेत्र में आया होगा। कुरुक्षेत्र में यशोवर्मन को किसी राजा पर जयलाभ करने का प्रसंग नही आया, वहाँ उसने केवल धर्मयात्रा ही की थी, इससे ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ कोई बड़ा राजा नहीं था जो उसके मार्ग को अवरुद्ध करता या उसका अनुगत बनता।

ललितादित्य मुक्तापीड

कुरुक्षेत्र के उत्तर में इस समय कर्कोट वंश के प्रबलतम सम्राट् ललितादित्य मुक्तापीड का राज्य था। ललितादित्य के इतिहास का एकमात्र आधार कल्हण की राजतरंगिणी है।[2] उसके विषय में कुछ उल्लेख चीनी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि ललितादित्य को भी अरब आक्रान्ताओं ने तथा तिब्बतियों ने त्रस्त किया था। सम्भावना यह व्यक्त की गयी है कि प्रारम्भ में ललितादित्य तथा यशोवर्मन इस समान संकट का मिल कर सामना कर रहे थे और उन दोनों ने ही चीन के सम्राट् के पास राजदूत भेजे थे। संभव है चीन के सम्राट् से इनने अरबों और तिब्बतियों के विरुद्ध सहायता की आशा की हो, परन्तु वह असफल रही और अपने पराक्रम से ही इन्हें उन आक्रान्ताओं का प्रतिरोध करना पड़ा।

---

१. राजतरंगिणी, ४/१४४, १४५।
२. तरंग ४, श्लोक १२६-३७१।

नागभट्ट प्रतीहार

प्राचीन गुर्जरात्र, वर्तमान जोधपुर, के पास के क्षेत्र में जिस हरिश्चन्द ने प्रतीहार राजवंश की स्थापना की थी उसके वंशजों का राज्य विभिन्न क्षेत्रों में फैल गया था। इसी वंश में शीलुक हुआ जिसका राज्य वर्तमान जोधपुर तथा वीकानेर के प्रदेशों पर था। शीलुक वल्ल-मण्डल-पालक था, अर्थात्, उसके अधीन अनेक प्रतीहार राजाओं का संघ था। इसी संघ का एक सदस्य था उज्जयिनी का प्रतीहार-राजा नागभट्ट प्रथम। इस प्रकार प्रतीहार संघ के अधीन मालवा और राजपूताना का एक विशाल भू-भाग था।

शीलुक के पुत्र और पौत्र दोनों सन्यासी हो गये, इस प्रकार प्रतीहारों के समस्त वल्ल-मण्डल का नेतृत्व नागभट्ट प्रथम को प्राप्त हो गया और उसे प्रथम प्रतीहार सम्राट् माना जा सकता है, क्योंकि उसके समय में ही प्रतीहार संघ के स्थान पर प्रतीहार-साम्राज्य अस्तित्व में आया था।

राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग

वर्तमान वरार के इलिचपुर में इसी समय एक नवीन शक्ति का उदय हो रहा था जिसने आगे की शताब्दियों में उत्तर भारत की राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया और वहाँ किसी स्थायी साम्राज्य को अस्तित्व में नहीं आने दिया। सन् ६२५ ई० के आस-पास चालुक्य सम्राटों के सामन्तों के रूप में राष्ट्रकूटों का उदय हुआ था। इस वंश के इन्द्र प्रथम का विवाह चालुक्य राजकुमारी के साथ हुआ, और यह घटना राष्ट्रकूटों के सौभाग्य-सूर्य के उदय का कारण वनी। सन् ७३३ ई० के आस-पास राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय की सामन्ती की गद्दी पर वैठा। विक्रमादित्य द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् ही दन्तिदुर्ग ने अपने आपको स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया।

अरबों का उदय

जिस समय भारत के सम्राट् हर्षवर्धन महामोक्ष-परिषदें कर रहे थे और शस्त्रों को शस्त्रागार में वन्द करवा कर अहिंसा का पाठ पढ़ रहे थे, लगभग उसी समय सुदूर पश्चिम में अरव के मसीहा, शाहेमदीना, के मार्गदर्शन में एक नवीन संगठन का सूत्रपात हो रहा था, जिसके अनुयायियों में विश्व-विजय की अदम्य भावना जाग्रत हुई थी। सर्वशक्तिमान अल्लाह के पुत्र हजरत मुहम्मद ने अरव के रेगिस्तान के दुर्धर्ष निवासियों को ईश्वर की वाणी के रूप में कुर्आन शरीफ की आयतों द्वारा संयत तथापि संगठित सैन्यवल के रूप में उभारा। इस्लाम का उदय तलवारों की झनकारों के वीच हुआ और तलवारों की छाया में ही उसका विकास हुआ। सन् ६३० ई०[1] में मुहम्मद साहव ने मक्का को जीता और वहाँ के मन्दिर में स्थापित ३६० मूर्तियों को ध्वस्त कर घोषित किया: "सत्य का उदय हुआ, असत्य नष्ट हो गया।"[2] इस प्रकार, इस्लाम,

१. प्रो० हवीव के अनुसार ११ जनवरी ६३० ई० (कम्प्रे० हि०, भाग ५, पृ० १२)
२. पी० के० हिट्टी, हिस्ट्री ऑफ द अरव्स, पृ० ११८।

धर्म-प्रचारकों के उपदेश मात्र से हृदय परिवर्तन के आधार पर न बढ़ कर शस्त्रबल पर बढ़ने लगा।[1] मूर्तिपूजा का घोर विरोध और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता, व्यावहारिक रूप में, इन दो सिद्धान्तों को आधार बनाकर, एक ईश्वर, एक मसीहा और एक धर्म-पुस्तक के मंत्र से अनुप्राणित होकर, तत्कालीन अरब के कबीलों के हृदयों में विजय और इस्लाम के प्रचार की अदम्य उत्ताल तरंगें उठने लगीं।

मुहम्मद साहब की मृत्यु २८ मई सन् ६३२ ई० में हुई। उनके उत्तराधिकारी खलीफाओं ने बहुत थोड़े समय में ही इस्लाम की विजय-वाहिनियों को संसार के सुदूर प्रदेशों में सफलता प्राप्त कराई। सन् ६४० ई० तक सीरिया और मिश्र खिलाफत के अधीन आ चुके थे। सन् ७०६ ई० तक अफ्रीका का समस्त उत्तरी तट जीता जा चुका था और सन् ७१३ ई० में स्पेन भी जीत लिया गया था और इस्लाम की सेनाएँ फ्रांस के मध्य तक पहुँच चुकी थीं।

इधर पूर्व की ओर भी इस्लाम का साम्राज्य द्रुतगति से आगे बढ़ रहा था। सन् ६३७ में केडेशिया के युद्ध में ईरान का प्राचीन साम्राज्य धराशायी हुआ और उसके पाँच वर्ष के भीतर ही समस्त ईरान अरबों के अधीन हो गया। सन् ६५० ई० तक अरबों का आधिपत्य हिन्दूकुश पर्वत तक हो चुका था। आगे था भारत का विशाल भू-भाग।

अरबों के भारत आक्रमण

अरबों के भारत-प्रवेश के मार्ग में भारत के ही अंग काबुल, जाबुल और सिन्ध के हिन्दू राज्य थे। बहुत लम्बे संघर्ष के पश्चात् भी इस्लाम की सेनाएँ काबुल और जाबुल के हिन्दू राज्यों को नष्ट न कर सकीं और उस ओर से उन्हें निराश ही होना पड़ा। परन्तु सिन्ध की परिस्थितियाँ विदेशी आक्रामकों के लिए अधिक अनुकूल थीं। सन् ७१४ ई० तक भारत का यह पश्चिमी द्वार टूट चुका था और अरबों ने समस्त सिन्ध को अपने अधिकार में कर लिया था और मुल्तान पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। अरब-सेना-नायक मुहम्मद इब्न-कासिम ने कांगड़ा (कीर) तक आक्रमण किया था। यद्यपि अफगानिस्तान के हिन्दू राज्य काबुल और जाबुल अरबों द्वारा विजित नहीं किये जा सके, परन्तु उनके पूर्व में स्थित मुल्तान से लेकर कांगड़ा तक का भारत का सीमान्त तथा सिन्ध अत्यन्त निर्बल सिद्ध हुए।

अरबों को भारत में इतनी द्रुतगति से विजय उपलब्ध कराने वाले मुहम्मद इब्न-कासिम का अन्त भी अत्यन्त दुखद हुआ, उसकी हत्या अरब के खलीफा ने ही करवा दी।

सिन्ध का हिन्दू राजा दाहिर मुहम्मद इब्न-कासिम से युद्ध करते समय मारा गया

---

१. प्रो० हबीब का अभिमत है कि मुहम्मद साहब की मदीना में हुई बातचीत के प्रामाणिक स्रोतों से यह प्रकट होता है कि वे इस्लाम का प्रचार 'विवाद, समझायश और अभिस्वीकृति' के माध्यम से करने के पक्षपाती थे। (कम्प्रे० हि०, भाग ५, पृ० १२।)

था, तथापि उसका राजकुमार जयसिंह जीवित था। मुहम्मद के लौटते ही उसने सिन्ध के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। अरबों के नये खलीफा ने हबीब को सिन्ध का विद्रोह दबाने के लिए भेजा। हबीब ने जयसिंह को अनेक स्थानों से हटने के लिए विवश किया। खलीफा उमर द्वितीय (सन् ७१७-७२० ई०) ने सिन्ध के हिन्दू राजाओं को इस शर्त पर स्वतन्त्र कर दिया कि वे इस्लाम धर्म स्वीकार कर लें। जयसिंह तथा कुछ अन्य हिन्दू राजा मुसलमान हो गये, परन्तु खलीफा उमर की मृत्यु के पश्चात् जयसिंह पुनः हिन्दू हो गया। अगले खलीफा हिशाम (सन् ७२४-७४३ ई०) ने जुनेद को सिन्ध का प्रशासक नियुक्त किया। जुनेद ने जयसिंह को पराजित कर मार डाला, तथा सिन्ध में हिन्दू राज्य का अन्त हो गया। सिन्ध को आधार बनाकर जुनेद ने भारत के अन्य भागों पर आक्रमण प्रारम्भ किये। पहला आक्रमण उत्तरी भारत पर हुआ। एक ओर जुनेद स्वयं गया तथा अन्य दिशाओं में उसके अन्य सेनापति गये। अरबों ने राजपूताना के मार्ग से घुस कर मालवा में उज्जयिनी तक आक्रमण किये। हिजरी सन् १०५ (सन् ७२७ ई०) में अरबों ने उज्जयिनी को लूटा। उत्तर में वे कांगड़ा तक गये। उसके पश्चात् वे भड़ौंच की ओर बढ़े। अरब इतिहास लेखकों के अनुसार जुनेद को इन अभियानों में आठ करोड़ की सम्पत्ति मिली थी।

अरबों का पहला आक्रमण नर्मदा के उत्तर के भारतीय प्रदेशों पर हुआ था। उत्तर भारत के इन आक्रमणों का प्रतिरोध प्रतीहार नागभट्ट, ललितादित्य तथा यशोवर्मन को करना पड़ा था। दक्षिण भारत में अरबों का प्रतिरोध चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य द्वितीय ने किया था, और नवसारी के युद्ध में उसके सामन्त राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग और पुलकेशिन् द्वितीय ने अरबों को पूर्णतः पराजित कर उनकी भारत आक्रमण की महत्वाकांक्षाओं को समाप्त कर दिया।

नवीन विग्रहों का प्रारम्भ

अरबों के आक्रमण का प्रतिरोध कर चुकने के पश्चात् ही तत्कालीन भारत की राज्यशक्तियों ने आपस में टकराना प्रारम्भ कर दिया। काश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड, कन्नौज के यशोवर्मन, उज्जयिनी का प्रतीहार नागभट्ट प्रथम और राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग के बीच विषम विग्रह प्रारंभ हुए।

यशोवर्मन ने बंगाल पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया। सन् ७३३ ई० के आसपास ललितादित्य मुक्तापीड ने यशोवर्मन को परास्त कर उसका राज्य समाप्त कर दिया।

नागभट्ट प्रतीहार को दुहरे संकट का सामना करना पड़ा। उत्तर भारत को अपने अधिकार में कर ललितादित्य ने प्रतीहार साम्राज्य की ओर दृष्टि डाली और वह उज्जयिनी पहुँचा। राजतरंगिणी में इस यात्रा का जो वर्णन है उसके अनुसार वह विजय-यात्रा न होकर तीर्थयात्रा अधिक ज्ञात होती है।[1] "अवन्ति में प्रवेश करने वाले

---

१. राज तरंगिणी, ४/१६२।

उसके हाथियों की पंक्तियों से केवल महाकाल के कलश पर पड़ने वाली चन्द्र-किरणें ही टकरा सकीं।"

ललितादित्य के हस्तियों की पंक्तियों से किसी अन्य राजा के हस्तियों की पंक्तियाँ नहीं टकराईं, इसका कारण यही हो सकता है कि ललितादित्य किसी के साथ टकराने के लिए उज्जयिनी नहीं गया था, वह केवल महाकाल के पूजन के उद्देश्य से वहाँ गया था। किसी राजा द्वारा तीर्थयात्रा पर रोक किसी हिन्दू राजा ने लगाई हो ऐसा उदाहरण भारतीय इतिहास में प्राप्त नहीं होता; तथापि प्रशस्तिकार इन तीर्थ-यात्राओं को भी विजय-यात्रा ही लिख देते हैं। फिर भी, इतने प्रबल और दम्भी तीर्थयात्री के आगमन के कारण नागभट्ट को सतर्क तो रहना ही पड़ा होगा। उस युग की राजनीति में दुर्बल का राज्य अधिकृत कर लेना उचित ही माना जाता था। ललितादित्य को नागभट्ट निर्बल सम्राट् ज्ञात नहीं हुआ।

नागभट्ट प्रथम की अवन्तिकापुरी को एक ऐसे यात्री का भी सामना करना पड़ा था, जिसने अपने प्रशस्तिकार द्वारा कुछ लम्बे-चौड़े दावे कराए हैं। राष्ट्रकूटों के एक लेख[2] से प्रकट होता है कि दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में हिरण्यगर्भ दान दिया था और उसमें अनेक राजा प्रतीहार (द्वारपाल) बने थे। कुछ विद्वानों ने 'प्रतीहार' में श्लेष मानकर यह मन्तव्य प्रकट किया है कि प्रशस्तिकार का आशय यह हो सकता है कि प्रतीहार नागभट्ट उस यज्ञ का 'द्वारपाल' बना था। राष्ट्रकूट लेखों के अनुसार दन्तिदुर्ग ने प्रतीहारों का लाटदेश भी जीत लिया था, परन्तु वहाँ प्रतीहारों के सामन्त भर्तृभड्ड चौहान का एक लेख भी मिला है जिसमें नागभट्ट को 'स्वामी' माना गया है। ज्ञात होता है कि दन्तिदुर्ग ने नागभट्ट को दाँत अवश्य दिखाए परन्तु वह कोई घाव न कर सका। दन्तिदुर्ग की उज्जयिनी-यात्रा भी मात्र तीर्थयात्रा ही ज्ञात होती है।

ललितादित्य, दन्तिदुर्ग और नागभट्ट के विग्रहों के परिणामस्वरूप सीमावर्ती प्रदेशों में कुछ छोटे-छोटे राजा या सामन्त अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करने में समर्थ हो सके। उत्तर भारत में आगे की शताब्दियों में जिन राजवंशों ने तुर्कों का सामना किया उनमें से अनेकों के राज्यों की स्थापना इसी समय हुई थी।

भारत की आठवीं शताब्दी की महाशक्तियाँ बड़ी दृढ़ता के साथ उस परिस्थिति के निर्माण में जुट गयीं जिसके परिणामस्वरूप भारत को ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में अभूतपूर्व पराजय का सामना करना पड़ा था। भारत की स्वाधीनता का मेरुदण्ड प्रतीहार साम्राज्य था। दक्षिण की ओर से राष्ट्रकूट उस पर प्रबल आघात करते रहे, पूर्व की ओर से पालों ने उसे निर्बल किया और छोटे-छोटे राजाओं की महत्वाकांक्षा ने उसे पूर्णतः तोड़ ही डाला। उसके स्थान पर कोई अन्य प्रबल शक्ति स्थापित न हो सकी। ग्यारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत संभवतः हजार राजाओं का देश था, जिसका प्रधान

२. एपी० इण्डि०, भाग १२, पृ० १८७।
३. एपी० इण्डि०, भाग ५, पृ० २०८।

उद्देश्य अपने कुल की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना था, कुल भी डूबे और देश की स्वाधीनता को भी ले डूबे।

तोमर राज्य का उदय

पेह्वा के शिलालेख तथा अनुश्रुतियों के अनुसार जाउल अथवा विल्हणदेव तोमर पहले किसी राजा का कार्य करता था।[1] परिस्थितियाँ इसी ओर इंगित करती हैं कि जाउल प्रारम्भ में नागभट्ट प्रथम की ओर से किसी कार्य पर नियुक्त था। यह कार्य अरबों के आक्रमण का प्रतिरोध भी हो सकता है और ललितादित्य मुक्तापीड की महत्वाकांक्षा से प्रतीहार साम्राज्य को सुरक्षित रखना भी हो सकता है। इस प्रयोजन के लिए जाउल ने चम्बल-क्षेत्र के तोमर और गुर्जरात्र के गूजरों की विशाल सेना भी अपने अधीन संगठित की होगी। एक अनुश्रुति इस अनुमान की पुष्टि करती है। वर्तमान अडगपुर (प्राचीन अनंगपुर) गूजरों की बस्ती है। अनुश्रुति यह है कि जाउल के वंशज एक राजकुमार ने गूजर कन्या से विवाह किया था और उसकी संतान भी गूजरों में ही मिल गयी और वहीं अडगपुर में बसी हुई हैं।[2] ये गूजर उन सैनिकों के अवशेष हैं जिन्हें नागभट्ट प्रथम ने जाउल की सेना का अंग बना कर भेजा था।

कुरुक्षेत्र उस समय किसी साम्राज्य का अंग नहीं था, 'अनंग' था। जाउल ने इसी अनंगप्रदेश पर अधिकार कर लिया, यमुना किनारे अनंगपुर में अपनी राजधानी बनायी और दिल्ली के तोमर राज्य की स्थापना की।

---

१. ....[लकश्चण्ड प्र]तापज्वलो
राजा रंजित साधुवृत्त [हृदयोद्ध]वृत्तशैलाशनिः।
नाम्ना जाउल इत्यपूर्वचरितख्यातो दयालकृति
स्तत्वालोकि विलोकितक्षितिपतिव्यापारलब्धोदयः।
[एपी० इण्डि०, भाग १, पृ० २४२, श्लोक ६।]

२. दिल्ली की खोज, पृ० २९।

अनंगप्रदेश का आदि तोमर राजा अनंगपाल प्रथम

अनुश्रुतियों के अनुसार भारतवर्ष की राजधानी इन्द्रप्रस्थ पर पांडव परीक्षित से राजपाल तक ६६ राजा हुए थे। राजपाल को कुमायूं के राजा शुकवन्त ने मार डाला और उसका राज्य छीन लिया। शुकवन्त को उज्जयिनी के सम्राट् विक्रमादित्य ने पराजित कर उससे इन्द्रप्रस्थ का राज्य छीन लिया, परन्तु विक्रमादित्य ने अपनी राजधानी उज्जयिनी में ही रखी और इन्द्रप्रस्थ वीरान हो गयी।

राजपाल के वंशजों ने चम्बल-क्षेत्र, वर्तमान तँवरधार, में अपना राज्य स्थापित कर लिया। यह राज्य लगभग सात शताब्दी चला। इसी प्रदेश में इस राजवंश को तोमर नाम प्राप्त हुआ। तोमरों का इस युग का इतिहास अज्ञात है। आईने-अकबरी से यह ज्ञात होता है कि सन् ५६३ ई० में इनका जितपाल नामक राजा था।[1] जितपाल का वंशज विल्हणदेव था। विल्हणदेव तोमर ने प्रतीहार नागभट्ट प्रथम की सेवा अंगीकार की और अरबों तथा काश्मीर के ललितादित्य के आक्रमणों से प्रतीहार साम्राज्य की रक्षा करने का कार्य उसे दिया गया। विल्हणदेव ने अपने अधीन तोमरों और गुर्जरों-गूजरों की सुदृढ़ सेना संगठित की और अपने कार्य की पूर्ति के हेतु कुरुक्षेत्र, अनंग-प्रदेश, पर जा जमा। विल्हणदेव ने कुछ समय पश्चात् ही अपने आप को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया और प्राचीन इन्द्रप्रस्थ के पास अपनी नवीन राजधानी अनंगपुर बसायी।[2] इस प्रकार दिल्ली के तोमरों का राज्य प्रारंभ हुआ।

विल्हणदेव, जाजू या अनंगपाल प्रथम

दिल्ली के तोमर-राज्य के संस्थापक राजा के नाम अनेक रूप में मिलते हैं। अधिकांश अनुश्रुतियाँ उसका नाम विल्हणदेव (वीलनदेव) बतलाती हैं।[3] इन अनुश्रुतियों के अनुसार विल्हणदेव ने अनंगप्रदेश में अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात् 'अनंगपाल' विरुद धारण किया।

वि० सं० १६८५ की 'राजावलि' में इस राजा का नाम "आदि राणा जाजू" दिया गया है। पेह्वा के शिलालेख में यह नाम "जाउल" प्राप्त होता है। यह 'जाउल' दिल्ली के तोमर राज्य का संस्थापक है इसका समर्थन वि० सं० १६८५ की राजावलि का

१. परिच्छेद १५ देखें।
२. परिच्छेद ११ देखें।
३. परिच्छेद १४ देखें।

नाम-साम्य ही है। इसका कुछ समर्थन इस बात से भी होता है कि दिल्ली-राज्य-संस्थापक तोमर भी चम्बल-क्षेत्र से आया था और जाउल के वंशज की एक शाखा के वज्रट आदि भी उसी क्षेत्र के सामन्त थे।

विल्हणदेव और जाजू या जाउल में कोई ध्वनि-साम्य नहीं है, तथापि मध्ययुग के इतिहास में एक ही राजा के एकाधिक नाम प्राप्त होते हैं।

आदि राणा जाजू की कुछ मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं। इनमें एक ओर अश्वारोही के साथ "श्री ज++" पढ़ा गया है और दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर "श्रीसमन्तदेव" पढ़ा गया है।[1] "श्रीसमन्तदेव" श्रुतिवाक्य और नन्दी का लांछन यह प्रकट करते हैं कि ये मुद्राएँ दिल्ली के तोमर राजाओं की हैं परन्तु नाम में केवल एक अक्षर 'ज' प्राप्त होने से इस सन्देह के लिए स्थान बना रहता है कि वे किस तोमर राजा की हैं।

परन्तु एक बात में कोई सन्देह नहीं है कि दिल्ली के प्रथम तोमर राजा का विरुद 'अनंगपाल' था। इतिहास के प्रयोजन के लिए दिल्ली के तोमर राज्य के संस्थापक का नाम 'अनंगपाल प्रथम' मानकर चलना सुविधाजनक होगा।

अनंगप्रदेश

अनंगपाल प्रथम को अनंग-प्रदेश का पालक या राजा क्यों कहा गया है, इसका कारण भी ऐतिहासिक परम्परा में प्राप्त होता है। दिल्ली के तोमरों के सिक्कों पर प्राप्त 'समन्त' कुरुक्षेत्र का पर्यायवाची है। उस प्रदेश को कभी अनंग-प्रदेश भी कहा जाता था। काश्मीर के कर्कोटवंश के राजा जयापीड विनयादित्य (सन् ७७९-८१३ ई०) के प्रधान मंत्री दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसकी ८०० वीं आर्या में दामोदर गुप्त ने हर्षवर्धन का नाम "अनंगहर्ष" दिया है[2]—

पद्ममपि देवनिकेतनमनंगहर्षे गते त्रिदिवलोकम्।
आश्रितवन्तो गत्वा तीर्थस्यानानुरोधेन॥

हर्ष की राजधानी थानेश्वर थी। ज्ञात यह होता है उस प्रदेश को कभी अनंग-प्रदेश कहा जाता था, इसी कारण हर्षवर्धन को 'अनंग-हर्ष' कहा गया है। इस अनंगप्रदेश का राज्य प्राप्त करने के कारण ही प्रथम तोमर राजा का विरुद 'अनंगपाल' हुआ।

अनंगपाल प्रथम के राज्यक्षेत्र की स्थिति इस प्रकार की थी कि वह किसी राज्य या साम्राज्य का अंग नहीं था। यद्यपि वह उत्तर-पश्चिमी भारत के केन्द्र में था, तथापि वह उस समय के शक्ति-केन्द्रों की सीमा पर स्थित था। नागभट्ट प्रथम, यशोवर्मन और ललितादित्य तीनों के साम्राज्यों की सीमा पर कुरुक्षेत्र स्थित था, उनके साम्राज्यों का वह अंग नहीं था। संभव है इस कारण भी अनंगपाल ने उसे 'अनंग' कहा हो। परन्तु प्रदेश या राज्य के नाम के उद्गम का यह स्वरूप कुछ अधिक युक्तिसंगत

१. परिच्छेद २ देखें।

२. मधुसूदन कौल द्वारा सम्पादित, कलकत्ता का १९४४ का संस्करण तथा पंडित तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी का बम्बई का १९३४ का संस्करण।

ज्ञात नहीं होता, अतएव संभावना यही है कि हर्षवर्धन के समय में कुरुक्षेत्र का एक नाम ही अनंगप्रदेश हो।

अनंग का एक अर्थ 'कामदेव' भी है। अपनी काव्यमय शैली में हिन्दी के महाकवि केशवदास ने तोमरों को 'मन्मथ' का पर्याय बना दिया है। वीरचरित्र में केशव ने वीरसिंह बुन्देला के राजपूत सामन्तों की सेना की कल्पना पद्मिनी के रूप में की है। इस प्रतीकात्मक रूपसी के मस्तक सीसौदिया है, वाणी बड़गूजर हैं, कान सोलंकी हैं, नेत्र चौहान हैं, कछवाहे सुन्दर कपोल हैं और—

तोमर मनमथ मन पडिहार
पद राठौर, सरूप पंवार।

राज्य-स्थापना का वर्ष

उत्तरी-भारत पर हुए अरबों के आक्रमणों ने प्रत्यक्षत: भारत की राजनीतिक स्थिति पर अधिक प्रभाव नहीं डाला था, तथापि उनका एक दूरगामी प्रभाव अवश्य हुआ। इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक छोटे-छोटे प्राचीन राज्य समाप्त हो गये और अनेक क्षत्रिय राज्यों का उदय हुआ। क्षत्रिय राजवंशों के राज्यों की स्थापना का मूल इन अरब-आक्रमणों में प्राप्त होता है। यद्यपि इन राजवंशों के पूर्वज विभिन्न क्षेत्रों पर सामन्त या छोटे-बड़े राजाओं के रूप में पहले से राजशक्ति धारण किये हुए थे, परन्तु नवीन 'राजपूत' अभिधान से सुविख्यात होने वाले प्राय: सभी राजवंशों का उद्गम ईसवी आठवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में ही हुआ था।

जुनैद के आक्रमण सन् ७२४ ई० के आसपास ही प्रारंभ हुए थे और उसके पश्चात् ही ललितादित्य, यशोवर्मन और नागभट्ट के बीच भीषण संघर्ष प्रारम्भ हुआ था।[1] नवीन राज्यों की स्थापना के लिए यही सर्वाधिक उपयुक्त समय था। वि० सं० १६८५ की राजावलि के अनुसार प्रथम तोमर राजा, 'आदि राणा जाजू' का राज्यकाल वि० सं० ८३९ (सन् ७८२ ई०) में प्रारंभ हुआ था। मुंहता नैणसी की ख्यात के अनुसार दिल्ली के तोमर राज्य की स्थापना वि० सं० ८०९ वैसाख सुदि १३ (सन् ७५२ ई०) में हुई थी। उसके एक अन्य पाठ के अनुसार यह संवत् ८२९ (सन् ७७२ ई०) है।

खड्गराय के गोपाचल-आख्यान के अनुसार बिल्हणदेव ने नवीन राजधानी की स्थापना वि० सं० ७९२ (सन् ७३६ ई०) में की थी।[2] कुछ अन्य अनुश्रुतियों से भी इस संवत् की पुष्टि होती है।

अबुलफजल ने दिल्ली के तोमर-राज्य की स्थापना का वर्ष ४१६ दिया है। यह गुप्त या वल्लभी संवत् है जिसके अनुसार सन् ७३४ ई० आता है।

इस प्रकार अनुश्रुतियों के अनुसार दिल्ली के तोमरों के राज्य की स्थापना का समय सन् ७३४ ई० तथा सन् ७७२ ई० के बीच प्राप्त होता है।

---

१. परिच्छेद १७ देखें।
२. कनिंघम : आर्कोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट्स, भाग १, पृ० १३८।

परन्तु खड्गराय द्वारा दिये हुए समय सन् ७३६ ई० की पुष्टि एक अन्य स्रोत से भी होती है। दिल्ली के लौहस्तम्भ पर श्री कनिंघम ने एक लेख पढ़ा था "सं० ४१८ राज तुंवर आदि अनंग"। इसे गुप्त या वल्लभी संवत् मान कर श्री कनिंघम ने सन् ७३६ ई० प्राप्त किया था।[1] यह लेख अब लौहस्तम्भ पर प्राप्त नहीं हो रहा है अतएव कुछ विद्वानों ने उसका कभी अस्तित्व होने पर सन्देह प्रकट किया है।[2] परन्तु यह सन्देह अनुचित ज्ञात होता है। तथ्यों के विवरण में श्री कनिंघम ने भूलें कम की हैं। इस लेख के अब प्राप्त न होने के अनेक कारण हो सकते हैं।

परन्तु यह लेख परवर्ती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसे सन् १०५२ ई० में अनंगपाल द्वितीय के समय में उत्कीर्ण किया गया था, यह उसके स्थान और विषयवस्तु से ही प्रकट है। लौहस्तम्भ को अनंगपाल द्वितीय ने दिल्ली में स्थापित किया था, अतएव उसके पूर्व का यह लेख नहीं हो सकता। अनंगपाल प्रथम के समय में उसे "आदि अनंग" लिखा भी नहीं जा सकता था। उसके वंशज अनंगपाल द्वितीय के समय में ही अनंगवंश के आदि राजा के रूप में उसका स्मरण किया जा सकता था। जब अनंगपाल द्वितीय ने लौहस्तम्भ की स्थापना की उसी समय उस वंश के राज्य की स्थापना का यह वर्ष अंकित कर दिया गया। परन्तु इस परिणाम पर पहुँचने में एक बाधा है। लौहस्तम्भ की स्थापना के विषय में जो लेख है उसमें विक्रम या दिहालि संवत् का प्रयोग किया गया है—'सम्वत दिहालि ११०९ अनंगपाल वहि' जबकि इस लेख में गुप्त संवत् का प्रयोग किया गया है। इसका समाधान कुछ इस प्रकार किया जा सकता है कि अनंगपाल द्वितीय के संदर्भ में 'दिहालि'[3] अर्थात् उस समय दिल्ली में प्रचलित संवत् अर्थात् विक्रमी संवत् का प्रयोग किया गया और "आदि अनंग" के संदर्भ में तत्समय प्रचलित संवत् अर्थात् वलभी या गुप्त संवत् का प्रयोग किया गया।

परन्तु समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर सन् ७३६ ई० को अनंगपाल प्रथम द्वारा दिल्ली के तोमर राज्य की स्थापना का वर्ष मानना ही उचित होगा, खड्गराय के इस कथन का समर्थन उन परिस्थितियों से भी होता है[4] और लौहस्तम्भ के उक्त लेख से भी।

किल्ली और ढिल्ली

कुछ अनुश्रुतियों में अनंगपाल प्रथम के विषय में दो तथ्य प्राप्त होते हैं। पहला यह कि अनंगपाल प्रथम ने ढिल्ली, ढिल्लिका या दिल्ली बसायी और दूसरी यह कि

१. कॉइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८१।
२. डॉ० रे : डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, भाग २, पृ० ११५०।
३. 'दिहालि संवत्' का आशय 'दिल्ली में प्रचलित संवत्' है। इसका समर्थन कुत्बुद्दीन ऐबक के कुव्वतुल-इस्लाम के शिलालेख से भी होता है। उस शिलालेख में दिल्ली में प्रचलित दिल्ली के तोमरों के सिक्कों को 'दिल्लयाल' कहा गया है।
४. परिच्छेद १७ देखें।

किल्ली (लौहस्तम्भ) की स्थापना भी अनंगपाल प्रथम ने ही की। वास्तव में पहले प्रवाद के मूल में दूसरा 'किल्ली' विषयक प्रवाद ही है। परन्तु इन दोनों तथ्यों में ही कोई वास्तविकता नहीं है। लौहस्तम्भ की स्थापना अनंगपाल द्वितीय ने सन् १०५२ ई० में की थी, इसके पर्याप्त पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। 'दिल्ली-किल्ली' को अनंग-पाल प्रथम के साथ जोड़ने का आधार पृथ्वीराज रासो का एक आख्यान है। इस आख्यान को बाद में इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध में भी दुहराया गया है।

यह आख्यान पहले विस्तार से दिया जा चुका है।[१] वह बहुत मनोरंजक अवश्य है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से उसके सभी अंग ढीले हैं। जैसा उस आख्यान में कहा गया है, न यह किल्ली केवल १९ अंगुल गढ़ी है और न दिल्ली के तोमरवंश में केवल १९ राजा हुए। दिल्ली के सिंहासन पर तोमरों के पश्चात् चौहान राज्य करेंगे यह भविष्यवाणी भी असत्य ही सिद्ध हुई। 'मेवाड़पति' के दिल्ली पर एकछत्र राज्य करने की भविष्याकांक्षा भी फलीभूत न हो सकी। सत्य केवल यह भविष्य कथन हो सका है कि दिल्ली के सिंहासन पर पहले तुर्क बैठेंगे और फिर मुगल। इस भविष्यवाणी से यह अवश्य सिद्ध होता है कि इस आख्यान का जन्म कब हुआ था। तुर्कों द्वारा दिल्ली हस्तगत कर लेने के पश्चात् ही कभी यह "भविष्यपुराण" गढ़ा गया है।

नगरों के नाम बहुधा उसके संस्थापक के नाम पर रखे जाते हैं। कभी-कभी अन्य कारण भी प्राप्त होते हैं। अनुश्रुति यह भी है कि किसी दिलु या दिलीप नामक राजा ने जो नगर बसाया उसका नाम ढिल्ली रखा गया था, तथापि उसका सम्बन्ध किल्ली से जोड़ना उचित ज्ञात नहीं होता। यह स्मरणीय है कि दिल्ली अनेक प्राचीन नगरियों के ४०-५० मील के घेरे के भू-भाग में बसी हुई है। मुगलों के पूर्व ही वह सात नगरियों का समूह मानी जाती थी। इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध में उसके ग्यारह नाम दिये गये हैं।[१] वे सभी नाम एक ही भू-भाग के नहीं हैं, वरन् समय-समय पर बसाई गई बस्तियों के हैं। यह संभव है कि जिस स्थान पर लौहस्तंभ गाढ़ा गया था, वहाँ की बस्ती का नाम उसके पूर्व ही ढिल्लिका रहा हो और कीली-ढीली की तुक मिलाने वाले आख्यानकार ने उसे 'ढीली' लिखा हो, जिसे कालान्तर में दिल्ली लिखा जाने लगा हो। यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अनंगपाल प्रथम की राजधानी मेहरौली में न होकर 'अनंगपुर' में थी।

अनंगपाल प्रथम के निर्माण

अनंगपाल प्रथम ने अनेक निर्माण किये थे। पेहवा के शिलालेख में उसके विषय में लिखा है—

> ... ... नी] तं परां संपदं
> छिन्नारातिकरीद्रकुम्भशकलं + कृत्वोपहारं भुवः।
> कीर्त्यायस्य च नाक नागनिकरव्यासङ्गतः सङ्गमा-
> द्व्योम्नश्च स्फुरदिन्दु सुन्दर रुचा स्वस्मिन्धुलीलायतम् ॥७॥

१. परिच्छेद १२ देखें।

प्रतिदिश[ममरा]णां मन्दिराण्युच्छिताग्र-
स्थगितशशधराणि स्फार मारोपितानि।
जगति विततभासायेनदूरं विभान्ति
स्वयश इव निरोद्धुं शङ्कवो दिङ्निखाताः ॥८॥

जाउल या अनंगपाल प्रथम ने कहाँ-कहाँ विशाल मन्दिर बनवाये थे, इसकी खोज अब असंभव है। उसने अपनी राजधानी अनंगपुर में अवश्य ही अनेक निर्माण किये होंगे। उनमें से कुछ के अवशेष रह गये हैं। तुगलकाबाद के तीन-चार मील दक्षिण में अनंगपुर तटबन्ध आज भी अवशिष्ट है, इसका निर्माण अनंगपाल प्रथम ने किया था। मूलतः यह अत्यन्त विशाल तालाब होना चाहिए, जिससे सिंचाई भी की जाती थी। मध्ययुग की विशिष्ट-निर्माण शैली में यह तालाब बनवाया गया था। दो पहाड़ों के बीच पड़ने वाली घाटी को बाँध कर यह तालाब बनाया गया है। तल पर इसकी चौड़ाई १५० फुट तथा ऊंचाई १२० फुट है। इस तालाब में सिंचाई के लिए बनवाई गयी विशाल नहरें आज भी देखी जा सकती हैं।[१]

इसी स्थल पर पहाड़ी पर किले के भी अवशेष प्राप्त होते हैं, परन्तु वे इतनी ध्वस्त दशा में हैं कि उनके आकार-प्रकार का अनुमान लगाना कठिन है।

कालिकादेवी का मन्दिर

अमीर खुसरो ने नूहसिपेहर में अनंगपाल प्रथम के प्रासाद विषय में एक अनुश्रुति को अंकित किया है।[२] अमीर खुसरो के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि जिसे उसने राज-प्रासाद लिखा है वह देवी का मन्दिर था। वह मन्दिर योगमाया का न होकर कालिका-देवी का मन्दिर था।

अमीर खुसरो के अनुसार अनंगपाल के प्रासाद के द्वार पर सिंहों की दो मूर्तियाँ बनी हुई थीं और उसने प्रत्येक सिंह के पास दो घण्टियाँ भी लगवा दी थीं। जिसे राजा से न्याय की याचना करना होती थी वह इन घण्टियों को बजाने लगता था, और राजा उसका न्याय करने के लिए उपस्थित हो जाता था। एक बार कौओं ने इन घण्टियों को बजाया और फरियाद यह की कि पत्थर के सिंहों के दाँतों में उन्हें माँस नहीं मिलता है और इस कारण वे भूखे रहते हैं। राजा ने सिंहों के पास कुछ भेड़-बकरियों को मार कर डाल देने की व्यवस्था कर दी जिससे कौए भी अपना पेट भर सकें।

अमीर खुसरो ने कौओं के साथ न्याय करने का जो व्यंग्य अपने आख्यान में जोड़ा है उससे यह प्रकट होता है कि ये सिंह-मूर्तियाँ कालिकादेवी के मन्दिर के द्वार पर थीं और भेड़-बकरियाँ बलिदान के लिए काटी जाती थीं। आज भी दिल्ली के कालिकादेवी के मन्दिर के सामने दक्षिण की ओर पत्थर के दो सिंह बने हुए हैं जिनके सिर पर भारी घण्टे लटकते रहते हैं।[१] आज भी देवी के दर्शनार्थी उन घण्टों को बजाते हैं, परन्तु उनकी

१. दिल्ली की खोज, पृ० २४।
२. परिच्छेद १० देखें।

पुकार उनकी श्रद्धा-भाजन देवी भले ही सुनती हो, अन्य कोई पार्थिव व्यक्ति उसे सुनने के लिए नहीं आता।

कालिकादेवी का वर्तमान मन्दिर सन् १७६८ ई० में पुनः बनवाया गया था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान प्रस्तर-सिंह अनंगपाल के समय के है, परन्तु वे उस परम्परा के अवश्य हैं। अब इन सिंहों के पास कालिकादेवी पर बकरों की बलि भी नहीं दी जाती। आज दिल्ली की कालिकादेवी और योगमाया पूर्ण अहिंसक हैं। सन् ११६६ ई० में जैन मुनि श्री जिनचन्द्र सूरि ने इन मन्दिरों में पशुबलि बन्द कराई थी।[1] वह परम्परा आज भी यथावत् पालन की जाती है।

अमीर खुसरो द्वारा नूहसिपेहर में अंकित अनुश्रुति से यह माना जा सकता है कि अनंगपाल प्रथम ने ही कालिकादेवी के मन्दिर की सर्वप्रथम स्थापना की थी।

अनंग-राज्य की सीमा

मध्ययुग के किसी भी राजवंश की राज्य-सीमा निर्धारित करना असंभव है। जिन्हें चक्रवर्ती कहा जाता है उनने भी अपने अधीन समस्त भू-भाग पर कभी अपना राज्यतंत्र स्थापित किया हो, ऐसे उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। किसी भू-भाग के राजा या सामन्त को पराजित कर उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लेने की प्रथा उस युग में कम ही थी। यदि किसी राजा को पराजित कर युद्ध में मार भी डाला जाता या तब उसीके वंशज को अपने सामन्त के रूप में स्थापित कर दिया जाता था, और जैसे ही विजेता की शक्ति क्षीण हो जाती थी, सामन्त पुनः स्वतंत्र हो जाता था। अनेक उदाहरण ऐसे भी प्राप्त होते हैं जहाँ एक ही राजा की अनेक सन्तानों ने विभिन्न भू-भागों में राज्य स्थापित कर लिए और वे अपनी मूल शाखा को अपना सार्वभौम मानते रहे, और कुछ पीढ़ियों के पश्चात् उनका यह सम्बन्ध भी क्षीण होता गया।

अनंगपाल प्रथम के समय में चम्बल-क्षेत्र के उसके सम्बन्धी अवश्य ही उसके अधीन रहे होंगे। चम्बल-क्षेत्र (तँवरघार) के सामन्त कब तक दिल्ली के तोमरों को अपना सार्वभौम सम्राट् मानते रहे यह कहना कठिन हैं, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अनंगपाल प्रथम और अनंगपाल द्वितीय के समय में यहाँ के तोमर दिल्ली तोमर सम्राट् की आधीनता स्वीकार करते थे। अनंगपाल द्वितीय के पश्चात् यह सम्बन्ध निरन्तर उस समय तक बना रहा जब दिल्ली के तोमर सन् ११९३ ई० में दिल्ली से अपदस्थ होकर तँवरघार में ही नहीं आ गए। बीच में लगभग एक शताब्दी का ऐसा समय आया था जब तँवरघार के तोमरों को दिल्ली से सम्बन्ध तोड़ कर प्रतीहारों को अपना सार्वभौम सम्राट् मानना पड़ा था।

दिल्ली के तोमरों के साम्राज्य की सीमा के विषय में मेजर जनरल कनिंघम ने कुछ अनुश्रुतियाँ एकत्रित की थी।[2] जब तक उन्हें खण्डित करने के लिए कोई सामग्री न हो, उन्हें सही मान कर ही चला जा सकता है।

---

१. परिच्छेद ६ देखें।
२. आर्को० सर्वे० रि०, भाग १, पृ० १५३।

इन अनुश्रुतियों के अनुसार अनंगपाल प्रथम के अनेक पुत्र थे। एक पुत्र तेजपाल ने तेजोरा बसाया था जो गुड़गांव और अलवर के बीच स्थित है। दूसरे पुत्र इन्द्रराज ने इन्द्रगढ़ बसाया था। तीसरे पुत्र रंगराज ने तारागढ़ नाम के दो स्थान बसाये थे जिनमें से एक अजमेर से लगा हुआ है। चौथे पुत्र अचलराज ने अचेवा या अचनेर बसाया था जो भरतपुर और आगरा के बीच में है। पाँचवे पुत्र द्रौपद ने असि अर्थात् हाँसी बसायी थी। छठवें पुत्र शिशुपाल ने सिरसा तथा सिसबल बसाये जो सिरसीपाटन से अभिन्न हैं।

वि० सं० १०३० के हर्षनाथ के चौहान-शिलालेख से ऐसा ज्ञात होता है कि अजमेर और पुष्कर के बीच स्थित लवणखेडा नामक गढ़ भी तोमरों के आधीन था।[1]

अनंग-प्रदेश या समन्त-प्रदेश में समस्त कुरुक्षेत्र सन्निहित हैं, अतएव उसमें थानेश्वर और पृथूदक भी होंगे इसमें सन्देह नहीं।

अचलराज का अचनेरा या अचेरा मथुरा के दक्षिण में है। मथुरा निश्चय ही दिल्ली के तोमरों के अधीन थी।

त्रिभुवनगिरि (तहनगढ़—थंगीर) तथा भादानक (वयाना) में आगे किसी यदुवंश का राज्य दिखाई देता है। संभावना यह है कि यह राज्य अनंगपाल प्रथम के पुत्र अचलराज के वंशजों का था। इस यदुवंश के राणाओं के नाम दिल्ली के तोमरों के समान ही हैं। हमारा अनुमान यह है कि अचेरा या अचनेर के पास ही त्रिभुवनगढ़ अर्थात् तहनगढ़ आगे अनंगपाल द्वितीय ने बसाया था।[2]

तँवरावती पर तोमरों का आधिपत्य था इसका प्रमाण भी चौहानों के शिलालेखों से प्राप्त होता है।

अनंगपाल प्रथम के समय में उदित हुए इस विशाल साम्राज्य के तोमर सामन्त कब तक दिल्ली को अपना सार्वभौम मानते रहे यह कहना असंभव है। कालान्तर में उन्हें अन्य शक्तियों की आधीनता भी स्वीकार करना पड़ी थी।

---

१. परिच्छेद २० देखें।

२. परिच्छेद २४ देखें।

परिच्छेद १९

पाल-युग

(७९४-८७५ ई०)

अनंगपाल प्रथम (७३६-७५४ ई०) के पश्चात् दिल्ली के तोमर राजाओं की अनेक पीढ़ियों तक पृथक्-पृथक् राजा का इतिहास लिखने के लिए सामग्री उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि अनंगपाल प्रथम के पश्चात् वासुदेव (७५४-७७३ ई०) तथा गंगदेव (७७३-७९४ ई०) ही स्वतंत्र राजा रह सके और उनके पश्चात् पृथ्वीमल्ल (७९४-८१४) को बंगाल के पालों का करद राजा बनना पड़ा था। यह स्थिति सातवें राजा उदयराज (८४९-८७५) तक चली। संभव है उदयराज पालों के प्रभाव से मुक्त हो सका हो, तथापि यह निश्चित है कि आठवाँ राजा आपृच्छदेव (वच्छराज) स्वतंत्र राजा था, क्योंकि उसकी मुद्राएँ प्राप्त होती हैं।

पाल-साम्राज्य का उदय

ईसवी आठवीं शताब्दी की उत्तर भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना बंगाल के पाल-साम्राज्य का उदय है। भारत के ही एक अंश बंगाल ने राष्ट्रीय-चरित्र का जो गौरवशाली कीर्तिमान स्थापित किया था वह इतिहास में पुनः देखने को न मिल सका। ईसवी आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में बंगाल की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। हिमालय की ओर से किसी शैलवंश के आक्रमणों ने उसके राजनीतिक तन्त्र को जर्जरित कर दिया। उसके पश्चात् ही कन्नौज के यशोवर्मन ने वंग-विजय की। यशोवर्मन का राज्य भी टिक न सका और उसे काश्मीर के ललितादित्य ने पराजित कर उसका राज्य छीन लिया और इस प्रकार बंगाल काश्मीर के साम्राज्य का अंश बन गया। परन्तु ललितादित्य का साम्राज्य भी शीघ्र ही समाप्त हो गया और बंगाल में पूर्ण अराजकता फैल गयी। प्रत्येक असिधारी अपने-अपने ग्राम का राजा बन गया।

इस दुरवस्था से त्राण पाने के लिए बंगाल के मुखियाओं ने एक सुदृढ़ शासन स्थापित करने का संकल्प किया। उन सबने अपनी समस्त सत्ता गोपाल नामक राजा को समर्पित कर दी। गोपाल ने पूरे बंगाल का संगठन कर अराजकता को दूर किया और पाल साम्राज्य की नींव डाली। परन्तु पाल साम्राज्य का वास्तविक विस्तार गोपाल के उत्तराधिकारी धर्मपाल (७७०-८१० ई०) ने किया था।

धर्मपाल के साम्राज्य को समस्त उत्तर भारत में फैला देने का श्रेय उसके समकालीन राष्ट्रकूट राजाओं को भी है। बहुधा होता यह था कि धर्मपाल प्रतीहारों से पराजित होता था और प्रतीहारों को राष्ट्रकूट पराजित कर देते थे।

राज्यभार सँभालते ही धर्मपाल को वत्सराज प्रतीहार का सामना करना पड़ा। इस युद्ध में धर्मपाल पराजित हुआ। परन्तु उसके पश्चात् ही राष्ट्रकूट ध्रुव और

वत्सराज के बीच युद्ध हुआ। ध्रुव ने वत्सराज को पराजित कर दिया और उसे राजस्थान की मरुभूमि में शरण लेने के लिए बाध्य किया। वत्सराज को पराजित कर ध्रुव ने धर्मपाल को भी हरा दिया। इसके पश्चात् ध्रुव दक्षिण लौट गया।

राष्ट्रकूट ध्रुव के लौटते ही धर्मपाल को पश्चिम की ओर अपना साम्राज्य विस्तार करने का अवसर मिल गया। उस समय कन्नौज पर इन्द्रायुव राज्य कर रहा था। धर्मपाल ने उसे पराजित कर कन्नौज का राज्य उससे छीन लिया। इन्द्रायुध के राजकुमार चक्रायुध को धर्मपाल ने कन्नौज का राजा बना दिया। परन्तु ज्ञात यह होता है कि चक्रायुध का राज्यारोहण समारोह कुछ वर्षों के पश्चात् हुआ था क्योंकि कन्नौज की विजय के पश्चात् धर्मपाल ने उत्तर भारत के बहुत बड़े भू-भाग को विजित किया था। उसने भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गान्धार और कीर नामक प्रदेशों को जीता। सम्भव यह है कि चक्रायुध इन अभियानों में धर्मपाल के साथ रहा हो। इस विजय-यात्रा से लौटते समय धर्मपाल अपने साथ विजित देशों के राजाओं को भी लाया और सबके समक्ष कन्नौज में चक्रायुध का राज्यारोहण-समारोह सम्पन्न किया गया।[1] इस प्रकार धर्मपाल 'उत्तरापथस्वामिन्' बन गया।[2] यह घटना सन् ८०० ई० के आसपास की है।

धर्मपाल की कुरुक्षेत्र-विजय

धर्मपाल की इस दिग्विजय के सन्दर्भ में नामांकित प्रदेशों में कुरु और यदु से दिल्ली के तोमरों का सम्बन्ध है। कुरुक्षेत्र में तो तोमरों का राज्य था ही, यदु (त्रिभुवनगढ़ तथा भादानक), वह प्रदेश था जहाँ अनंगपाल प्रथम के एक पुत्र ने राज्य स्थापित किया था।

धर्मपाल की दिग्विजय का विवरण देने वाले ताम्रपत्र[1] के कथनों की पुष्टि करने के लिए अन्य आधार भी प्राप्त हैं। दिल्ली के तोमरों में उस समय पृथ्वीमल्ल राजा था और शाकंभरी पर दुर्लभराज प्रथम राज्य कर रहा था। इन दोनों को ही पराजित कर धर्मपाल अपने साथ ले गया था इसके प्रमाण प्राप्त होते हैं।

दुर्लभराज प्रथम के विषय में "पृथ्वीराज-विजय-काव्य" में लिखा है—

असिः स्नातोत्थितो यस्य गङ्गासागर सङ्गमे।
चिरं गौडरसास्वादशुद्धा ब्राह्मणतां ययौ ॥५।२०॥

प्रशस्तिकार की शैली में 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के कवि ने ऐसा आभास दिया है मानो चौहान दुर्लभराज प्रथम ने गंगासागर की यात्रा किसी विजय के सन्दर्भ में की थी। परन्तु उस समय शाकंभरी के चौहानों का राज्य उनकी राजधानी के आसपास ही सीमित था। वत्सराज के सामन्त के रूप में भी गंगासागर के संगम तक उनकी 'असि'

१. एपी० इण्डि०, भाग ४, पृ० २४३।
२. सोढ़ल : उदयसुन्दरी-कथा, पृ० ४-६ (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज)।

नहीं पहुँच सकती थी, क्योंकि वत्सराज स्वयं कभी गंगासागर तक नहीं पहुँचा था। वत्सराज और धर्मपाल के युद्ध उस समय हुए थे जब धर्मपाल कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए गंगा-यमुना के दोआब की ओर चल पड़ा था। नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल का युद्ध भी मुंगेर के पास हुआ था।

यदि धर्मपाल का खालिमपुर का उक्त ताम्रपत्र और 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' का उक्त श्लोक साथ-साथ पढ़े जाएँ तब यह स्पष्ट होता है कि धर्मपाल ने अपनी दिग्विजय के सन्दर्भ में दुर्लभराज को भी पराजित किया और उसे अन्य राजाओं के साथ कन्नौज पकड़ कर ले गया। दुर्लभराज अपने विजेता सम्राट् धर्मपाल की सेना के साथ गंगा-सागर संगम तक गया और उसने वहाँ 'गौड़-रस' का आस्वादन किया।

पृथ्वीमल्ल तोमर को धर्मपाल ने पराजित कर अपना करद बनाया था इस तथ्य का समर्थन अप्रत्यक्ष रूप से मुंहता नैणसी की ख्यात से होता है। मुंहता नैणसी ने अपनी ख्यात में "दिल्लीराज बैठा तियांरी विगत" देते हुए ९९ वें क्रमांक पर धनालसेन या धनपालसेन द्वारा दिल्ली राज्य लेने का उल्लेख किया हैं।[1] मुंहता ने लिखा है "बंगाल सूं आयो। किसनचन्द कूं मार राज लियो।" ये ख्यातें किस प्रकार लिखी जाती थीं इसका स्वरूप इस विगत से स्पष्ट होता है। बंगाल के राजा धर्मपाल ने दिल्ली के क्षेत्र के राजा को पराजित कर अपने वशवर्ती कर लिया था, ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है; परन्तु भाटों ने इस तथ्य के आसपास अनेक कल्पनाएँ जोड़ दीं; न तो धर्मपाल ने किसी दिल्ली के राजा को मारा था, और न वह कभी दिल्ली के सिंहासन पर बैठा था, तथापि इस विगत में धर्मपाल के अनेक वंशजों के दिल्ली के राजा के रूप में नाम भी दिये गये हैं और राज्यकाल के वर्ष और मास भी दे दिये गये हैं। इन ख्यातों की रचना-विधा का यह उदाहरण है। इसमें इतिहास का अंकुर तो है, वृक्ष समस्त कल्पना-प्रसूत है। मुंहता को प्राप्त विगत से इस तथ्य का समर्थन अवश्य होता है कि पृथ्वीमल्ल तोमर को धर्मपाल ने पराजित किया था तथा उसे अपना करद बनाया था।

धर्मपाल, नागभट्ट द्वितीय और राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के संघर्ष

यद्यपि वत्सराज प्रतीहार को ध्रुव राष्ट्रकूट से पराजित होकर मरुभूमि में भाग जाना पड़ा था, तथापि उसके उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय, नागाभलोक, ने अपने कुल की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने बड़े आयोजन के साथ धर्मपाल पर आक्रमण करने की तैयारी की।

शाकंभरी का राज्य राजस्थान के प्रतीहार-राज्य से मिला हुआ था। ज्ञात यह होता है कि नागभट्ट द्वितीय ने शाकंभरी के चाहमानों को अपनी ओर मिला लिया। हर्षनाथ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चौहान गूवक प्रथम ने नागाभलोक के वीरों में प्रसिद्धि प्राप्त की थी।[2]

१. मुंहता नैणसीरी ख्यात, भाग ३, पृ० १८९ (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान)।
२. एपी० इण्डि०, भाग १९, पृ० ११२।

नागभट्ट द्वितीय ने धर्मपाल पर आक्रमण किया और मुंगेर के पास उसे पराजित कर दिया।[1] परन्तु नागभट्ट की इस विजय को राष्ट्रकूटों ने पुनः विफल कर दिया। राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट द्वितीय को पराजित किया।[2] संभवतः गोविन्द तृतीय धर्मपाल द्वारा सहायता के लिए बुलाए जाने पर ही आया था क्योंकि उसकी नागभट्ट पर विजय के पश्चात् ही धर्मपाल और चक्रायुध दोनों ने गोविन्द तृतीय की आधीनता स्वीकार कर ली।[2] परन्तु यह आधीनता केवल गोविन्द राष्ट्रकूट की मनःतुष्टि के लिए तथा उसके प्रहार से बचने के लिए थी। गोविन्द तृतीय दक्षिण लौट गया और धर्मपाल यथावत् सत्ता-सम्पन्न बना रहा।

प्रतीहारों और पालों के इस द्वितीय संघर्ष में शाकंभरी के चौहानों की स्थिति उनके शिलालेख से स्पष्ट हो जाती है, तथापि दिल्ली के तोमरों के विषय में कोई संकेत प्राप्त नहीं होता। आगे होने वाली घटनाएँ यह संकेत अवश्य करती हैं कि इस संघर्ष में भी तोमरों ने धर्मपाल का ही साथ दिया।

तोमर और देवपाल

धर्मपाल के उत्तराधिकारी देवपाल (८१०-८५० ई०) के समय में दिल्ली के तोमरों की स्थिति बदली होगी, इसकी सम्भावना कम है। देवपाल के विषय में उल्लेख है कि उसने उत्तरापथ के हूणों को पराजित किया और उसके साम्राज्य की सीमा हिमालय से विन्ध्याचल तथा बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक थी[3]। उसकी प्रशस्ति के अनुसार इस क्षेत्र के राजा देवपाल के करद थे। देवपाल के इस दावे के खण्डन या समर्थन में अधिक कहना संभव नहीं है। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि देवपाल के साम्राज्य को प्रतीहार कोई क्षति नहीं पहुँचा सके थे। केवल अनुमान किया जा सकता है कि देवपाल के समय में भी दिल्ली के तोमर बंगाल के पालों की आधीनता स्वीकार करते रहे। किस सीमा तक वे इस सुदूरस्थ सम्राट् का प्रभाव मानते होंगे यह नहीं कहा जा सकता।

देवपाल की मृत्यु के पश्चात् पाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। देवपाल का उत्तराधिकारी विग्रहपाल साधु हो गया। उसका पुत्र नारायणपाल भी युद्ध से घृणा करता था और धर्म-प्राण था। मध्ययुग में यह प्रवृत्ति साम्राज्य के विनाश का सुनिश्चित लक्षण थी। संभावना यह है कि उदयराज तोमर (८४६-८७५ ई०) ने पालों की आधीनता का जुआ उतार फेंका हो। अगला तोमर राजा आपृच्छदेव (८७५-८६७ ई०) तो निश्चित ही स्वतन्त्र राजा था।

तोमर और चौहान

पालों के प्रभाव के इस युग में शाकंभरी के चौहान और दिल्ली के तोमरों के आपसी सम्बन्धों पर विचार करने से उनके बीच आगे के युग में हुए संघर्षों का कारण

१. एपी० इण्डि०, भाग ११, पृ० १६६।
२. एपी० इण्डि०, भाग १८, पृ० २५३।

स्पष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में शाकंभरी के चौहान और दिल्ली के तोमर दोनों ही धर्मपाल के करद थे। पृथ्वीमल्ल तोमर और चौहान दुर्लभराज प्रथम दोनों को ही सन् ८०० ई० के आस-पास धर्मपाल पकड़ कर कन्नौज ले गया था, और दुर्लभराज को तो गंगासागर तक ले गया था। इसके पश्चात् चौहानों और तोमरों के मार्ग भिन्न हो गये। चौहानों ने प्रतीहारों की आधीनता स्वीकार कर ली और तोमर पालों के साथ रहे। पालयुग के समाप्त होते समय स्थिति यह थी कि चौहान प्रतीहारों के सामन्त थे और तोमर स्वतन्त्र हो गये थे। तोमरों और चौहानों की राज्य-सीमा मिली हुई थी, संघर्ष अनिवार्य और अवश्यम्भावी था।

तोमर-चौहान-संघर्ष युग

(८७५-९७५ ई०)

देवपाल की मृत्यु के पश्चात् पालों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था, परन्तु ज्ञात यह होता है कि उदयराज तोमर (८४९-८७५ ई०) कम-से-कम नाममात्र की पालों की आधीनता स्वीकार करता रहा। यह अनुमान केवल इस आधार पर किया जा सकता है कि उदयराज की मुद्राएँ प्राप्त नहीं होती। उसके उत्तराधिकारी आपृच्छदेव, अर्थात्, वच्छहर (८७५-८९७ ई०) की मुद्राएँ प्राप्त होती हैं, अतएव यह कहा जा सकता है कि वह स्वतंत्र राजा था।

आगे की एक शताब्दी का दिल्ली के तोमरों का इतिहास केवल कुछ प्रवृत्तियों का इतिहास है, पृथक्-पृथक् तोमर राजा के राज्यकाल की घटनाओं का विवरण देना संभव नहीं है।

इस शताब्दी के तोमर राजाओं के विषय में लगभग सभी आधुनिक इतिहासों में यह स्थापना की गयी है कि वे प्रतीहारों के सामन्त थे। इस शताब्दी की दूसरी विशेषता तोमरों और चौहानों के संघर्ष हैं। इन दोनों तथ्यों पर विचार करने के लिए इस शताब्दी के तोमर राजाओं और उनके समकालीन प्रतीहार और चौहान राजाओं को समकालीनता के अनुसार तालिका के रूप में देखना उपयोगी होगा—

तोमर	प्रतीहार	चौहान
उदयराज (८४९-८७५ ई०)	भोज प्रथम (८३६-८८५ ई०)	गूवक द्वितीय (८६३-८९० ई०)
आपृच्छदेव (८७५-८९७ ई०)	महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-९०७ ई०)	चन्दनराज (८९०-९१७ ई०)
पीपलराज देव (८९७-९१९ ई०)	महीपाल या विनायकपाल आदि (९०७-१००० ई०)	
रघुपाल (९१९-९४०)		वाक्पतिराज प्रथम (९१७-९४४ ई०)
तिल्हणपाल देव (९४०-९६१ ई०)		सिंहराज (९४४-९७१ ई०)
गोपाल (९६१-९७९ ई०)		विग्रहराज द्वितीय (९७१-९९९ ई०)

तोमर और प्रतीहारों के सम्बन्ध

लगभग सभी आधुनिक इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि भोज प्रथम और महेन्द्रपाल प्रतीहार के समय में दिल्ली के तोमर प्रतीहारों के सामन्त थे। इसके कुछ आधार भी प्राप्त हुए हैं। सन् ८८२ ई० में किसी घोड़े के व्यापारी ने पृथूदक (पेह्वा) में दानपुण्य किया और शिलालेख में अपने राजा प्रतीहार भोज प्रथम का उल्लेख कर दिया।[1] पृथूदक में ही गोग्ग तोमर का शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें किसी महेन्द्रपाल का उल्लेख है।[2] इन्द्रपत के पाण्डवों के किले की सीढ़ी में भोज के नामयुक्त एक टूटा प्रस्तर खण्ड भी प्राप्त हुआ है। इन शिलालेखों के अतिरिक्त इस तथ्य का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है कि इस समय के शाकंभरी के चौहान, सुनिश्चित रूप से, प्रतीहारों के सामन्त सिद्ध होते हैं।

परन्तु प्रतीहारों और तोमरों के सम्बन्धों के बारे में अब तक प्राप्त किये गये निष्कर्षों पर गंभीरतापूर्वक पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। प्रतीहार भोज-प्रथम और महेन्द्रपाल प्रथम के समकालीन तोमर राजा आपृच्छदेव तथा पीपलराजदेव हैं। इन दोनों तोमर राजाओं की मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। उन्हें किसी का करद राजा या सामन्त नहीं माना जा सकता। शंका एक ही हो सकती है, संभव है, आपृच्छदेव तथा पीपलराजदेव का वंशावलि द्वारा निर्धारित समय शुद्ध न हो। परन्तु इसकी गणना अन्य रूप में भी की जा सकती है। अनंगपाल द्वितीय का सन् १०५१ से १०८१ ई० तक का समय अनेक स्रोतों से सुनिश्चित है। अनंगपाल द्वितीय १६वां राजा है। २५ वर्ष प्रति राजा के राज्यकाल के लिए देने के गुर से भी आठवें राजा आपृच्छदेव और नौवें राजा पीपलराज देव का समय ८७५ ई० से ९२५ ई० तक आता है। इन दोनों राजाओं के आठवें और नौवें स्थान के सम्बन्ध में सभी वंशावलियाँ एकमत हैं और सोलहवें अनंगपाल द्वितीय के स्थान के विषय में भी वे एकमत हैं।

इस तथ्य की पृष्ठभूमि में प्रतीहारों के नामों के उल्लेखयुक्त शिलालेखों को देखने से ही स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

पाण्डवों के किले की सीढ़ी में मिला शिलालेख का टुकड़ा कुछ भी सिद्ध नहीं करता, उस पर भोज का नाम अवश्य पढ़ा गया है, परन्तु वह पत्थर कहाँ से आया, किस हेतु उत्कीर्ण किया गया था, यह जानने का कोई आधार नहीं है। उसके आधार पर आपृच्छदेव और पीपलराजदेव की मुद्राओं के अस्तित्व के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष को खण्डित नहीं माना जा सकता। भोज प्रथम की विजय-गाथाओं को अंकित करने वाले अत्यन्त विस्तृत अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उनमें से किसी में भी कुरुक्षेत्र, ढिल्ली, इन्द्रप्रस्थ, थानेश्वर, हाँसी आदि की विजय का उल्लेख नहीं है, "तीर्थयात्रा प्रसंगात्" भी नहीं। तोमरों के साम्राज्य की विशेषता यह है कि उसमें उस युग के

१. एपी० इण्डि०, भाग १, पृ० १८४।
२. एपी० इण्डि०, भाग १, पृ० २४२।

अनेक प्रसिद्ध तीर्थस्थान स्थित थे। पृथूदक, थानेश्वर, तथा इन्द्रप्रस्थ (निगम-वोध) अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रत्येक हिन्दू के लिए अपने और अपने पुरखों के पापमार्जन के प्रख्यात स्थल थे। वहाँ की यात्रा के लिए न साधारण नागरिक पर रोक थी, न श्रेष्ठियों की यात्राओं पर और न राजाओं की यात्राओं पर। तीर्थों में मिले शिलालेखों में राजनीतिक इतिहास खोजना निरापद नहीं है।

पृथूदक के शिलालेखों के विषय में पहले विस्तार से लिखा जा चुका है।[1] अत्यन्त पवित्र तीर्थ होने के साथ-साथ वह घोड़ों की प्रसिद्ध मण्डी भी थी। अनुश्रुति के अनुसार भारत के प्रथम राजा, वेणु के पुत्र प्रथु ने अपने पिता का श्राद्ध पृथूदक में ही किया था। पृथूदक में न केवल अश्वपति बनने के आकांक्षी राजाओं के व्यापारी अपने राजाओं के लिए अश्व क्रय करने के लिए जाते थे, वरन् वे अपने पुरखों को सद्गति प्राप्त कराने के प्रयोजन से दान-पुण्य भी करते थे और निर्माण भी कराते थे। उन्हें संभवतः प्रति वर्ष पृथूदक की मण्डी में आना पड़ता होगा और ये निर्माण उनके अस्थायी निवास के उपयोग में भी आते होंगे। इन निर्माणों में लगाये गये शिलालेखों में, ऐसे यात्री, "अपने" राजा का नाम उत्कीर्ण कराएँ यह अधिक स्वाभाविक है। तोमरों के स्थानीय अधिकारियों ने यह कल्पना भी नहीं की होगी कि इन व्यापारियों द्वारा लगवाये गये शिलालेखों का परिणाम यह होगा कि वीसवीं शताब्दी का इतिहासकार पृथूदक को ही उस व्यापारी के राजा के राज्य का अंग समझने लगेगा। उन अधिकारियों ने अपना ध्यान केवल अश्वों के क्रय-विक्रय पर प्राप्य शुल्क पर ही केन्द्रित किया, जिसके कारण तोमरों के इतिहास में बड़ा अनर्थकारी परिणाम निकाला गया, और दिल्ली के तोमरों के 'अश्वत्थ' पीपलराजदेव को प्रतहारों की सामन्ती का 'पद' मिल गया। पीपलराज के स्थानीय राज्याधिकारियों के प्रमाद का दण्ड इतिहास के न्यायालय में उनके राजा को नहीं मिलना चाहिए। यह गम्भीरतापूर्वक विचार करने का विषय है कि मध्ययुग में एक-दूसरे के राज्य में व्यापार और तीर्थयात्रा के लिए राजा, उनके सामन्त या व्यापारी जा सकते थे या नहीं और उन्हें दान-पुण्य या व्यापार करने की छूट थी या नहीं? ऐसे उदाहरण तत्कालीन साहित्य में प्रचुर संख्या में मिलते हैं। केवल घोर शत्रुता होने पर ही दूसरे राज्य के तीर्थयात्री या व्यापारी लूटे जाते थे, अन्यथा नहीं।

गोग्ग के शिलालेख से निकाले गये परिणाम तो और भी भयंकर हैं। उसके आधार पर न केवल महेन्द्रपाल को पृथूदक का सम्राट् माना गया है, वरन् वज्रट, जज्जुक और गोग्ग को दिल्ली के तोमर-सम्राटों की वंशावलि में स्थान दिया गया। इस शिलालेख की वास्तविकता के विषय में पहले लिखा जा चुका है, उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है।[2]

प्राचीन पृथूदक पूर्णतः समाप्त हो चुका है, उसके स्थान पर नया पेह्वा नये

१. परिच्छेद १५ देखें।
२ परिच्छेद २ देखें।

मकानों और नये मन्दिरों के साथ उठ खड़ा हुआ है। घोड़े के व्यापारी का शिलालेख गोरखनाथ के शिष्य गर्भनाथ के मन्दिर में मिला है और गोग का शिलालेख सिद्धगिर की हवेली में बाजार में मिला है।[1] इन स्थानभ्रष्ट शिलालेखों से सतर्कतापूर्वक ही निष्कर्ष निकाले जाना चाहिए। इनकी तुलना में आपृच्छदेव और पीपलराजदेव की मुद्राओं के साक्ष्य को ही मान्य करना उचित होगा, वे किसी के करद या सामन्त नहीं थे।

पीपलराज के पश्चात् दिल्ली के किसी तोमर राजा का प्रतीहारों का करद या सामन्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। महेन्द्रपाल प्रथम के पश्चात् प्रतीहारों को अपना घर सँभालना ही कठिन हो गया था, उनका साम्राज्य बिखरने लगा था। चन्देलों और कच्छपघातों ने उनके साम्राज्य को समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया था और दक्षिण के आक्रमण भी प्रबलतर होने लगे थे।

तोमर और चौहान

इस शताब्दी में शाकंभरी के चौहानों और दिल्ली के तोमरों में कम-से-कम दो बार संघर्ष हुए थे, इसका एकमात्र साक्षी वि० सं० १०३० का हर्षनाथ का शिलालेख है।[2] उसके भाष्य भी एकपक्षीय ही हुए हैं, क्योंकि दिल्ली के तोमरों के इतिहास को अब तक व्यवस्थित रूप से देखा ही नहीं गया। हर्षनाथ के शिलालेख के अनुसार ये दो युद्ध उस समय हुए थे जब दिल्ली के सिंहासन पर क्रमशः पीपलराजदेव तथा तिल्हणपाल राज्य कर रहे थे और शाकंभरी पर चन्दन चौहान और सिंहराज राज्य कर रहे थे। इन दोनों युद्धों के समय प्रतीहार महेन्द्रपाल प्रथम की मृत्यु हो चुकी थी।

चौहानों और तोमरों के एक और युद्ध की सृष्टि हर्षनाथ के उक्त शिलालेख के भाष्य के आधार पर की गयी थी। इस भाष्य के अनुसार चौहान वाक्पतिराज प्रथम भी कभी तोमरों से लड़े थे।[3] परन्तु इस भाष्य के विद्वान सृष्टा ने आगे अपना मत बदल दिया[4] और वह केवल ऐतिहासिक स्थापनाओं की सृष्टि का मनोरंजक इतिहास-मात्र रह गया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' और 'हम्मीर महाकाव्य' में चन्दन चौहान और सिंहराज के पराक्रमों का रूढ़िगत उल्लेख तो है, तथापि उनके दिल्ली के तोमरों से हुए किसी विग्रह का उल्लेख नहीं है। कम-से-कम "पृथ्वी-राज-विजय-काव्य" के लेखक को चौहानों के इतिहास के समस्त स्रोत उपलब्ध थे क्योंकि वह सन् ११७५ ई० के आसपास उनकी राज्य-सभा का अधिकृत इतिहास लेखक था। इन दोनों इतिहास ग्रन्थों के मौन का एक ही कारण हो सकता है। जिन झगड़ों का

---

१. कनिंघम : आर्कोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग २, पृ० २२४।
२. एपी० इण्डि०, भाग २, पृ० १२१।
३. डॉ० दशरथ शर्मा : दिल्ली का तोमर (तँवर) वंश, राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० १८।
४. डॉ० दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २७।

वि० सं० १०३० के हर्षनाथ के शिलालेख में उल्लेख है वे तोमरों के स्थानीय सामन्तों से हुए थे और उनसे चौहान-कुल की कीर्ति में कोई वृद्धि नहीं हुई थी।

चन्दन चौहान के सन्दर्भ में हर्षनाथ के शिलालेख में उल्लेख है—

तस्माछ्रीचंदनोभूत्क्षितिपतिभयदस्तोमरेशं सदर्प्पं
हत्वा रुद्रेनभूप समर[भुवि] [ब]लाद्ये[न लब्धा]जयश्री :।

"उससे उत्पन्न चन्दन, जो क्षितिपतियों में भय देने वाला था, जिसने तोमरेश भूप अभिमानी रुद्रेन को समरभूमि में मार कर जयश्री प्राप्त की।"

पहली कठिनाई इस श्लोक में यह है कि तोमरेश कौन है? श्री कीलहार्न के अनुसार उसका नाम 'रुद्रेन' है, परन्तु श्री डॉ० शर्मा के अनुसार उसका नाम रुद्र है, और 'इन-भूप' उसका एक विशेषण है।[1]

फिर यह प्रश्न भी उत्पन्न हुआ कि यह गर्विष्ट भूप, या इन-भूप (बड़ा राजा) तोमरेश रुद्र या रुद्रेन कौन था? कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि यह रुद्र या रुद्रेन तँवरावती का छोटा-मोटा सामन्त था और उससे ही चन्दन चौहान का झगड़ा हुआ था। इसके विपरीत यह अभिमत भी व्यक्त किया गया है कि रुद्र दिल्ली-सम्राट् तोमर था जिसे चन्दन चौहान ने समरभूमि में मार डाला। स्थापनाएँ इसके आगे भी बढ़ीं और रुद्र को पेह्वा-शिलालेख के गोग्ग का पुत्र या भतीजा माना गया और दिल्ली के तोमर सम्राटों की एक अभिनव वंशावली प्रस्तुत की गयी। बेटा-भतीजा-वाद का विवेचन हम अन्यत्र कर चुके हैं[2], अब देखना यह है कि क्या वास्तव में चन्दन चौहान इतने शक्तिशाली थे कि वे 'समरभूमि' में कुरुक्षेत्र के स्वामी को मार गिराते?

उस समय शाकंभरी के चौहानों की राज्य-सीमा शाकंभरी के आसपास हर्षनाथ ग्राम तक ही ज्ञात होती है। शाकंभरी से पुष्कर की ओर के मार्ग में तारागढ़ (अजमेर) तथा लवणखेड़ा पर तोमर सामन्त राज्य कर रहे थे और दूसरी ओर तँवरावती तक तोमरों का इलाका था। शाकंभरी के गूवक प्रथम नागभट्ट द्वितीय की सभा में चाकरी देते थे। आगे गूवक द्वितीय ने इस स्थिति को थोड़ा और सँभाला और, 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार अपनी बहिन कलावती को भोज प्रथम को विवाह में अर्पित कर दिया, परन्तु वे रहे भोजदेव के सामन्त ही। गूवक द्वितीय के पुत्र चन्दन चौहान एकदम दिल्ली पर धावा बोलने की स्थिति में हो गये हों, यह कल्पनातीत ज्ञात होता है।

फिर हर्षनाथ के प्रशस्तिकार ने रुद्र या रुद्रेन तोमरेश के लिए इतने विशेषण क्यों लगा दिये? कारण स्पष्ट है। विग्रहराज द्वितीय के समय तक शाकंभरी के चौहान सामन्ती की स्थिति में ही थे, सर्वप्रथम विग्रहराज द्वितीय ही किसी सीमा तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित करने में सफल हुआ था; उसने अपने प्रशस्तिकार को रूढ़ि के अनुसार अपने पूर्वजों के पराक्रम की गाथा को भी अंकित करने का निर्देश दिया।

---

१. डॉ० दशरथ शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २६।

२. परिच्छेद १५ देखें।

चन्दन राजा की एक मात्र उपलब्धि किसी स्थानीय तोमर सामन्त को युद्ध में मार डालना थी। शिलालेख के कवि-प्रशस्तिकार को उसी के आधार पर चन्दन चौहान की प्रशंसा करना थी। उसका प्रतिद्वन्द्वी यदि पराक्रमी और "इन-भूप" न दिखाया जाता तब यह घटना चन्दन राजा के गौरव की प्रस्थापना के लिए व्यर्थ होती। 'क्षितिपति भयद्' वह 'मृगपति' यदि किसी सेनापति या सामन्त 'मेढ़क' को मारता हुआ दिखाया जाता तब विग्रहराज उस कवि को शाकंभरी में निष्कासित ही कर देते।

इसके लिए अधिक तर्क की आवश्यकता नहीं है कि 'भूप' शब्द का प्रयोग इस शिलालेख में किसी स्वतंत्र राजा के अर्थों में नहीं किया गया है, जिसके अधिकार में "भू" हो, चाहे सामन्त के रूप में, चाहे छोटे जमींदार के रूप में, प्रशस्तिकारों के लिए वह "भूप" ही था।

ज्ञात यह होता है कि प्रतीहारों के साथ हुई अपने पिता गूवक द्वितीय की रिश्तेदारी के दम्भ में चन्दनराज चौहान लवणखेड़ा के तोमर सामन्त रुद्र से उलझ बैठे और उस युद्ध में रुद्र मारा गया। रुद्र तंवरवती का तोमर सामन्त न होकर लवण-खेड़ा का सामन्त था। इस अनुमान का आधार हर्षनाथ के शिलालेख का वह श्लोक है जिसमें सिंहराज और तोमरों के बीच हुए संघर्ष का उल्लेख है।

परन्तु सिंहराज चौहान के तोमर-संघर्ष का विवेचन करने के पूर्व वाक्पतिराज प्रथम के सम्बन्ध में हर्षनाथ के शिलालेख में प्राप्त श्लोक के एक भाष्य का उल्लेख करना मनोरंजक होगा। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में वाक्पतिराज प्रथम को १८८ युद्धों का विजेता कहा है, वे युद्ध या तो प्रतीहारों की ओर से लड़े गये होंगे या फिर कल्पनालोक में। हर्षनाथ के शिलालेख में वाक्पति के केवल एक युद्ध का ही वर्णन है -

येनार्दैन्यं स्वसैन्यं कथमपि दधता वाजि-वल्गा-मुमुक्षु
प्रागेव त्रासितेभः सरसि करि-रटड्-डिण्डिमैर्डिण्ड[जे]।
वन्द्य-क्ष्माभर्तु राज्ञां समदमभिवहन्नागतोनन्तपार्श्वे
क्ष्मापालस-तन्त्रपालो दिशि दिशि गमितो ह्रीविषण्णः प्रसन्नः॥

इस श्लोक की अर्थ-निष्पत्ति, चौहानों के प्रसिद्ध इतिहासकार, डॉ० दशरथ शर्मा ने एक स्थल पर यह की है[1]—

"तोमरेश रुद्र या रुद्रेन युद्ध में सांभर के चौहान राजा चन्दन के हाथ मारा गया। तंवरों ने शायद कन्नौज के सम्राट् के सम्मुख बात रखी। राजा तंत्रपाल उसका आज्ञापत्र लेकर साभिमान सांभर की तरफ बढ़ा। परन्तु अश्वसेना के चतुर नायक चौहान चन्दन के पुत्र महाराज वाक्पतिराज से परास्त होकर उसे वापस लौटना पड़ा।"

बड़े पराक्रमी थे महाराज वाक्पति चौहान! पिता ने दिल्ली के तोमरों को पराजित

१. दिल्ली का तोमर (तंवर) वंश, राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४ पृ० २८।

कर दिया और वेटे ने कन्नौज द्वारा भेजे गये राजा तन्त्रपाल को पराजित कर भगा दिया !! तत्कालीन प्रतीहार सम्राट् महीपाल या विनायकपाल के पास पीपलराजदेव तोमर या रघुपाल तोमर शिकायतें भेजते थे या नहीं, इसकी खोजवीन करने का प्रयास सफल न हो सका क्योंकि तोमर, प्रतीहार, पाल और चौहान सभी के दफ्तर तुर्कों ने भून डाले और जो खण्डित शिलालेख मिले भी हैं उनमें इसका कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु डॉ० शर्मा ने स्वयं ही इस विवाद को समाप्त कर दिया और अपना मत वदल दिया। उक्त विद्वान का परवर्ती मत यह है[1] —

"जव राष्ट्रकूटों के आक्रमण का ज्वार लौट गया, तव प्रतीहारों ने अपनी प्रभु-सत्ता पुनः प्रतिष्ठित करना चाही। हर्ष के शिलालेख में उल्लिखित क्षमापाल नामक तंत्रपाल (प्रान्तीय प्रशासक) द्वारा वाक्पतिराज प्रथम पर किया गया आक्रमण इसी प्रकार का एक असफल प्रयास था। अपने स्वामी से प्राप्त अधिकार से दर्पित, यह तन्त्रपाल चौहानों की भूमि, अनन्त, के पास पहुँचा। उसे अपनी विजय पर पूर्ण विश्वास था। परन्तु अपनी श्रेष्ठ अश्वसेना के कारण वाक्पति तंत्रपाल की गजसेना से श्रेष्ठतर सिद्ध हुआ। तन्त्रपाल ने उसे पकड़ने का असफल प्रयास किया, परन्तु अपमानित और दुखी होकर उसे युद्ध क्षेत्र छोड़ देना पड़ा। प्रतीहार सैन्यवल पर प्राप्त इस विजय ने चौहान राजा की ख्याति को वहुत वढ़ा दिया होगा।"

डॉ० भण्डारकर ने इस श्लोक का भाष्य अन्य रूप में किया है। तन्त्रपाल क्षमापाल या क्षमापाल तन्त्रपाल जव शाकंभरी पहुँचा तव पहले तो वाक्पति उससे मिला नहीं, अपने द्रुत अश्वों के कारण वाक्पति ने उसे छका दिया। अन्त में तन्त्रपाल से मिलकर वाक्पति ने उसे प्रसन्न किया। वास्तविकता यह ज्ञात होती है कि प्रतीहारों के करद सामन्त शाकंभरी के चौहानों ने अपने सार्वभौम सम्राट् को कर देना वन्द कर दिया था, उसे वसूल करने के लिए तन्त्रपाल आया था, पहले तो वाक्पति चौहान भागे, परन्तु अन्त में विवश होकर उन्हें कर देना पड़ा।

वह जो भी हुआ हो, डॉ० शर्मा ने कृपा कर दिल्ली के तोमरों को निराश्रित और असमर्थ वनिता के समान अपने दुखड़े प्रतीहारों की राजसभा में रोने से मुक्त कर दिया, यही वहुत है। यह उल्लेख्य है कि तन्त्रपाल कोई 'तोमर' था यह आरोप तो हर्षनाथ के शिलालेख के प्रशस्तिकार ने भी नहीं लगाया है।

वाक्पतिराज का युद्ध किसी तोमर के साथ नहीं हुआ था, परन्तु उसके उत्तराधिकारी चौहान सिंहराज का युद्ध किसी तोमर नायक से अवश्य हुआ था। हर्षनाथ के वि० सं० १०३० के शिलालेख को चौहान विग्रहराज द्वितीय ने उत्कीर्ण कराया था। सिंहराज उसके पिता थे, अतएव प्रशस्तिकार को अत्यधिक सावधानी से काम लेना आवश्यक था। इस प्रशस्ति के २१वें श्लोक में विग्रहराज द्वितीय को कुल की पराजय का क्षोभ मिटाने वाला लिखा है। निश्चय ही उसके पिता सिंहराज को किसी भीषण

१. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २७।

पराजय का सामना करना पड़ा था, परन्तु प्रशस्तिकार ने उसका विवरण निम्न रूप में दिया है—

> तोमरनायकं सलवणं सैन्याधिपत्योद्धतं
> युद्धे येन नरेश्वराः प्रतिदिशं निर्न्ना (र्णा) शिता जिष्णुना।
> कारावेश्मनि भूरयश्च विधृतास्तावद्धि यावद्गृहे
> तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्ती स्वयं॥

"सेनाओं के आधिपत्य से उद्धत तोमर नायक और 'लवण' को पराजित कर सिंहराज ने अनेक दिशाओं से आए हुए नरेश्वरों को युद्ध में हरा कर वन्दी बना लिया। उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि वे सब बन्दीगृहों में न समा सके, अतएव कुछ को घर में ही बन्द करना पड़ा। उनको मुक्त कराने के लिए स्वयं रघुकुल के भूचक्रवर्ती को आना पड़ा।"

यदि ऐसा ही हुआ था, तब अगले चौहान राजा को किस पराजय का क्षोभ मिटाना पड़ा था? प्रशस्ति वह है जो पराजय को जय में बदल दे! स्पष्टतः इस प्रशस्ति में तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा गया है।

इस श्लोक में इंगित घटना को समझने के लिए "तोमरनायकं सलवणं" का आशय समझ लेना आवश्यक है। इसका आशय सलवण नामक तोमर-नायक न होकर लवण सहित तोमर-नायक है। पुष्कर और अजमेर के बीच में 'लवणखेड़ा' नामक गढ़ था। वि० सं० १२४६-५१ में वहाँ केल्हण नामक राजा राज्य कर रहा था।[1] वि० सं० १००० के आसपास, जब की यह घटना है, यहाँ का राजा तोमरों के अधीन था। ज्ञात यह होता है कि तोमरों और चौहानों के बीच कोई सीमा-विवाद था और उसी के कारण यह युद्ध हुआ था। लवणखेड़े के तोमर सामन्त के साथ दिल्ली के तोमरों के सेनापति ने सिंहराज पर आक्रमण किया। सिंहराज संभवतः पहले विजयी हुए; परन्तु फिर स्वयं तोमर सम्राट् गोपालदेव ने आक्रमण किया और सिंहराज को पराजित कर मार डाला।

रघुकुल के भूचक्रवर्ती — गोपालदेव

हर्षनाथ की इस प्रशस्ति में उल्लिखित "रघुकुले भू-चक्रवर्ती स्वयं" वाक्य पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। कन्नौज के प्रतीहारों को लक्ष्मण का वंशज कहा गया है, राजशेखर भी उन्हें 'रघुकुलमणि' लिखता है। यह स्वाभाविक है कि इस वाक्य के 'रघुकुल भूचक्रवर्ती' की खोज तत्कालीन प्रतीहार सम्राटों में की गयी और माना यह गया कि सिंहराज द्वारा वन्दी बनाये गये राजाओं को मुक्ति दिलाने लिए विनायकपाल देव प्रतीहार स्वयं शाकंभरी पहुँचे थे। परन्तु यह स्थापना करते समय दो तथ्यों को नितान्त विस्मृत कर दिया गया है। विनायकपाल के 'चक्र' को चन्देल और कच्छपघातों ने पूर्णतः जड़ कर दिया था, उसका 'वर्तन' अत्यधिक अवरुद्ध हो गया था, उसमें यह सामर्थ्य नहीं रही थी कि वह शाकंभरी या दिल्ली तक दौड़ लगाता। दूसरा तथ्य यह

१. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि; पृ० ४४।

उपेक्षित किया गया कि न तो तोमर रघुपाल प्रतीहारों का सामन्त था, न उसका पुत्र तिल्हणपाल और न पौत्र गोपाल। यहाँ तक कि सिंहराज चौहान भी नाम मात्र के ही प्रतीहार सामन्त रह गये थे। विनायकपालदेव को हर्षनाथ के लेख का 'रघुकुल भूचक्रवर्ती' माना जाना निराधार है।

इस शिलालेख के सम्पादक श्री कीलहार्न ने 'रघुकुल भूचक्रवर्ती' का आशय स्वयं भगवान राम से माना है, सिंहराज युद्ध में मारे गये और उन्हें स्वर्ग ले जाने के लिए स्वयं रघुपति राजा राम पधारे।

परन्तु वास्तविकता कुछ और ही ज्ञात होती है। 'रघुकुल भूचक्रवर्ती' वाक्य का आशय है 'रघुपाल के पौत्र, तोमर सम्राट् गोपालदेव'। जब तोमर नायक की सेना पराजित हुई तब स्वयं गोपालदेव ने शाकंभरी पर आक्रमण किया और सिंहराज को मार डाला। शाकंभरी के चौहानों ने चन्दन चौहान के समय से, प्रतीहारों के साथ रिश्तेदारी के बल पर, जो उपद्रव प्रारम्भ किये थे, वे सिंहराज की पराजय और मृत्यु के साथ समाप्त हुए, उसके आगे फिर शाकंभरी के चौहानों ने उत्तर की ओर अपनी राज्य-सीमा बढ़ाने का प्रयास नहीं किया।

परिच्छेद २१

तुर्क-संघर्ष का प्रथम चरण

सुलक्षणपाल तोमर (६७६-१००५ ई०)

गोपालदेव (६६१-६७६ ई०) के राज्यकाल के राजनीतिक इतिहास की प्रमुख ज्ञात घटना सिंहराज चौहान और तोमरों का संघर्ष है। उस युद्ध के पश्चात् तोमरों का राजनीतिक इतिहास केवल उन संघर्षों तक सीमित हो जाता है जो उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर तुर्क और राजपूतों के बीच हुए। इस इतिहास का आधार भी तुर्कों के इतिहासकारों के कथन मात्र हैं। गोपालदेव और उनके आगे सुलक्षणपालदेव (६७६-१००५ ई०) का इतिहास मुख्यतः उन्हीं इतिहासकारों के कथनों को आधार बनाकर लिखा जा सकता है।

वंशावलियों के सुलक्षणपालदेव की मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनपर उनका नाम "श्रीसल्लक्षणपालदेव" मिलता है। यहाँ उनके नाम के हिन्दी रूप 'सुलक्षणपाल' को ही ग्रहण किया गया है।

गोपालदेव और सुलक्षणपालदेव का राज्यकाल वह युग है जब भारत के राजपूत तंत्र को तुर्कों से पहला संघर्ष करना पड़ा था। भारत की राज्य-शक्तियों का संघर्ष इसके पूर्व अरबों से भी हुआ था। अरबों और तुर्कों में केवल एक ही समानता थी, वे दोनों इस्लाम के अनुयायी थे। इसके अतिरिक्त उनमें अन्य कोई समानता नहीं थी, उनका सांस्कृतिक स्तर, व्यक्तिगत स्वभाव सभी भिन्न थे। अरबों के लिए इस्लाम के सिद्धान्त और उनका प्रचार प्रमुख लक्ष्य था, वे उनके साध्य थे, उनकी दृष्टि में राज्य-विस्तार उस लक्ष्य की उपलब्धि का साधनमात्र था। इसके विपरीत तुर्कों के लिए प्रधान साध्य लूट और राज्य थे, इस्लाम उनका साधन मात्र था। इसी दुर्दम नृशंस नृवंश से भारत के राजपूत-तंत्र को निपटना पड़ा।

तुर्कों का अभ्युदय

हजरत मुहम्मद के पश्चात् होने वाले खलीफाओं ने अरब साम्राज्य को अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध बना दिया था। उनके साम्राज्य की राजधानी पहले दमिश्क थी, उसके पश्चात् बगदाद बनी जो मध्ययुग के संसार के इतिहास की अत्यन्त समृद्ध आख्यान-पुरी बन गयी। परन्तु अरबों का भारत-अभियान केवल सिन्ध और मुलतान में इस्लाम के कुछ तत्त्व छोड़ने में सफल हुआ, वे भारत-विजय न कर सके। यह श्रेय उन तुर्कों को मिला जो अरबों की चरम समृद्धि के समय उनके वैभव में पलकर उनके साम्राज्य के लिए भी घातक बने थे।

ईरान की संस्कृति अत्यन्त प्राचीन थी, परन्तु उसे अरबों के शस्त्रबल के समक्ष धराशायी होना पड़ा था। तथापि, बगदाद में राजधानी आने के पश्चात् ही ईरान के

वैभव और उसकी संस्कृति ने अरब के खलीफाओं को प्रभावित करना प्रारंभ कर दिया। साम्राज्य के अनेक महत्वपूर्ण पदों पर ईरानी अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे। मेसा-पोटामिया के पास अरब में बसे कबीले इस नवीन परिवर्तन से असंतुष्ट होने लगे और खलीफाओं को अपनी हत्या के भय से त्रस्त रहना पड़ता था। इसका उपाय उन्होंने युद्धबन्दी तुर्कों को अपने अंगरक्षक बनाकर किया। ये तुर्की अंगरक्षक धीरे-धीरे खलीफाओं की राजसभाओं में अत्यधिक प्रभावशाली हो गये। अनेक महत्वपूर्ण पदों पर अब तुर्की अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे। अरब साम्राज्य के अनेक प्रान्त तुर्क सामन्तों के अभिरक्षण में दे दिये गये।

तुर्कों का मूल निवास मध्यएशिया का वह प्रदेश था जहाँ से प्राचीनकाल में हूण, सीथियन आदि आए थे। उनके प्रवाहों ने योरप और भारत के अनेक साम्राज्यों को उद्ध्वस्त कर दिया था। उनका शौर्य, घुड़सवारी की निपुणता तथा क्रूर स्वभाव विश्व-विश्रुत है। उसी नृवंश के ये तुर्क थे। अरबों ने उन्हें कभी विजित किया था, उन्हें इस्लाम में दीक्षित किया था, और इस नये रूप में वे अरब खलीफाओं के कण्ठहार बन गये थे। धीरे-धीरे मिश्र से समरकन्द तक अरब साम्राज्य में तुर्क सैनिक और अधि-कारी छा गये। मध्यएशिया की घाटियों से उतर-उतर कर असंख्य तुर्क उनका साथ देने के लिए आने लगे। अरब साम्राज्य विचलित हुआ और उसके परिणामस्वरूप ये तुर्क भारत की ओर बढ़ने लगे।

बगदाद के खलीफा अलमामू ने प्रसन्न होकर अपने विश्वस्त सेनापति ताहिर को सन् ८२० में खुरासान का प्रशासक नियुक्त कर दिया और बगदाद के पूर्व का प्रदेश उसके प्रशासन में दे दिया। कुछ ही समय में वह स्वतंत्र हो गया और खलीफा की आधीनता केवल नाममात्र की ही रह गयी। सन् ८७२ ई० में आसपास याकूब-इब्न-लायथ नामक तुर्क प्रबल हुआ। इसने अपना जीवन डाकू के रूप में प्रारंभ किया था। ताहिर का एक वंशज उसके पराक्रम से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उसे अपना सेनापति बना दिया। अन्त में याकूब स्वयं खुरासान का प्रशासक बन गया। उसने अपना राज्य समस्त ईरान में विस्तृत कर लिया और काबुल तथा जाबुल के हिन्दू राज्यों को समाप्त कर दिया तथा सिन्ध के मन्सूरा में अरबों के स्थान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया।

काबुल और जाबुल के हिन्दू राज्य दो-तीन शताब्दियों तक अरबों से सफलता पूर्वक संघर्ष करते रहे और अपनी स्वतंत्रता बनाए रहे। परन्तु याकूब ने अपने सैन्य चातुर्य और छलकपट से उन्हें पराजित कर दिया। काबुल के ब्राह्मण राजा लल्ल ने पराजित होने के पश्चात् भाग कर, उद्भाण्डपुर में अपनी नवीन राजधानी स्थापित की। जाबुल में याकूब ने चतुराई से काम चलाया। उसने वहाँ के राजा रुसाल के पास सन्देश भिजवाया कि वह उसके समक्ष आत्म-समर्पण करना चाहता है। उसकी यह प्रार्थना स्वीकार की गयी। कवचों के ऊपर सादे वस्त्र पहन कर तथा घोड़ों के पेट के नीचे भाले बाँध कर याकूब रुसाल के पास पहुँचा और अत्यंत विनम्रता पूर्वक सिर झुकाया। अवसर पाते ही उसने रुसाल की पीठ में भाला घुसेड़ दिया। राजा का सिर काट कर

उसने भाले की नोंक पर उठा लिया। याकूब के सैनिकों ने मार-काट मचा दी। जावुल का हिन्दू राज्य भी समाप्त हुआ।

नौवीं शताब्दी के अन्त में अरब-साम्राज्य में ट्रानजोक्सियाना का समानी वंश प्रभावशाली हुआ। बगदाद की खलीफाओं की नाम-मात्र की अधीनता स्वीकार करते हुए इस वंश ने एक बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें खुरासान और बुखारा भी सम्मिलित थे। इन समानी सम्राटों द्वारा एक तुर्क अलप्तगीन को महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया गया। अलप्तगीन ने बुखारा के बाजार में एक किशोर गुलाम खरीदा जिसका नाम सुबुक्तगीन रखा गया। समानी साम्राज्य तुर्क पदाधिकारियों के उपद्रव के कारण ध्वस्त हो रहा था। अलप्तगीन ने भी कुछ तुर्क सैनिकों के साथ सन् ९६२ ई० में गजनी को राजधानी बनाकर अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उसके साथ उसका गुलाम सुबुक्तगीन भी गजनी आया।

अलप्तगीन सन् ९३३ ई० में मर गया। उसके बाद उसका पुत्र इश्शाक गजनी का सुल्तान बना। वह भी ९६६ ई० में मर गया। तुर्की सेना के सेनापति बलकातिगीन ने गजनी के राज्य पर अधिकार कर लिया। स १ ९७२ ई० में बलकातिगीन भी मर गया और उसके स्थान पर अलप्तगीन के एक गुलाम पिराई ने गजनी का राज्य सँभाला। सुबुक्तगीन ने अलप्तगीन की पुत्री के साथ विवाह कर लिया था। पिराई के समय में पंजाब के हिन्दूशाही राजवंश के साथ तुर्कों की फिर झड़प हुई। हिन्दूशाही राजा जयपाल गजनी की ओर अपनी सेनाएँ ले गया, परन्तु उसे सेनापति सुबुक्तगीन से पराजित होना पड़ा। बारह हजार हिन्दुओं को इस्लाम ग्रहण कराया गया। अपनी इस विजय के परिणामस्वरूप पिराई के स्थान पर सन् ९७७ ई० में सुबुक्तगीन गजनी का सुल्तान बना। सन् ९९७ में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी। सुबुक्तगीन ने अपने एक पुत्र इस्माईल को उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। इस्माईल ने राज्य संभाला परन्तु उसके भाई महमूद ने उसे पराजित कर बन्दीगृह में डाल दिया तथा सन् ९९८ ई० में स्वयं गजनी का सुल्तान बन गया। बगदाद के खलीफा अल्-कादिर बिल्लाह ने महमूद को मान्यता दी और उसे यमीन-उद्-दौला तथा यमीन-उल-मिल्लाह के विरुद प्रदान किये। खलीफा द्वारा मान्यता-पत्र प्राप्त होते ही महमूद ने प्रतिज्ञा की: 'मैं प्रतिवर्ष भारत के काफिरों पर आक्रमण करूँगा।"

महमूद के इतिहासकार अल्-उत्बी के अनुसार "सुल्तान महमूद ने पहले सीजिस्तान पर आक्रमण करने का संकल्प किया; किन्तु, बाद में उसने हिन्द के विरुद्ध जिहाद (धर्मयुद्ध) करना ही अधिक अच्छा समझा। सुल्तान ने अपने मंत्रियों की सभा बुलाई और उनसे कहा, "मुझे आशीर्वाद दो जिससे मैं धर्म का झण्डा ऊँचा करने, सदाचार का क्षेत्र विस्तृत करने, सत्य को प्रकाशित करने और न्याय की जड़ों को दृढ़ करने की अपनी इस योजना में सफलता प्राप्त कर सकूँ।"

तुर्कों ने अभी थोड़े समय पूर्व ही इस्लाम ग्रहण किया था। इसके पूर्व संभवतः उनका कोई धर्म ही नही था, परन्तु वे निर्भीक, उत्साही और अदम्य शौर्य से युक्त थे।

जिस प्रदेश के वे निवासी थे वह उन्हें भरपेट भोजन भी नहीं दे सका था। पहले तो वे अरबों के खीमें में घुसे और ऊँट के समान अपनी गरदन प्रवेश करने के पश्चात् उनका तम्बू उलट दिया। अब वे भारत की ओर अपनी दष्टि फेर रहे थे। महमूद के साथ याकूब और अलप्तगीन जैसे सहस्रावधि तुर्क थे और उनके सामने थे कांगड़ा, पृथूदक, थानेश्वर, मथुरा, सोमनाथ जैसे तीर्थों पर स्थित हजारों मन्दिर, जिनमें अपार धनराशि एकत्रित थी। उन साहसी सैनिकों को धन भी अभीष्ट था, सुन्दरियों की भी इच्छा थी और उनके नायक को गजनी की रूप-सज्जा के लिए गुलामों तथा कारीगरों की भी आवश्यकता थी। यह कहना व्यर्थ है कि महमूद धर्म-प्रचार के उद्देश्य से भारत की ओर आकर्षित हुआ था। सीस्तान की समस्त सम्पदा के बराबर भारत के एक-एक मन्दिर और राजमहल में रत्नराशि बिखरी हुई थी, यह उसे अरबों के इतिहास ने बतला दिया था; भारत के रखवाले किस प्रकार लड़ते थे यह भी उसे ज्ञात हो चुका था। मूर्ति-भंजन का कार्य और कुफ़ के दमन के नारे केवल उन बर्बर सैनिकों को एक-सूत्र में बाँधने के मंत्र थे जिनके सहारे उसे विजय प्राप्त करना थी। ये कोरे नारे उन्हें साहसिक कर्मों के लिए प्रेरित न कर पाते, यदि प्रत्येक आक्रमण में महमूद के सैनिकों को अपार लूट का धन तथा दास-दासियाँ प्राप्त न होतीं।

अति प्राचीन संस्कृति की गरिमा से मण्डित भारत के प्रांगण में उस समय क्या हो रहा था यह देखना उपयोगी होगा, क्योंकि उन्हीं के बीच इस इतिहास के विवेच्य 'दिल्ली के राजा' अपने अस्तित्व को धारण किये हुए थे। हिमालय से विन्ध्य तक आर्यावर्त को सच्चा आर्यावर्त बनाने का दुन्दुभिघोष करने वाले चन्द्रवंशी, सूर्यवंशी और अग्निवंशी आदि राष्ट्र-रक्षकों के बीच तोमरों की स्थिति क्या थी, यह देखना है।

भारत के समकालीन राज्य

उत्तर भारत में अब साम्राज्यों का युग समाप्त हो रहा था और अनेक, लगभग अगणित, राज्यों का उदय हो रहा था। प्रतीहारों के सामन्त उनकी सार्वभौम सत्ता को अस्वीकार कर स्वतंत्र राजा बनते जा रहे थे। चौहान विग्रहराज द्वितीय शाकंभरी में स्वतंत्र राजा बन गये। चन्देलों ने मध्यप्रदेश के बहुत बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। गोपाचल के आसपास कच्छपघातों ने अपने राज्य को सुदृढ़ किया। राष्ट्रकूटों की सहायता से मालवा में परमारों की स्थिति सुदृढ़ हो चली थी। सन् ९५० ई० के आस-पास परमार वैरिसिंह द्वितीय ने राष्ट्रकूटों की सहायता से धार में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और उसके पुत्र सीयक द्वितीय ने राष्ट्रकूटों की आधीनता से भी मुक्ति प्राप्त कर ली। सीयक द्वितीय के पश्चात् सन् ९७४ में वाक्पति मुंज धाराधीश हुए। इनके समय में परमारों का राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। मुंज के पुत्र अरण्यराज ने आबू के पास चन्द्रावती को राजधानी बनाकर आबू के परमार-राज्य की स्थापना की। एक परमार राजकुमार ने वागड़ प्रदेश (वर्तमान बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर) में उत्थूणक नगर में राजधानी स्थापित कर नये राज्य की स्थापना की। वाक्पति मुंज के एक राजकुमार चन्दन ने जाबालिपुर (जालौर) मे राज्य स्थापित किया। एक परमार-राज्य

भिन्नमाल में भी स्थापित हो गया। इस प्रकार प्रतीहार साम्राज्य का इस ओर का बहुत बड़ा अंश परमारों के अधीन हो गया।

सौराष्ट्र में चौलुक्यों ने प्रतीहारों की आधीनता छोड़कर स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और वे समस्त गुजरात में फैल गये। इन्हीं चौलुक्यों ने ग्यारहवीं शताब्दी में आबू और भिन्नमाल के परमार राज्यों को समाप्त कर उनके प्रदेशों को चौलुक्य राज्य में मिला लिया।

परमारो और चन्देलों के राज्यों की दक्षिण-पूर्व की ओर डाहल के कलचुरियों का राज्य था जिनकी राजधानी त्रिपुरी थी। परन्तु शतद्रु, यमुना और चम्बल के क्षेत्र के तोमरों के इस काल के इतिहास में नर्मदा के दक्षिण के राज्यों का अधिक सम्बन्ध नहीं आता।

तोमरों के राज्य के पश्चिम में अभी कन्नौज पर प्रतीहारों का राज्य अस्तित्व में था। कन्नौज अब किसी बड़े साम्राज्य का केन्द्र नहीं रह गया था, तथापि विगत शताब्दियों में स्थापित उसका महत्त्व समाप्त नहीं हुआ था और आगे पूर्वी-भारत में पाल राज्य कर रहे थे, परन्तु उनके साम्राज्य के दिन भी समाप्त हो गये थे।

दिल्ली के राज्य के उत्तर और उत्तर-पश्चिम में कुछ छोटे-छोटे राज्यों के आगे हिन्दू-शाही का विशाल राज्य था जो काबुल तक फैला हुआ था। सिन्धु नद के किनारे पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में मुल्तान तथा मन्सूरा के मुस्लिम राज्य थे।

तोमर साम्राज्य का पुनर्गठन

गजनी के तुर्क सुल्तान पिराई के समय में भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश के हिन्दू-शाही के राजा जयपाल ने अपने पड़ौस में ही तुर्कों के राज्य की स्थापना से चिन्तित होकर उसे अपदस्थ करने का प्रयास किया था। सन् ९७७ ई० के आस-पास पिराई के सेनापति सुबुक्तगीन और जयपाल के बीच युद्ध हुआ था, परन्तु जयपाल सफल न हो सका तथा पराजित हुआ। भारत के सिंहद्वार के रक्षक इस राजा की पहली पराजय ने ही दिल्ली के तोमरों को सजग किया।

इधर चम्बल-क्षेत्र के तोमर-गढ़ों पर से प्रतीहारों का प्रभाव पूर्णतः नष्ट हो गया था। तोमरों ने अपने साम्राज्य को सुसंगठित किया और संभावित तुर्क आक्रमण का सामना करने की तैयारी की। पहले हम यह विवेचन कर चुके हैं कि सन् ९७५ ई० के आस-पास चम्बल-क्षेत्र के तोमर सामंत विट्ठलदेव ने उस इलाके की पुनर्व्यवस्था की और ऐसाह के गढ़ को सुगठित किया।[1] उनका सबसे छोटा भाई हम्मीरदेव अनंगपुर चला गया। अनगपुर के राजा ने उसे तँवरावती का सामन्त बना दिया। इस प्रकार इस ओर से तोमर-साम्राज्य पूर्णतः सुरक्षित हो गया। चन्देलों और परमारों के बढ़ते हुए प्रभाव से उसे कोई भय न रहा।

तुर्कों और तोमरों के बीच हिन्दूशाही दीवाल बने हुए थे। जब तक उस दीवाल में दरार न आती, तोमर सुरक्षित थे, परन्तु वह दरार शीघ्र आगयी।

---

१. परिच्छेद १५ देखें।

जयपाल और सुबुक्तगीन के संघर्षों में तोमर

सन् ९७७ में सुबुक्तगीन गजनी के तख्त पर बैठा। उस समय तुर्कों के राज्य की सीमा गजनी के आस-पास का इलाका मात्र थी। सुबुक्तगीन ने उत्तर में अक्षु (ऑक्सस) नदी तक अपना राज्य बढ़ाया और पश्चिम में वह ईरान की सीमा तक पहुँच गया। पूर्व में उसने बामियान तक अपना राज्य बढ़ा लिया और हिन्दूशाही जयपाल के सीमा-वर्ती गढ़ों पर आक्रमण प्रारंभ किया। सन् ९८६ ई० में जयपाल ने विशाल सेना लेकर गजनी पर आक्रमण किया। प्रारंभ में ऐसा ज्ञात होने लगा कि सुबुक्तगीन पराजित हो जाएगा, परन्तु उसी समय एक दैवी विपत्ति आई और एक भीषण झंझावात के कारण जयपाल की सेना अस्त-व्यस्त हो गयी। जयपाल को संधि करनी पड़ी। जयपाल बहुत-सा धन, ५० हाथी तथा अपने राज्य के कुछ प्रदेश देने का वचन देकर अपनी राजधानी को लौट आया। परन्तु जयपाल ने इस सन्धि के पालन में सुबुक्तगीन को कुछ न भेजा और सन्धि की शर्तें मानने से भी मना कर दिया। सुबुक्तगीन ने जयपाल के राज्य पर आक्रमण किया। जयपाल की पश्चिमी सीमा में स्थित नगर लमगान को सुबुक्तगीन ने लूट लिया।

प्रथम राजपूत-संघ

हिन्दूशाही जयपाल इससे बहुत अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने पूरी तैयारी के साथ गजनी-विजय का निश्चय किया। फरिश्ता के अनुसार[1] जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालिंजर तथा अन्य पड़ौसी राजाओं के पास रण-निमन्त्रण भेजे और भारत के इस संकट को समाप्त करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया। इन सभी देशों के राजाओं ने अपनी सेनाएँ भेजीं और गजनी पर आक्रमण करने के लिए यह विशाल वाहिनी सिन्धु पार कर आगे बढ़ी।

सुबुक्तगीन भी विशाल सेना लेकर गजनी से आगे बढ़ा और लमगान के पहाड़ी क्षेत्र में तुर्कों और राजपूतों की सेनाओं का सामना हुआ।

इस युद्ध का कोई विवरण राजपूतों के तत्कालीन अभिलेखों या रचनाओं में प्राप्त नहीं होता। अल्-उत्वी सुबुक्तगीन और महमूद का समकालीन इतिहास लेखक है। उसने तारीखे-यामिनी में सुल्तान सुबुक्तगीन की वीरगाथा का वर्णन किया है[2]—

"जब जयपाल ने यह देखा कि सन्धि की शर्तों का पालन न करने से उसकी क्या दशा हो गयी है, उसके (लमगान के) सामन्त गिद्धों और सियारों के भोजन बन गये, उसकी शक्ति क्षीण हो गयी, तब वह बहुत उत्तेजित हो गया, तथा यह निश्चय न कर सका कि वह लौटे या आगे बढ़े। अन्त में उसने एक बार फिर युद्ध करने और प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। उसने चिन्तन किया, संकल्प किया, आदेश दिया तथा एक लाख से अधिक सेना एकत्रित की।

---

१. तारीखे फरिश्ता : ब्रिग्स, भाग १, पृ० ७।

२. ईलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २३।

"जब अमीर सुबुक्तगीन को इस समाचार की सूचना मिली, वह उससे पुनः लड़ने के लिए आगे बढ़ा, और एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़ गया जहाँ से वह विधर्मियों (हिन्दुओं) की समस्त सेना को देख सके, जो बिखरी हुई चींटियों तथा टिड्डियों के समान दिखाई दे रही थी, और उसे ऐसी इच्छा हुई कि वह भेड़िये के समान इन भेड़ों के झुण्डों पर टूट पड़े। उसने मुसलमानों को प्रेरणा दी कि वे इन सुन्नतविहीन विधर्मियों पर टूट पड़ें और उन्होंने उसके आदेश का पालन किया। उसने गुर्जों से सज्जित पाँच-पाँच सौ सैनिकों की टुकड़ियों से आक्रमण कराना प्रारंभ किया, और आदेश दिया कि जब एक टुकड़ी थक जाए तब दूसरी उसकी बदली करदे, जिससे सदा ताजे सैनिक और घोड़े युद्ध में रहें, जब तक कि अभिशप्त शत्रु उस ताप में दग्ध न होने लगे जो उस लौह-भट्टी से उत्पन्न हो। इन टुकड़ियों ने फिर इस उद्देश्य से संयुक्त आक्रमण किया कि वे अपने बहुसंख्यक प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त करदें। सैनिक और सेना-नायकों में द्वन्द्व युद्ध होने लगा और तलवार के अतिरिक्त अन्य सभी हथियार बेकार हो गये। धूल का ऐसा अंबार उठा कि आँखों से दिखाई देना बन्द हो गया, तलवार को भाले से, हाथियों को घोड़े से और वीर को कायर से विभेदित करना कठिन हो गया।

"जब गर्द-गुबार शान्त हुआ तभी यह ज्ञात हो सका कि अपवित्र विधर्मी पराजित हो गये हैं और अपनी सम्पत्ति, बर्तन-भांडे, हथियार, खाद्य सामग्री, हाथी और घोड़े छोड़ कर भाग गये हैं। विधर्मियों के शवों से जंगल भर गये, उनमें से कुछ तलवार से घायल थे और कुछ भयभीत होकर ही मर गये थे।

"ईश्वर ने (उन मुसलमानों को जो) भूतकाल में हुए थे यह आदेश दिया है कि विधर्मियों को मार डाला जाए, और उस उपदेश को कार्यान्वित करने का ईश्वर का यह आदेश (हे सुबुक्तगीन) तेरे लिए बदला नहीं है।

"हिन्दुओं ने भयभीत कुत्तों के समान अपनी पूछें सिर की ओर दबालीं, और राजा ने अपने सुदूर (सीमान्त) प्रदेश की श्रेष्ठतम वस्तुएँ विजेता को इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि उनकी चोटियाँ न मूँडी जाएँ। इस प्रकार उस स्थल के आसपास का प्रदेश अमीर सुबुक्तगीन के सामने अनवरुद्ध और बाधाहीन हो गया, उसने उसमें प्राप्त समस्त धन-सम्पदा को हस्तगत कर लिया। उसने कर वसूल किया और दो सौ रण-कुशल हाथियों के साथ अत्यधिक लूट का माल प्राप्त किया।"

महमूद के गजनी के दरबार के एक अनमोल रत्न 'अबू नस्र मुहम्मद-इब्न-मुहम्मद-अल् जब्बारुल उत्बी' के इस विवरण को बड़े साहस के साथ पढ़ना होगा। जिनके पुरखे एक हजार वर्ष पूर्व पराजित हुए थे, उनके वंशजों को विजेताओं के इतिहास-लेखक की गालियों को बिना क्रोध के वशीभूत हुए पढ़ने का अभ्यास डालना होगा, क्योंकि तत्कालीन और परवर्ती भारतीय बुद्धिजीवी स्मृतियों के भाष्य, रस और अलंकारों के विवेचन, विविध पुराण और कोश तो लिखते रहे, उन्होंने 'इतिहास' लिखना पसन्द न किया, अतएव इन एकपक्षीय इतिहासों का ही सहारा लेना अनिवार्य है।

कुछ इतिहासकारों का अभिमत है कि फरिश्ता का यह कथन कि जयपाल की

सहायता के लिए अन्य हिन्दू राज्यों से सेनाएँ आई थीं, अन्य स्रोतों से असमर्थित है। उनके अनुसार उत्वी ने इस संघ का उल्लेख नहीं किया अतएव फरिश्ता का कथन संदिग्ध है।[1]

हमारे विनम्र मत में उत्वी फरिश्ता का पूर्ण समर्थन करता है। अन्तर यही है कि उत्वी ने कुछ मास की घटनाओं को दो पंक्तियों में निवटा दिया है, अन्यथा 'उत्तेजित' होने से एक लाख से अधिक सेना एकत्रित करने तक के विवरण में 'संकल्प', 'आदेश' आदि में वही भाव है जो फरिश्ता ने व्यक्त किया है। एक लाख से अधिक, चीटियों और टिड्डियों के समान फैली हुई सेनाएँ, अकेले जयपाल की नहीं थीं। वे दस-बीस राजाओं की सेनाएँ थीं जो अलग-अलग डेरे डाले हुई थीं। परम धर्मपरायण उत्वी से विधर्मी काफिरों की हलचलों का इससे अधिक वर्णन करने की अपेक्षा करना अनुचित है। उसने हिन्दुओं की पराजय का कारण परोक्ष रूप से स्पष्ट कर दिया है। हिन्दुओं की सेना संख्या में अधिक थी, परन्तु उनका नेतृत्व एक सेनापति के हाथ में नहीं था। अपने-अपने शिविरों में तोमर, चौहान, चन्देले, प्रतीहार अपने-अपने वंशों का बखान सुनते हुए मूछों पर ताव दे रहे थे, परन्तु संभवतः यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि किसका कुल सबसे ऊंचा है जो समस्त सेना का नेतृत्व करे। किसी को वे सार्वभौम तो मानते नहीं थे जो उसके आदेश से आगे बढ़ते। संभव है, पुरोहित और भाट वंशोत्पत्ति, विरुदावलियों और कुल-गौरव की विगतों के प्रश्न पर आपस में झगड़ भी पड़े हों।

अचानक शत्रु आ धमका। उसने पहाड़ पर से ये दूर-दूर बिखरे शिविर देखे और प्रत्येक के मुकावले के लिए पाँच-पाँच सौ घुड़सवारों की टुकड़ियाँ दौड़ा दीं और दौड़ाता ही रहा। जब तक राजपूत इकट्ठे हो पाएँ तब तक विलम्ब हो चुका था, पराजय अवश्यंभावी थी, क्योंकि अलग-अलग ही विभिन्न शिविरों की पिटाई हो चुकी थी। संभवतः रणगजों पर हौदे न कसे जा सके और घोड़ों पर जीनें न कसी जा सकीं। क्या कारण है कि असंख्य हाथी-घोड़े विना सवारों की लाशों के मिल गये? क्षत्रिय इतना कायर कभी नहीं रहा कि उसके समस्त सैनिक और सेनानायक हाथी-घोड़ों पर से उतर-उतर कर पैदल भागने लगते।

संभव है हमारे उत्वी-भाष्य में कोई भूल हो, अतएव जैन दर्शन के स्याद्वाद का अनुकरण कर केवल परिणाम के उल्लेख से ही संतोष किये लेते हैं। राजपूत-संघ पराजित हुआ और जयपाल के लमगान और पेशावर के प्रदेश सुबुक्तगीन को मिल गये।

यह प्रथम राजपूत-संघ बना था, यह उत्वी और फरिश्ता के कथन से निश्चित रूप से माना जा सकता है, परन्तु फिर भी एक समस्या रहती है। चौहानों के एक विद्वान इतिहासकार ने अभिमत व्यक्त किया है कि जब ९९७ ई० में अजमेर बसा ही नहीं था, तब फरिश्ता ने यह कैसे लिख दिया कि उस संघ में 'अजमेर का राय' भी था।[2] एक

१. डॉ० डी० सी० गांगुलि, द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० ४।
२. डॉ० शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ३२।

अन्य स्थल पर उक्त विद्वान ने फरिश्ता को 'अजमेर' के उल्लेख के लिए यह कह कर क्षमा कर दिया है, "निश्चय ही अजमेर के स्थान पर 'शाकंभरी' मानना चाहिए क्योंकि उस समय अजमेर का अस्तित्व ही नहीं था[1]"। नामों की यह अदला-बदली दो पृष्ठ पहले भी हो सकती थी। परन्तु अजमेर तो जयपाल चक्री के समय में ही बस गया था, ऐसा हम्मीरमहाकाव्य कहता है। तारागढ़ तो उससे भी कुछ पहले तोमर बसा चुके थे।

अजमेर-पुराण से हमारा यहाँ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इस प्रथम संघ के कारण राजपूतों के इतिहास का तथा राजपूत-चरित्र का अत्यन्त तेजस्वी अंश प्रत्यक्ष होता है। राष्ट्र की रक्षा का ध्यान उन्हें उस समय तक था। साथ ही उनका अनुचित कुलदम्भ, प्रमाद और मिथ्या आत्म-विश्वास का अशिव अंश भी प्रत्यक्ष होना है।

सुलक्षणपाल तोमर

हमारा मन्तव्य इस संघ के निर्माण के समय उत्तर भारत के समकालीन राजपूत राज्यों के राजाओं से परिचय प्राप्त करना है। यह युद्ध संभवतः सन् ९९८ ई० में हुआ था। उस समय, वंशावलियों के अनुसार, दिल्ली का तोमर राजा सुलक्षणपालदेव था। इस समय चाहमानों के राजा संभवतः दुर्लभराज द्वितीय थे, जिन्हें महाराजाधिराज कहा गया है।[2] इस विरुद के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि इस समय तक चौहानों ने प्रतीहारों की आधीनता पूर्णतः त्याग दी थी।

इस संघ में कालिंजर से तो निश्चित ही धंग चंदेल ने सेना भेजी होगी, क्योंकि सन् १००२ ई० तक वह राज्य कर रहा था। इसके पश्चात् ही उसका पुत्र गण्ड कालिंजराधिपति हुआ था।

सन् ९९७-८ ई० में तोमर राजा सुलक्षणपालदेव, चाहमान दुर्लभराज द्वितीय तथा धंग स्वतंत्र राजा थे। सुलक्षणपालदेव की मुद्राएँ उनके स्वतंत्र राजा होने की पुष्टि करती हैं और चम्बल से सरस्वती तथा यमुना से शतद्रु तक फैली उनकी राज्य-सीमा उन्हें सम्राट् कहलाने का भी अधिकारी बनाती है।

जयपाल हिन्दूशाही का दुखद अन्त

सुलक्षणपालदेव तोमर के राज्यकाल में ही भारत के उत्तर-पश्चिमी सिंहद्वार पर राजपूत-इतिहास की एक गौरवशाली तथापि अत्यन्त कारुणिक घटना हुई थी।

सन् ९९८ ई० में अपने भाई को बन्दी बनाकर महमूद गजनी का सुलतान बना। सुबुक्तगीन के जीवनकाल में ही अपने पिता के सेनापति के रूप में महमूद ने अनेक युद्ध लड़े थे और जब जयपाल ने पहला आक्रमण किया था तब उसने सन्धि करने का घोर विरोध किया था। सुलतान बनने के पश्चात् ही महमूद ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह प्रत्येक वर्ष भारत पर आक्रमण करेगा। अपनी इस प्रतिज्ञा का वह अक्षरशः पालन न कर सका

१. डॉ० शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ३४।

२. एपी० इण्डि०, भाग १२, पृष्ठ ५९।

परन्तु उसने कम से कम १७ बार भारत के विभिन्न भागों पर आक्रमण अवश्य किये थे।

यह स्वाभाविक था कि महमूद का पहला आक्रमण हिन्दूशाही जयपाल के विरुद्ध हुआ। सितम्बर १००१ ई० में घुड़सवारों की सेना लेकर वह पेशावर की ओर चला। महमूद ने पेशावर के गढ़ के पास डेरा डाला है, यह समाचार सुनकर जयपाल भी १२,००० अश्वारोही ३०,००० पदाति और ३०० रण-गज लेकर महमूद के आक्रमण का सामना करने के लिए पेशावर की ओर बढ़ा। जयपाल कुछ समय के लिए युद्ध टालना चाहता था क्योंकि उसे यह आशा थी कि कुछ और सेना इकट्ठी हो सकेगी। परन्तु महमूद ने उसे अवसर न दिया और तुरन्त ही आक्रमण कर दिया। जयपाल पराजित हुआ और महमूद के हाथ बहुत अधिक लूट का माल आया। जयपाल के हाथ से पेशावर के आसपास का प्रदेश भी निकल गया। जयपाल को बन्दी बना लिया गया और मीरन्द के किले में बन्द कर दिया गया। महमूद फिर हिन्दूशाही राज्य की राजधानी उद्भाण्ड की ओर बढ़ा। वहाँ के निवासी आसपास की पहाड़ियों और जंगलों में भाग गये। वे प्रतिरोध का आयोजन कर ही रहे थे कि इसी बीच महमूद ने उनको खदेड़ने के लिए सेना भेज दी। इस सेना ने उन नागरिकों का विनाश किया और उन्हें भगा दिया।

महमूद ने जयपाल को इस शर्त पर छोड़ दिया कि वह ढाई लाख दीनार तथा २५ हाथी दण्ड के रूप में दे। इस वचन की पूर्ति कराने के उद्देश्य से महमूद ने जयपाल के कुछ राजकुमारों को अपने पास रख लिया। यद्यपि जयपाल के युवराज आनन्दपाल ने फिरौती का धन और हाथी भेज दिये तथा राजकुमारों को मुक्त करा लिया, तथापि जयपाल पराजय के अपमान को सह न सका और जीवित ही चिता की ज्वाला में कूद कर उसने अपने प्राण दे दिये।

आनन्दपाल इस समय सिन्ध के पूर्व की ओर किसी स्थान पर, संभवतः अन्य भारतीय राजाओं से सहायता प्राप्त करने की आशा में पड़ा था। परन्तु वह आशा पूरी न हुई और हिन्दूशाही का 'जयपाल' समाप्त हो गया। उत्तर-पश्चिमी भारत के राजाओं ने अपनी इस निष्क्रियता से भारत के सिंहद्वार का सुदृढ़ फाटक निर्बल बना दिया। महमूद की विधर्मियों को प्रतिवर्ष प्रताड़ित करने की धार्मिक प्रतिज्ञा के साथ अर्थलाभ का प्रलोभन भी जुड़ गया। पराजित और बन्दी होने के पश्चात् महमूद ने जयपाल के गले में से जो कंठा छीना था उसका मूल्य ही, उत्वी के अनुसार, ढाई लाख दीनार था। इससे दूने मूल्य के कंठे राजपरिवार के अन्य सदस्यों से छीने गए। हिन्दूशाही के अन्य सामंत और सैनिकों के पास से भी ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ महमूद के सैनिकों को मिली होंगी। महमूद और उसके तुर्क सैनिकों को ये धर्म-युद्ध अत्यन्त लाभकारी ज्ञात होने लगे। कोई आश्चर्य नहीं है कि इस प्रलोभन से आकर्षित होकर असंख्य सैनिक महमूद की सेना में सम्मिलित हो गए।

वंशावलियों के अनुसार सुलक्षणपालदेव तोमर का देहान्त सन् १००५ ई० में हो गया।

परिच्छेद २२

तुर्क-संघर्ष का द्वितीय चरण

जयपालदेव (१००५–१०२१ ई०)

सुलक्षणपालदेव के पश्चात् वंशावलियों के अनुसार, जयपालदेव तोमर सिंहासन पर बैठा।[1] यह विचित्र संयोग है कि जयपाल तोमर द्वारा सन् १००५ में राज्य ग्रहण करने के ४ वर्ष पूर्व इसी नाम का हिन्दूशाही राजा महमूद से पराजित होने के अनुताप से विदग्ध होकर जीवित ही जल मरा था और फिर इसी नाम को ग्रहण करने वाला तोमर राजा कुरुक्षेत्र का अधिपति बना। जयपाल तोमर को भी लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ भुगतनी पड़ीं जैसी हिन्दूशाही जयपाल को भुगतनी पड़ी थीं। तोमर जयपाल की मृत्यु किस प्रकार और किन परिस्थितियों में हुई थी इस विषय में महमूद के इतिहासकार भी मौन हैं और अनुश्रुतियाँ भी कुछ नहीं बतलातीं। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि महमूद के आक्रमणों का अवरोध करने वाली भारत की प्रथम रक्षा-पंक्ति, उद्‌भाण्ड की हिन्दूशाही, जयपाल तोमर के समय में ही पूर्णतः ध्वस्त हो गई थी और तुर्क लुटेरों के महानाद को समस्त उत्तर भारत को आप्लावित करने से रोकने का दुस्तर भार अब कुरुक्षेत्र के तोमरों के कंधों पर आ पड़ा था।

महमूद के आक्रमण

सन् १००४ में महमूद ने सिन्धु नदी के किनारे स्थित भाटिया नामक स्थान के राजा बाजीराय को पराजित किया। पराजित हो जाने के पश्चात् बाजीराय ने अपनी छाती में कटार मारकर प्राण दे दिए। सन् १००५ में महमूद ने मुल्तान के मुसलमान राजा दाऊद को पराजित किया। दाऊद यद्यपि मुसलमान था परन्तु वह इस्माइलिया सम्प्रदाय का अनुयायी था जिससे महमूद को घृणा थी। महमूद ने मुल्तान के नागरिकों से दो करोड़ दिरहम दण्ड स्वरूप वसूल किये। बीस हजार सोने की दीनारें प्रतिवर्ष कर-स्वरूप देने की शर्त पर महमूद ने दाऊद को मुल्तान का राजा बना रहने दिया। इसी बीच महमूद को यह समाचार मिला कि गजनी के राज्य के उत्तर के प्रदेश पर गुज तुर्कों ने आक्रमण किया है। नवासाशाह नामक व्यक्ति को भारत के नवविजित प्रदेशों का सामन्त बनाकर महमूद उस आक्रमण को विफल करने के लिए चला गया। यह नवासाशाह हिन्दूशाही जयपाल का पौत्र था और इस्लाम ग्रहण करने के

---

१. सर हेग ने इस राजा का नाम 'विजयपाल' लिखा है। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १९।) परन्तु उक्त विद्वान ने इस नामकरण का कोई आधार नहीं दिया है, अतएव हम उसे ग्रहण नहीं कर सके।

पश्चात् उसका यह नाम रख दिया गया था। जैसे ही महमूद ने पीठ फेरी नवासाशाह फिर हिन्दू हो गया। उसने समस्त तुर्क अधिकारियों को मार भगाया। सन् १००७ में महमूद फिर लौटा। नवासाशाह पहाड़ों में भाग गया, परन्तु पकड़ लिया गया। उसकी समस्त धन-सम्पत्ति छीन ली गयी।

द्वितीय राजपूत संघ

हिन्दूशाही जयपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका राजकुमार आनन्दपाल राजा बना। वह अपने पिता के खोये हुए साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयास कर रहा था। जब महमूद ने मुल्तान के राजा दाऊद पर आक्रमण किया था तब आनन्दपाल ने दाऊद की सहायता के लिए सेना भेजी थी। नवासाशाह को पुनः हिन्दू बना लेने में भी संभवतः, आनन्दपाल की प्रेरणा ही प्रमुख थी। आनन्दपाल को यह विश्वास था कि महमूद निश्चय ही शीघ्र ही उस पर आक्रमण करेगा। उसने देश के अनेक हिन्दू राजाओं को रण-निमन्त्रण भेजा। उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली, और अजमेर के राजा आनन्दपाल की सहायता के लिए सेनाओं सहित पहुँचे। पंजाब के गक्खर वीर भी बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित हुए। देश के विभिन्न भागों की महिलाओं ने अपने रत्नाभूषण बेचकर इस युद्ध के व्यय के लिए धन एकत्रित किया। निश्चय ही राजपूतों का यह दूसरा संघ हिन्दूशाही जयपाल के समय में ३० वर्ष पूर्व बने संघ से बहुत अधिक सुदृढ़ और शक्तिशाली था। पहले संघ की अपेक्षा यह संगठित भी अधिक था।

आनन्दपाल के राजकुमार ब्रह्मपाल के सेनापतित्व में यह विशाल वाहिनी महमूद से युद्ध करने के लिए आगे बढ़ी। केशरिया बाना पहने श्वेत तलवारें और नीले भालों से सज्जित यह वीरवाहिनी अनेक रणगजों सहित आगे बढ़ी और उद्भाण्ड के निकट एक नदी के किनारे जा जमी। महमूद और राजपूतों की यह सेना ४० दिन तक आमने-सामने डटी रही। महमूद यह चाहता था कि राजपूतों की सेना पहले आक्रमण करे और राजपूत यह चाहते थे कि आक्रमण महमूद की ओर से हो। महमूद ने ही ६,००० धनुर्धारियों को आक्रमण करने का आदेश दिया। इनका सामना करने के लिये ३०,००० गक्खर आगे बढ़े। भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ और थोड़े से समय में ही गक्खरों ने ५,००० तुर्क काट डाले। ज्ञात होने लगा कि सुल्तान महमद की पराजय सुनिश्चित हो गई। परन्तु इसी बीच सुल्तान के अंगरक्षकों के एक विशाल दल ने राजपूतों की सेना के पीछे के भाग पर आक्रमण कर दिया। ज्ञात यह होता है कि पीछे के हिस्से के राजपूत युद्ध के परिणाम से आश्वस्त हो चुके थे और इस कारण सतर्क नहीं थे। इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार इसी बीच एक दुर्घटना और हुई। ज्वलनशील नफ्था का तीर लगने से आनन्दपाल का हाथी बहक गया और राजा को युद्ध-क्षेत्र से लेकर भागने लगा। राजपूतों की सेना ने इसे आनन्दपाल द्वारा पराजय स्वीकार करने का संकेत समझा और वे युद्ध-क्षेत्र से भागने लगे। तुर्क सेनानायकों ने राजपूत सैनिकों का पीछा किया और बीस हजार को मौत के घाट उतार दिया। सुल्तान महमूद ने हिन्दू सेना

का पीछा नगरकोट तक किया। यहाँ महमूद ने नगरकोट के गढ़ को घेर लिया। नगरकोट तीन दिन तक प्रतिरोध करता रहा और उसके पश्चात् गढ़पति ने किले के द्वार खोल दिये तथा आत्मसमर्पण कर दिया। नगरकोट प्राचीन तीर्थ था और अत्यन्त समृद्ध था। नगरकोट के खजाने में महमूद को ७ लाख दीनारें प्राप्त हुईं। इनके अतिरिक्त ७ हजार ४ सौ मन सोना और चांदी, के आभूषण और रत्न प्राप्त हुए। लूट के माल में ३० गज लम्बा और १५ गज चौड़ा चांदी का एक भवन भी था। एक अत्यन्त वहुमूल्य सिंहासन भी उसे प्राप्त हुआ था। इनके अतिरिक्त वहुमूल्य जरी के कपड़े और तम्बू महमूद के हाथ लगे। यद्यपि महमूद ने नगरकोट को अपने राज्य में नहीं मिलाया तथापि सिन्धु के पश्चिम का समस्त प्रदेश उसके राज्य का अंग बन गया। नगरकोट से प्राप्त अपार धनराशि का प्रदर्शन गजनी के राजमहल में किया गया।

राजपूतों का यह द्वितीय संघ भी पूर्णतः पराजित हुआ। भारत का सिंहद्वार अव गजनी के सुल्तान के कब्जे में पहुँच गया और उसके हाथ में इतनी अधिक धनराशि आ गई कि वह आगे के भारत-आक्रमणों के लिए अनायास ही वहुत वड़ी सेना सुसज्जित करने के लिए सक्षम हो गया।

इस संघ में जिन राजाओं ने अथवा उनकी सेनाओं ने भाग लिया था उनमें कुरुक्षेत्र का राजा भी था। तोमर वंशावलियों के अनुसार उसका नाम जयपाल था। परमारों के परम शक्तिशाली सम्राट् भोज उस समय उज्जयिनी के राजा थे। ग्वालियर पर त्रैलोक्यमल्ल विरुदधारी भुवनपाल मूलदेव कच्छपघात राज्य कर रहा था। कालिंजर पर गण्ड चन्देल का राज्य था। कन्नौज के प्रतीहार राजा थे राज्यपाल। चौहानों के राजा दुर्लंघ्यमेरु दुर्लभराज द्वितीय थे। नाम बहुत वड़े-वड़े हैं, यदि वास्तव में ये सब राजा या उनकी सेनाएँ उद्‌भाण्डपुर के पास एकत्रित हुई थीं, तव वह भारतीय सैन्य-वल की वहुत वड़ी राष्ट्रीय पराजय थी। निश्चय ही इनमें से एक-दो राजाओं का मनोवल वहुत अधिक क्षीण हो गया था और भारतीय सैनिकों और नागरिकों पर तुर्कों का आतंक भी अत्यधिक वढ़ गया होगा। अव सव राजवंशों को अपनी-अपनी राजधानियों की रक्षा की चिन्ता प्रमुख हो गयी।

ताराइन का प्रथम युद्ध

महमूद की दृष्टि अव अनंग प्रदेश के तोमर राजा जयपाल के विस्तृत और समृद्ध साम्राज्य की ओर गयी। संभवतः उसने यह विचार किया कि यदि एक ही हल्ले में अनंगपुर पर आक्रमण कर जयपाल तोमर को पराजित कर उसे वन्दी वना लिया जाए तव तोमर साम्राज्य ध्वस्त हो जाएगा और यमुना तक गजनवी-साम्राज्य फैल जाएगा तथा अनंगपुर, मथुरा, थानेश्वर तथा पृथूदक आदि अनेक तीर्थों में एकत्रित धनराशि भी हाथ आ जाएगी। सन् १००९ ई० में उसने दिल्ली की ओर कूच किया। जयपाल तोमर को जव इसकी सूचना मिली तव वह भी विशाल सेना लेकर महमूद का सामना करने के लिए ताराइन की ओर वढ़ा। उत्वी ने इस युद्ध का अत्यन्त अस्पष्ट और

रूढ़िवद्ध वर्णन किया है।[1] उत्वी के अनुसार "महमूद हिन्द तक पहुँच गया। वहाँ उसने ऐसे राजाओं को पराजित किया जिन्होंने उस समय तक किसी की आधीनता स्वीकार नहीं की थी, उनकी मूर्तियों को उलट दिया, उसने प्रदेश के गुण्डों को तलवार के घाट उतार दिया, तथा विलम्ब एवं बुद्धिमत्ता के साथ वह अपनी योजना की पूर्ति के लिए आगे वढ़ा। उसने विधर्मियों के राजाओं से युद्ध किया जिसमें अल्लाह ने उसे सम्पत्ति, घोड़ों और हाथियों के रूप में बहुत सी लूट प्राप्त कराई, और अल्लाह के बन्दों ने प्रत्येक पहाड़ी और घाटी में काटपीट मचादी, सुलतान समस्त लूट के धन के साथ गजनी लौट गया।"

यह वर्णन विश्वसनीय ज्ञात नहीं होता। हम समझते हैं कि ताराइन पर तोमर जयपाल और उसके सामन्तों ने महमूद का सामना किया। महमूद के अनंगप्रदेश की राजधानी की ओर बढ़ने के संकल्प को नष्ट करने में वे सफल हुए। महमूद को गजनी लौटना पड़ा।

उत्वी ने इस युद्ध का स्थल 'नाराइन' लिखा है। श्री कनिंघम ने इसे किसी 'नारायण-पुर' से अभिन्न माना है जो अलवर के पास है। महमूद के लिए अभी अलवर बहुत दूर था, बीच में अनेक बाधाएँ थीं। यह युद्ध-स्थल निश्चय ही वह ताराइन है जहाँ सन् ११९१ तथा ११९२ में आगे दो युद्ध हुए थे।[2] वैसे तो भारत के प्रत्येक नगर में मन्दिर होते हैं, परन्तु ताराइन प्रसिद्ध तीर्थस्थल नहीं था। महमूद तोमर-राजधानी पर आक्रमण करने के उद्देश्य से ही बढ़ रहा था। उस लक्ष्य की प्राप्ति में वह सफल न हो सका।

अगले वर्ष महमूद ने मुल्तान के इस्माइली सुलतान दाऊद को पराजित कर वन्दी बना लिया और उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया। हिन्दूशाही आनन्दपाल का मनोबल अब बिल्कुल टूट चुका था, उसे यह निश्चय हो गया था कि महमूद न उसे केवल पराजित कर देगा वरन् उसके राज्य को भी छीन लेगा। आनन्दपाल ने महमूद के साथ संधि कर ली और यह वचन दिया कि वह प्रति वर्ष बहुमूल्य सामग्री से लदे ५० बड़े हाथी भेजा करेगा। इनके साथ गजनी के दरबार में सेवा करने के लिए २००० हजार व्यक्ति भी भेजे जाया करेंगे। महमूद ने यह आश्वासन दिया कि भविष्य में वह हिन्दूशाही राज्य पर आक्रमण नहीं करेगा। इस प्रकार अब महमूद और उसके

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० ३६।

२. विद्वद्वर डॉ० रघुवीरसिंहजी का मत है कि तरावरी (जिसे पूर्वकालीन ताराइन माना जाता है) थानेश्वर के दक्षिण में १३ मील और करनाल से ९ मील उत्तर में है। सामरिक दृष्टि से 'नाराइन' की ताराइन की अभिन्नता ठीक नहीं जान पड़ती। 'नाराइन' अलवर के पास का नाराइनपुर न भी हो, परन्तु यह स्थान थानेश्वर आदि से कई मील पश्चिम में काफी दूर होना चाहिए। डॉ० रघुवीरसिंहजी का यह अभिमत गंभीरतापूर्वक गवेषणीय है। सर हेग ने इस स्थान को थानेश्वर के आगे करनाल से ७ मील उत्तर में माना है। (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १७।)

करद राजा आनन्दपाल की सीमा दिल्ली के तोमरों के साम्राज्य की सीमा से मिल गयी। यह स्वाभाविक था कि महमूद की गृद्ध-दृष्टि तोमरों के प्रदेश पर पड़ती। महमूद को समाचार मिला कि थानेश्वर-प्रदेश के राजा के पास बहुत बड़े-बड़े सिंहली हाथी हैं जो युद्ध के प्रयोजन के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। महमूद को थानेश्वर के प्राचीन मन्दिरों में अनेक पीढ़ियों से एकत्रित अपार धनराशि और सहस्रावधि मूर्तियों के अस्तित्व का समाचार भी मिला था।

थानेश्वर की लूट का संकल्प

फरिश्ता के अनुसार हिजरी सन् ४०२ (सन् १०११ ई०) में महमूद ने थानेश्वर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसे यह समाचार मिला था कि मूर्तिपूजक थानेश्वर को उतना ही पवित्र मानते हैं जितना मुसलमान मक्का को, वहाँ एक प्राचीन मन्दिर है जिसमें अनेक मूर्तियाँ हैं, प्रमुख मूर्ति जगसोम (जगस्वामी या चक्रस्वामी) कहलाती थी और उसके विषय में विश्वास यह किया जाता था कि वह संसार की सृष्टि के समय से ही अस्तित्व में थी। सन् १०११ ई० में महमूद पंजाब की ओर चला। थानेश्वर का मार्ग आनन्दपाल के राज्य की सीमा में होकर था। महमूद आनन्दपाल से हुई सन्धि का पूर्णतया पालन करना चाहता था, अथवा अपना थानेश्वर-अभियान निरापद बनाना चाहता था, अतएव उसने राजा के पास एक दूत भेजा जिसके हाथ यह सन्देश भिजवाया कि वह अपने कुछ अधिकारी सुल्तान की सेना के साथ चलने के लिए नियुक्त करदे जिससे कि उसके ग्राम और नगर नष्ट न हों। आनन्दपाल ने महमूद के स्वागत की तैयारी तो की परन्तु साथ ही उसने यह भी प्रयास किया कि थानेश्वर की लूट को किसी प्रकार रोका जाए। उसने अपने भाई को महमूद के पास इस संदेश के साथ भेजा कि सुल्तान थानेश्वर के मन्दिरों को नष्ट करने के अपने निश्चय का परित्याग कर दे और बदले में उचित वार्षिक कर नियत करदे। आनन्दपाल ने यह आश्वासन दिया कि वह न केवल इस वार्षिक कर को समय पर पहुँचते रहने की जमानत देगा वरन् अपनी ओर से ५० हाथी तथा बहुत से रत्न भेंट करेगा।

हमारा अनुमान है कि यदि फरिश्ता का यह कथन सही है तब यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि उद्भाण्ड के निर्णायक युद्ध के पश्चात् जयपाल तोमर का भी आत्मविश्वास डगमगा गया होगा। आनन्दपाल स्वयं अपनी ओर से बिना तोमर राजा के परामर्श के उसे महमूद का करद बना देने का प्रस्ताव नहीं कर सकता था। परन्तु महमूद ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। उसने आनन्दपाल को उत्तर भिजवाया कि मुसलमानों का धर्म यह आदेश देता है कि हजरत मोहम्मद के अनुयायी जिस अनुपात में मूर्तिपूजा के विनाश का प्रयास करेंगे, उसी अनुपात में उन्हें जन्नत में पुरस्कार मिलेगा; अतएव, उस सच्चे मुसलमान के लिए यही उचित है कि वह अल्लाह की सहायता से भारत-भूमि पर से मूर्ति-पूजा को निर्मूल कर दे, वह थानेश्वर को कैसे सुरक्षित रहने दे सकता था?

पता नहीं फरिश्ता का यह कथन सत्य है या नहीं। उत्वी ने यह अवश्य लिखा है कि तोमर सम्राट् अपने सिहली रणगजों की शक्ति के कारण "धर्मविरोध और अल्लाह की अवमानना में दुराग्रही था, इस कारण सुल्तान ने अपने वीर सैनिकों के साथ इस्लाम के झण्डे गाड़ने के लिए तथा मूर्तिपूजा समाप्त करने के लिए" आक्रमण किया।

फरिश्ता और उत्वी के कथनों में मूल रूप से कोई अन्तर नहीं है। परन्तु हमारा विश्वास है कि आक्रमण का जो कारण इन इतिहास लेखकों ने बतलाया है वह ठीक नहीं है। वास्तविक कारण यह है कि तुर्की लुटेरों को यह ज्ञात था कि थानेश्वर में अत्यधिक सम्पदा एकत्रित है और वार्षिक कर या ५० हाथी उसकी तुलना में नगण्य हैं। 'इस्लाम के झण्डों' का नाम अपनी धन-लोलुपता को परिमार्जित स्वरूप देने के लिए लिया गया था। उत्वी तथा फरिश्ता भी अपने कथानायक का असमर्थनीय कृत्य धर्मान्धता के माध्यम से महान बना देना चाहते थे।

राष्ट्रीय सुरक्षा की पुकार

फरिश्ता के अनुसार जब आनन्दपाल को महमूद का उत्तर प्राप्त हुआ तब उसने उस उत्तर को तोमर राजा जयपाल के पास भिजवा दिया। फरिश्ता ने केवल "दिल्ली का राजा" लिखा है, उसका नाम जयपाल था, यह तोमर वंशावलियाँ बतलाती हैं।

जयपाल तोमर ने समस्त उत्तर भारत के राजाओं के पास दूत भेजे। फरिश्ता के अनुसार उसने समस्त राजाओं के पास यह संदेश भिजवाया कि महमूद बिना किसी कारण उसके राज्य के भाग थानेश्वर के ध्वंस के लिए चल पड़ा है। यदि इस विनाशकारी महानद के मार्ग में प्रबल बाँध खड़ा न किया गया तब समस्त भारत-देश उसके प्रवाह में बह जाएगा तथा सभी छोटे और बड़े राज्य नष्ट हो जाएँगे, अतएव यह सभी राजाओं का कर्तव्य है कि वे थानेश्वर के रण-क्षेत्र में अपनी सेनाएँ एकत्रित कर उसका मार्ग अवरुद्ध करें।

राष्ट्रीय रक्षा की यह पुकार सुनने की मनःस्थिति में अब कोई राजा न था। अब वे सब केवल आत्मरक्षा के लिए चिन्तित थे।

उत्वी ने थानेश्वर के युद्ध का विस्तृत वर्णन दिया है। उसके अनुसार थानेश्वर के पास स्वच्छ जल की नदी बह रही थी, जिसके तल में बड़े-बड़े पत्थर थे और जिसके किनारे के पत्थर भी तीरों के समान नुकीले थे। इस नदी के पास सुल्तान उस स्थल पर पहुँचा जहाँ वह एक घाटी से निकलती थी। इस घाटी के पीछे हिन्दुओं की सेना थी, जिसमें अनेक हाथी थे तथा बहुत बड़ी संख्या में पैदल एवं अश्वारोही सैनिक थे। सुल्तान ने अपनी सेना की दो टुकड़ियों को नदी के दो घाटों से उतारा और दोनों ओर से आक्रमण करा दिया। उसने एक तीसरी टुकड़ी को नदी के कुछ ऊपर से पार कराया और इस दल ने बड़ी तेजी से घाटी में स्थित हिन्दुओं के मुख्य सेनाभाग पर आक्रमण कर दिया। पूरे दिन घोर युद्ध चलता रहा। सन्ध्या के समय हिन्दुओं की सेना हार गई और भागने लगी। उत्वी के अनुसार "हिन्दुओं के समस्त हाथी, एक को छोड़कर, सुल्तान के हाथ आये। उत्वी ने आगे लिखा है कि विधर्मियों के रक्त से नदी का रंग

बदल गया, वह इतनी अस्वच्छ हो गई कि उसका पानी पीने योग्य नहीं रहा। अगर रात का अंधेरा न बढ़ जाता तो शत्रुओं की बहुत अधिक सेना सुल्तान की सेना द्वारा मार दी जाती।" उत्वी साहब के अनुसार यह विजय ईश्वर यानी अल्लाह की कृपा से प्राप्त हुई थी जिसने इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में प्रतिस्थापित किया है। "मूर्तिपूजकों का विद्रोह व्यर्थ रहा। सुल्तान इतनी अधिक लूट के साथ लौटा, जिसका वर्णन करना असंभव है।"

फरिश्ता के अनुसार यह युद्ध थानेश्वर पर नहीं हुआ था। कुछ वर्तमान इतिहासकार भी इस 'नुकीले किनारे वाली नदी' को सतलज से अभिन्न मानते हैं। उत्वी ने नुकीले किनारे का उल्लेख अपने सुल्तान के पराक्रम के प्रदर्शन के लिए किया है और "निर्मल जल" का उल्लेख विधर्मियों के अपवित्र रक्त से अपावन हुए जल का विरोधाभास अलंकार स्थापित करने के लिए किया है। यह युद्ध थानेश्वर के पास स्थित सरस्वती नदी के किनारे हुआ था इसमें कोई सन्देह नहीं है। फरिश्ता का यह कथन नितान्त भ्रामक है कि तोमर राजाओं ने थानेश्वर को अरक्षित छोड़ दिया था। सरस्वती नदी के पावन जल को तोमर-वाहिनी के सैनिकों ने ही अपने रक्त से रंजित किया था।

थानेश्वर की लूट का वर्णन उत्वी ने नहीं किया है। महमूद ने समस्त नगर को लूटा, अनेक मूर्तियाँ तोड़ी गईं और जगस्वामी या चक्रस्वामी की मूर्ति गजनी भेज दी गई ताकि वह पैरों से ठुकराने के लिए गजनी के राजमार्गों पर डाल दी जाए। मन्दिरों में अपार धनराशि प्राप्त हुई जिसमें एक रत्न भी था, जिसका वजन ४५० मिसकल था। महमूद अपने साथ दो लाख दास-दासी वन्दी बना कर ले गया। फरिश्ता के अनुसार गजनी हिन्दुओं का सा नगर दिखाई देने लगा क्योंकि प्रत्येक सैनिक के साथ अनेक हिन्दू दास-दासियाँ थीं।

दिल्ली-विजय का असफल प्रयास

फरिश्ता के अनुसार महमूद ने थानेश्वर के पश्चात् दिल्ली-विजय का भी विचार किया, परन्तु उसके अमीरों ने उसे यह सलाह दी कि दिल्ली को यदि जीत भी लिया गया तब उसे सल्तनत में तब तक सम्मिलित नहीं किया जा सकता, जब तक कि पंजाब को गजनी के साम्राज्य का सूबा नहीं बना लिया जाता, इस कारण दिल्ली पर आक्रमण करना व्यर्थ है। महमूद ने इस मंत्रणा को मान लिया और वह गजनी लौट गया। हमारे मत में दिल्ली पर आक्रमण न करने का यह कारण वास्तविक नहीं है। गजनी की सल्तनत में तो थानेश्वर भी नहीं मिलाया गया था, उसे केवल लूटा गया था और मूर्तियाँ तोड़ी गई थीं। दिल्ली पर आक्रमण न करने का कारण यह ज्ञात होता है कि सुल्तान और उसके अमीर सभी थानेश्वर की लूट के माल से लदे हुए थे। संभव है दिल्ली (अनंगपुर) की सुरक्षा व्यवस्था ऐसी हो कि सुल्तान और अमीरों ने खतरा मोल लेना उचित न समझा हो। जो भी हुआ हो, यह अवश्य हुआ कि तोमरों की राजधानी ध्वस्त होने से बच गई।

मथुरा की लूट

हिन्दूशाही राजा आनन्दपाल की मृत्यु सन् १०१२ ई० के लगभग हो गई और उसका युवराज त्रिलोचनपाल राजा बना। महमूद ने हिन्दूशाही की नवीन राजधानी नन्दन पर आक्रमण किया। त्रिलोचनपाल इस आक्रमण के लिए तैयार नहीं था। फिर भी उसने अपनी पूर्ण शक्ति से महमूद का सामना किया, परन्तु पराजित हुआ। हिन्दूशाही का अवशिष्ट राज्य भी गजनी के साम्राज्य का अंश बन गया। त्रिलोचनपाल काश्मीर-घाटी की ओर भागा। महमूद ने काश्मीर की घाटी को भी लूटा और बहुत संख्या में लोगों को बन्दी बनाया। महमूद ने इन वन्दियों को बहुत सस्ते मूल्य में दास के रूप में गजनी में बेचा। भारत में अत्यधिक प्रतिष्ठित स्थिति रखने वाले व्यक्तियों को भी गजनी के दुकानदारों के दासों के रूप में कार्य करना पड़ा। महमूद ने सन् १०१५ ई० में काश्मीर पर एक आक्रमण और किया, परन्तु वह अधिक सफल न हो सका।

अगले दो वर्षों में महमूद को भारत पर आक्रमण करने का अवसर नहीं मिल सका। सन् १०१८ ई० में महमूद की दृष्टि फिर तोमर साम्राज्य की ओर उठी। दिल्ली पर आक्रमण करने का खतरा संभवतः महमूद लेना नहीं चाहता था। ताराइन और थानेश्वर के युद्धों में महमूद तोमरों के प्रतिरोध के स्वरूप का अनुभव कर चुका था। इस बार महमूद ने दिल्ली के उत्तर की ओर से यमुना पार की और तोमरों के समृद्धतम नगर मथुरा की ओर बढ़ा। महमूद का इरादा इस बार बहुत दूर तक आक्रमण करने का था, इसलिए उसने अपनी शक्ति को दिल्ली में नष्ट करना उचित नहीं समझा। पहाड़ी गढ़ों को जीतता हुआ महमूद बारां (वर्तमान बुलन्दशहर) पहुँचा। उत्बी के अनुसार वहाँ के राजा हरदत्त ने १० हजार व्यक्तियों के साथ महमूद को आत्मसमर्पण किया और वह इस्लाम अंगीकार करने के लिए उद्यत हो गया। अन्य इतिहासकारों के अनुसार हरदत्त भाग गया और गढ़ के सैनिकों ने सुल्तान को १० लाख दीनार तथा ३० हाथी भेंट किए और अपना पीछा छुड़ाया। बारां से महमूद महावन पहुँचा जहाँ कुलचन्द्र नामक राजा राज्य कर रहा था। हम यह संभावना व्यक्त कर चुके हैं कि महावन के ये यदुवंशी दिल्ली के तोमरों के ही वंशज थे। कुलचन्द्र ने महमूद का सामना करने की तैयारी की। वह अपनी सेना लेकर घने जंगलों में स्थित एक सुदृढ़ गढ़ में पहुँचा। संभवतः वह आक्रमण की तैयारी कर रहा था कि इसी बीच महमूद पता लगाकर वहाँ जा पहुँचा। दोनों दलों में तलवारों और भालों का गुथ्थम-गुथ्था युद्ध प्रारंभ हो गया। जब हिन्दुओं को यह ज्ञात हो गया कि अब आगे विजय असंभव है तब वे यमुना में कूद पड़े। कुलचन्द्र ने पहले अपनी रानी को कटार से मार डाला और फिर स्वयं कटार मारकर मर गया।

आगे मथुरा थी। इस बात को वर्तमान इतिहासकार मानते हैं कि मथुरा पर दिल्ली के तोमरों का ही राज्य था।[1] मथुरा अत्यन्त प्राचीनकाल से हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ रहा है। उस समय मथुरा के चारों ओर पत्थर का विशाल कोट खिंचा हुआ था

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १६, स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० १४।

जिसमें यमुना की ओर खुलने वाले दो द्वार थे। समस्त नगर में मन्दिर फैले हुए थे और मध्य में नगर का विशालतम मन्दिर था। इस मन्दिर के विषय में महमूद ने स्वयं लिखा था कि यदि कोई इतना बड़ा भवन बनवाना चाहे तब वह १० करोड़ स्वर्ण दीनार व्यय करने पर भी बनवा न सकेगा और उसे बनाने में बहुत अनुभवी और कुशल कारीगरों को भी २०० वर्ष लगेंगे। इस मन्दिर में ५ सोने की मूर्तियाँ थीं, जिनमें से एक की आंखों में दो रत्न लगे हुए थे। अनेक मूर्तियाँ चांदी की भी थीं। सुल्तान ने इन सब मूर्तियों को तोड़कर उनमें प्राप्त सोना, चाँदी तथा रत्न ले लिये। मथुरा के समस्त मन्दिरों को जलाकर भूमिसात् कर दिया गया।

इतनी सम्पदा से परिपूर्ण भारत के इस प्रसिद्ध तीर्थ की रक्षा की व्यवस्था न तो तोमर जयपाल कर सका और न आर्यावर्त की रक्षा करने और तीर्थों का परिपालन करने का व्रत धारण करने वाले किसी अन्य राजकुल के सपूत ने यह पराक्रम किया। ज्ञात होता है कि एक बूंद भी राजपूत रक्त वहे बिना मथुरा लुट गई, बर्बाद हो गई और जला दी गई। महमूद ने आगे कन्नौज लूटी और सन् १०१९ ई० में गजनी लौट गया।

थानेश्वर लुट गया, मथुरा लुट गई, कुछ लाख भारतवासी दास और दासियाँ बना कर गजनी के बाजारों में बेचे गये। पता नहीं जयपाल तोमर युद्ध में मरे या हिन्दूशाही जयपाल के समान मरे या हतोत्साह होकर मरे, परन्तु वंशावलियाँ यह अवश्य कहती हैं कि सन् १०२१ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया।

परिच्छेद २३

कुमारपाल देव

(१०२१-१०५१ ई०)

वंशावलियों के अनुसार जयपालदेव के पश्चात् दिल्ली के तोमर सिंहासन पर कुमारपालदेव नामक राजा आरूढ़ हुआ। आधुनिक इतिहासकारों ने इसका नाम 'महीपाल' दिया है।[1] मौदूद से युद्ध करने वाले 'दिल्ली के राय' का नाम 'महीपाल' था, इसका आधार हमें प्राप्त नहीं हो सका। ज्ञात यह होता है कि मीराते-मसूदी नामक आख्यान काव्य[2] से यह नाम प्राप्त किया गया है, परन्तु अब्दुर्रहमान चिश्ती की वह कृति नितान्त काल्पनिक है। जब तक कोई अन्य सुपुष्ट आधार प्राप्त न हो, जयपालदेव का उत्तराधिकारी कुमारपालदेव को मानना ही उचित है। इस विषय में सभी वंशावलियाँ एकमत है।[3]

महमूद के आक्रमण

कुमारपालदेव ने ऐसे समय में दिल्ली का राज्य सँभाला था जब तोमरों का प्रताप-सूर्य महमूद रूपी राहु द्वारा धूमिल कर दिया गया था। उत्तर भारत के समस्त राजकुल विचलित हो रहे थे और आत्मरक्षा के सफल या असफल प्रयास कर रहे थे। परन्तु इस निराशा के वातावरण में भी आशा की किरणें दिखाई दे रही थीं। उत्तर भारत महमूद के आक्रमणों का प्रतिरोध करने के लिए कमर कसकर खड़ा होता भी दिखाई देता है।

कन्नौज के प्रतीहार राजा राज्यपाल ने महमूद की आधीनता स्वीकार कर ली थी और, संभवतः, वह गजनी को नियमित कर भेजने लगा था। उसी समय कालिंजर का राजा विद्याधर हुआ। विद्याधर ने अपना प्रभाव चम्बल-क्षेत्र तक बढ़ा लिया था। दुबकुंड का अर्जुन कच्छपघात विद्याधर का सामन्त था। विद्याधर चन्देल के निर्देश पर अर्जुन ने राज्यपाल को मार डाला।[4] सन् १०२१ के आसपास महमूद ने चन्देल विद्याधर को दंड देने के लिए पुनः भारत पर आक्रमण किया। हिन्दूशाही त्रिलोचनपाल अपने राज्य से अपदस्थ होकर परमार भोज के पास चला गया था, वह भी विद्याधर की सहायता के लिए आगया। त्रिलोचनपाल ने महमूद का सामना यमुना के किनारे किया परन्तु

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३ पृ० ३२ तथा दिल्ली सल्तनत (डॉ० आशीर्वादीलाल) पृ० ६५।

२. परिच्छेद १० देखें।

३. परिच्छेद १३ देखें।

४. एपी० इण्डि०, भाग २, पृ० २३७; ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्रमांक ५४।

वह उसे सफलता पूर्वक रोक न सका। वह लौटकर विद्याधर की सेना तक पहुँचना चाहता था। उसे मार्ग में किसी भारतवासी ने ही मार डाला। प्रतीहार राजा राज्यपाल के पुत्र का नाम भी त्रिलोचनपाल था, उसे विद्याधर ने पुनः राजा बना दिया था। उसकी नयी राजधानी वाड़ी थी। महमूद उसे परास्त करने के लिए वाड़ी की ओर चला। प्रतीहार त्रिलोचनपाल भाग गया। सुल्तान ने वाड़ी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके पश्चात् महमूद ने विद्याधर पर आक्रमण किया। तत्कालीन और परवर्ती मध्यकालीन मुसलमान इतिहास लेखकों ने विद्याधर को महमूद से पराजित होना दिखाया है। परन्तु यह सुनिश्चित रूप से सिद्ध है कि महमूद को असफल होकर लौट जाना पड़ा था। सन् १०२१-२२ में महमूद ने चंदेल विद्याधर पर पुनः आक्रमण किया। मार्ग में महमूद ग्वालियरगढ़ के पास भी पहुँचा। सुल्तान के इतिहास लेखकों का कथन है कि ग्वालियर के कच्छपघात राजा ने ३५ हाथी देकर महमूद से संधि कर ली। यह ऐसा कथन है कि जिसका न अभी समर्थन किया जा सकता है न खण्डन। ग्वालियर से महमूद कालिंजर पहुँचा और गढ़ को घेर लिया। विद्याधर बहुत समय तक गढ़ की रक्षा करता रहा। अंत में विद्याधर और महमूद में संधि हो गई। सुल्तानी इतिहास लेखकों के अनुसार विद्याधर ने महमूद को ३०० हाथी भेंट में दिये और उसकी प्रशस्ति में एक हिन्दी कविता भी लिखी, इसके बदले सुल्तान ने कालिंजर का घेरा उठा लिया और चंदेल को १५ गढ़ों का राजा स्वीकार कर लिया। यह कथन है तो हास्यास्पद तथापि उसकी सत्यता की जाँच करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। हम केवल अनुमान कर सकते हैं कि महमूद कालिंजर-युद्ध में विजयी न हो सका, न उसे वहाँ गजनी के बाज़ार में वेचने के लिए गुलाम मिले और न सोना।[1]

इस विषय में इतिहास मौन है कि इन अभियानों के समय कुमारपाल तोमर क्या कर रहा था?

सन् १०२४ में महमूद ने सोमनाथ की ओर प्रयाण प्रारम्भ किया था। तोमरों के इतिहास में महमूद के इस आक्रमण का विस्तृत वर्णन अपेक्षित नहीं है। केवल एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा जो यह स्पष्ट करती है कि अब राजपूतों में राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की भावना का पूर्णतः अभाव हो चला था, बड़े-बड़े तीर्थों के ध्वस्त होने की सम्भावना भी उन्हें कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित करने में समर्थ न थी। प्रबंधकोष के अनुसार चौहान गोविन्दराज द्वितीय ने सुल्तान महमूद को हराया था। फरिश्ता ने इस 'विजय' का वर्णन अन्य प्रकार से किया है। फरिश्ता के अनुसार जब महमूद अजमेर के पास पहुँचा तब अजमेर का राजा नगर-निवासियों सहित नगर खाली करके चला गया था और संभवतः तारागढ़ में बन्द हो गया था। महमूद ने नगर को उजड़वा दिया, परन्तु सोमनाथ की ओर के आक्रमण को अधिक समय तक न टालने के उद्देश्य से

१. डॉ० सन्तराम कटारे ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख "चन्देल विद्याधर, प्रतीहार राज्यपाल एण्ड महमूद ऑफ गजनी" लेख में अत्रुट आधारों पर यह सिद्ध किया है कि विद्याधर चन्देल ने महमूद को पराजित किया था।

उसने गढ़ पर आक्रमण न किया और गोविन्दराज ने भी यह उचित न समझा कि वह सोमनाथ की रक्षा के लिए महमूद को आगे बढ़ने से रोके। सोमनाथ लुट जाने और भ्रष्ट हो जाने के पश्चात्, फरिश्ता के अनुसार, गुजरात के भीमदेव और अजमेर के चाहमान रेगिस्तान में महमूद का मार्ग रोकने के लिए एकत्रित अवश्य हुए थे, परन्तु महमूद इतनी बड़ी लूट को खतरे में डालने वाला न था वह सिन्ध के मार्ग से गजनी चला गया। महमूद सोमनाथ में १५ दिन रुका था, इस बीच में भी कोई राजा सोमनाथ की रक्षा के लिए न जा सका। महमूद ने सिद्ध कर दिया कि न तो स्वयं सोमनाथ अपनी रक्षा कर सकते थे और न उनके भक्त उन्हें उसकी गदा-प्रहार से बचा सकते थे। सन् १०२७ ई० में महमूद ने मुल्तान के पास बसे जाटों पर आक्रमण किया था। यह उसका अंतिम आक्रमण था। सन् १०३० में महमूद मर गया।

मसऊद का तोमर-राज्य पर आक्रमण

महमूद ने बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। परन्तु उसके मरन के पश्चात् ही उसके यामिनी वंश में तख्त के लिए झगड़े प्रारम्भ हो गये। महमूद के दूसरे बेटे मसऊद ने अपने बड़े भाई मुहम्मद से राज्य छीन लिया और उसे अन्धा कर बन्दी-गृह में डाल दिया। बगदाद के खलीफा ने मसऊद को तुर्क साम्राज्य के सुल्तान के रूप में मान्यता दे दी। सन् १०३६ ई० में मसऊद ने अपने दूसरे पुत्र मजदूद को पंजाब का शासक बना कर भेजा। मसऊद जब बीमार पड़ा तब उसने संकल्प किया कि अच्छा हो जाने के पश्चात् वह भारत में 'धर्मयुद्ध' प्रारम्भ करेगा। उसने विशाल सेना एकत्रित की और भारतीय प्रदेशों पर आक्रमण करने के उद्देश्य से सन् १०३७ ई० स्वयं पंजाब आकर झेलम के किनारे डेरा डाला। आगे था तोमरों का प्रदेश। मसऊद का 'धर्मयुद्ध' तोमरों के साथ होना अनिवार्य था।

झेलम के किनारे मसऊद चौदह दिन तक बीमार रहा। उसने इसे ईश्वर की अकृपा समझी और प्रायश्चित्त रूप में शराब पीना छोड़ दिया तथा सैनिकों को भी शराब पीने से रोक दिया। शराब के पात्र झेलम नदी में फेंक दिये गये। २० दिसम्बर १०३७ को मसऊद ने हाँसी घेर ली।

हाँसी का पतन

हाँसी, आसिका या असि के गढ़ को अनंगपाल प्रथम के राजकुमार द्रौपद ने बसाया था। इस दुर्ग पर तोमरवंश के राजकुमार शासन करते थे। हाँसी के सामन्त ने अत्यन्त दृढ़ संकल्प के साथ गढ़ की रक्षा में युद्ध प्रारम्भ किया। इसके पूर्व हाँसी के गढ़ ने कभी पराजय नहीं देखी थी और वह इस ख्याति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील था। मसऊद ने गढ़ की दीवारों में पाँच स्थानों पर सुरंगें लगाकर उन्हें उड़ा दिया। १२ दिन के घोर प्रतिरोध के पश्चात् १ जनवरी १०३८ को हाँसी के गढ़ का पतन हुआ। मसऊद ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों को कत्ल करवा दिया और उनकी स्त्रियों को सेना में बाँट दिया।

सोनपत की पराजय

हाँसी के पश्चात् मसऊद ने सोनपत का गढ़ घेर लिया और उसके गढ़पति देवपाल हर को पराजित किया। उसके पश्चात् किसी रामराय से युद्ध हुआ जिसने पराजित होकर मसऊद को धन देकर पीछा छुड़ाया।

कुमारपाल तोमर का मौदूद पर आक्रमण

मसऊद ने अपने पुत्र मजदूद को हाँसी में नियुक्त कर दिया था। मजदूद ने थानेश्वर पर भी कब्जा कर लिया। वह दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी कर ही रहा था कि इसी बीच यामिनी वंश में घोर गृहकलह प्रारम्भ हो गया। मसऊद को राजसिंहासन छोड़ना पड़ा। उसके भाई अन्धे मुहम्मद को सुल्तान बनाया गया। मसऊद के दूसरे पुत्र मौदूद ने मुहम्मद को परास्त कर उसे मार डाला। अनुमान यह किया जाता है कि मौदूद ने अपने भाई मजदूद को विष देकर मार डाला और पंजाब पर अधिकार कर लिया।

महमूद के समय में यामिनी वंश का जो दबदबा उत्तर भारत में फैल गया था वह अब कम होने लगा। कुमारपाल तोमर ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में था।

चतुर्थ राजपूत संघ

कुमारपाल तोमर ने इस परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए फिर एक बार उत्तर भारत के राजाओं को सचेत किया और संयुक्त वाहिनी का निर्माण कर यामिनी वंश को भारतभूमि से खदेड़ देने के लिए उन्हें आमंत्रित किया। कुमारपाल तोमर के इस आह्वान पर भोज परमार, कलचुरि कर्ण और नाडोल के चाहमान अणहिल्ल ने कुमारपाल के नेतृत्व में सेना एकत्रित की। सन् १०४३ ई० में इस सेना ने मौदूद से हाँसी थानेश्वर आदि सभी स्थान छीन लिये तथा नगरकोट भी मुक्त करा लिया और लाहौर का किला घेर लिया। सात मास तक लाहौर घेरे रहने के पश्चात् इस सेना पर अचानक तुर्कों ने आक्रमण किया और उसे घेरा उठा कर लौट आना पड़ा।

तोमरों की सीमा यामिनी-प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हो गयी और नगरकोट तक उनका प्रभाव विस्तृत हो गया।

नगरकोट का पतन

यामिनी वंश के भीतरी विग्रह चलते रहे। सन् १०५१ में महमूद का छठा बेटा अब्दुर्रशीद सुल्तान बना। इसने नुश्तिगीन को पंजाब का प्रशासक नियुक्त किया। सन् १०५१ ई० में नुश्तिगीन ने तोमरों से नगरकोट छीन लिया।

कुमारपाल की मृत्यु

जहाँगीर के राज्यकाल में अब्दुर्रहमान चिश्ती ने 'मिराते-मसूदी' नामक पुस्तक लिखी है। वास्तव में यह पुस्तक इतिहास न होकर मसऊद को नायक बनाकर लिखा गया आख्यान-काव्य मात्र है।[1] इसके अनुसार मसऊद ने किसी महीपाल को युद्ध-क्षेत्र

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० ५३१।

में मारकर दिल्ली को जीत लिया था। महमूद भी जो पराक्रम नहीं कर सका था वह कार्य चिश्ती ने मसऊद से करा दिया।

दिखता यह है कि चिश्ती ने अनेक घटनाओं को एक में मिलाकर यह कल्पना का महल खड़ा किया है। संभव यह है कि महमूद के बेटे अब्दुर्रशीद के पंजाव के प्रशासक नुश्तिगीन और कुमारपाल के बीच नगरकोट में हुए युद्ध को दिल्ली का युद्ध वना दिया गया हो। यदि यह अनुमान करना उचित माना जाए तव हम चिश्ती की कहानी को इस रूप में स्वीकार कर सकते हैं कि महीपाल तोमर नहीं कुमारपाल की सन् १०५१ ई० में नगरकोट में नुश्तिगीन से युद्ध करते हुए मृत्यु हुई थी और उसके साथ उसका राजकुमार गोपाल रणक्षेत्र में मारा गया।[2]

चिश्ती का आख्यान

चिश्ती का आख्यान कुछ इस प्रकार चलता है—"उस समय राय महीपाल उस नगर का राजा था। उसके पास वहुत अधिक सेना थी, अनेक रणगज थे और इस कारण उसे वड़ा दम्भ था। सुलतान महमूद तथा सालार साहू जव हिन्दुस्तान आए थे, तव उन्होंने लाहौर जीता था और उसे इस्लाम का नगर वनाया था, परन्तु वे भी दिल्ली पर आक्रमण करने में असमर्थ रहे थे, और इसका प्रयास किये विना ही वापिस चले गये, परन्तु अव शेरदिल मसऊद कूच-दर-कूच आगे वढ़ता गया जव तक कि वह उस नगर तक नहीं पहुंच गया।

"राय महीपाल उसका प्रतिरोध करने के लिए सेना लेकर आगे वढ़ा। दोनों सेनाएँ कुछ मील के फासले पर जम गयीं, परन्तु दोनों ओर के युवा सैनिक प्रतिदिन प्रातःकाल से संध्या तक लड़ते थे। इस प्रकार एक मास और कुछ दिन वीत गये, और मसऊद परिणाम के प्रति चिन्तित होकर ईश्वर से सहायता की याचना करने लगा। जैसे ही वह प्रार्थना करके निवृत्त हुआ उसे समाचार मिला कि पांच अमीर वहुत वड़ी सेनाएँ लेकर गजनी से उसकी सहायता के लिए आ रहे हैं। मसऊद की सेना में आनन्द की लहर दौड़ गयी।

"राय महीपाल शत्रु की इस नई सेना के आ जाने से चिन्तित हुआ। चार दिन पश्चात् दोनों सेनाओं में युद्ध प्रारम्भ हो गया। मसऊद जव शर्फुल-मुल्क से वातें कर रहा था, महीपाल के पुत्र गोपाल ने उस पर आक्रमण कर दिया और अपनी गदा को उसके माथे की ओर चलाया। मसऊद की नाक टूट गयी तथा उसके दो दाँत गिर पड़े। शर्फुल-मुल्क ने अपनी तलवार खींच ली और गोपाल को जहन्नुम भेज दिया। मसऊद ने अपनी भग्न नासिका को रूमाल से वाँध लिया और युद्ध-क्षेत्र में जमा रहा। मसऊद का साहस और शौर्य प्रशंसनीय रहे, उसने घाव की चिन्ता न की, वरन् संध्या की नमाज तक युद्ध करता रहा तथा रात को भी युद्धक्षेत्र में रहा। वहुत से वहादुर तुर्क मारे गये और विधर्मी भी अगणित संख्या में मारे गये।

२. परिच्छेद १० देखें।

"प्रातःकाल युद्ध के नगाड़े फिर बज उठे, और साहसी युवक युद्ध के लिए अग्रसर हुए। मीर सैयद अजीजुद्दीन आगे की पंक्ति में लड़ रहा था। अचानक उसके मस्तक पर एक भाला लगा और वह शहीद हो गया। मीर की मृत्यु का समाचार सुनकर मसऊद अपने आपको रोक न सका और उसने स्वयं शत्रु पर आक्रमण कर दिया। अनेक तुर्की अमीरों ने दीपक के चारों ओर मँडराने वाले पतंगों के समान, अपने जीवन की चिन्ता न कर मसऊद का अनुगमन किया। विधर्मी इस आक्रमण को सहन न कर सके और भाग गये। रईस महीपाल और श्रीपाल ही कुछ अन्य लोगों के साथ समर-भूमि में रह गये। यद्यपि उनके समस्त हितचिन्तकों ने उनसे भाग जाने का तथा फिर कभी युद्ध में भाग्य-परीक्षण करने का आग्रह किया, तथापि उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया और कहा कि समरभूमि से भागकर वे कहाँ मुंह दिखाएँगे। अन्त में वे दोनों भी मारे गये, बहुत बड़ी विजय की उपलब्धि हुई तथा दिल्ली का सिंहासन विजेता को प्राप्त हुआ।

"तथापि मसऊद ने सिंहासन ग्रहण नहीं किया और यह कहता रहा कि वह तो केवल अल्लाह की कीर्ति स्थापित करने के लिए लड़ रहा है। उसने अजीजुद्दीन को दिल्ली में दफना दिया और उसकी कब्र पर विशाल मजार बनवा दिया और उस पर चिराग़ जलते रहने के लिए सेवक नियुक्त कर दिये। तीन हजार चुने हुए सवारों के साथ अमीर वाजिद जफर को किले का अधिपति बना दिया............।"

कहानी मनोरंजक है। कुत्बुद्दीन ऐबक के दिल्लीश्वर बनने के पश्चात् अनेक ऐतिहासिक आख्यान-काव्यों में उनके कथानायकों को दिल्ली-विजेता कहा गया है। पृथ्वीराज रासो में इसी भावना से प्रेरित होकर राय पिथौरा की भी राजधानी अजमेर के बजाय दिल्ली बतलाई गयी है। फिर भी चिश्ती के इस आख्यान-काव्य के कुछ तथ्य आवश्यक संशोधन के साथ ग्रहण किये जा सकते हैं। मसऊद ने हाँसी जीती थी। चिश्ती ने हाँसी के युद्ध को दिल्ली का युद्ध बना दिया। परन्तु हाँसी में कुमारपाल (चिश्ती का महीपाल) मरा नहीं था, संभव है, उसका राजकुमार गोपाल और स्थानीय सामंत श्रीपाल हाँसी के युद्ध में मारे गये हों।

इस आख्यान से यह तथ्य भी ग्रहण किया जा सकता है कि कुमारपाल भी रण-क्षेत्र में मरा था। वह रणक्षेत्र दिल्ली के पास न होकर काँगड़ा में था। अतएव चिश्ती के सहारे यह कहा जा सकता है कि सन् १०५१ ई० में कुमारपालदेव तोमर नगरकोट के युद्धक्षेत्र में मारे गये। मरने वाला महीपाल न होकर कुमारपाल तोमर था और मारने वाला मसऊद नहीं था, महमूद के छठवें पुत्र अब्दुर्रशीद का पंजाब का सूबेदार नुश्तिगीन था।

साम्राज्य का विस्तार

कनिंघम ने किसी 'कर्णपाल' नामक तोमर राजा की राज्य-सीमा के विषय में एक अनुश्रुति दी है।[1] यदि इस अनुश्रुति के पीछे कोई सत्य है तब वह 'कर्णपाल' कुमारपाल से ही

---

१. आर्को० सर्वे० रि०, भाग २, पृ० १५४।

अभिन्न माना जाएगा। उसके अनुसार कर्णपाल के छह राजकुमार थे। पहले राजकुमार वछदेव ने नारनोल के पास बाघोर तथा थोड़ा अजमेर बचेरा या बघेरा बसाया था। दूसरे राजकुमार नागदेव ने अजमेर के पास नागदा तथा नागौर बसाए थे। कृष्णराय ने अलवर के उत्तर-उत्तर-पूर्व १० मील पर किसनगढ़ और सोरों तथा एटा के बीच खास-गंज बसाया। चौथे राजकुमार निहालराय ने अलवर से १० मील पश्चिम में नारायण-पुर बसाया था। पांचवें राजकुमार सोमसी ने अलवर और जयपुर के बीच अजबगढ़ बसाया था, तथा छठवें राजकुमार हरपाल ने अलवर के उत्तर-उत्तर-पश्चिम में १६ मील पर हरसोरा तथा अलवर के २३ मील उत्तर में हरसोली बसाई थी।

इस अनुश्रुति के कथन असत्य सिद्ध करने का कोई आधार नहीं है। चौहानों का तथाकथित 'महाराज्य' इस अनुश्रुति के कारण, अजमेर की ओर कुछ सुकड़ता अवश्य दिखाई देता है। परन्तु सन् १०५० तक चौहानों का राज्य इस ओर अधिक क्षेत्र पर था, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। अजमेर और शाकंभरी के उत्तर में संभवतः हर्षनाथ के आगे उनका अधिकार बारहवीं शताब्दी में बढ़ा था। शाकंभरी के चौहान-राज्य का मुख दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की ओर ही रहा। उस समय तक के उनके सब शिला-लेख उसी ओर प्राप्त हुए हैं।

कुमारपाल का मूल्यांकन

कुमारपाल जब सन् १०२१ में तोमर सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था उस समय तोमर साम्राज्य श्रीहत अवस्था में था। थानेश्वर लूटा जा चुका था, ध्वस्त किया जा चुका था, मथुरा नष्ट-भ्रष्ट कर दी गयी थी। महावन के तोमर सामन्त कुलचन्द्र को पराजय की ग्लानि में प्राण देने पड़े थे। उस समय का सर्वाधिक निपुण सेना-संचालक महमूद जीवित था। कन्नौज का प्रतीहार राज्यपाल महमूद का अनुगत हो गया था, हिन्दूशाही लड़खड़ा रही थी, परमार भोजदेव को हिन्दू पड़ौसी ही घेर रहे थे।

जनता अजेय है। थानेश्वर में फिर मन्दिर बनने लगे, मथुरा में फिर गोपाल-पूजा प्रारंभ हुई, खेत फिर लहलहा उठे, व्यापारियों के सार्थ प्रवहमान हुए, महमूद द्वारा किये गये घाव भर उठे।

राज्यारोहण के १८ वर्ष पश्चात् कुमारपाल के तोमर-साम्राज्य को पुनः झटका लगा। सन् १०३८ ई० हाँसी का गढ़ उनके हाथ से निकल गया। उसके पश्चात् थानेश्वर में भी तुर्कों का राज्य हो गया।

पांच वर्ष पश्चात् भाग्य-लक्ष्मी ने कुमारपाल का साथ दिया। उसने न केवल हांसी और थानेश्वर वापस ले लिए वरन् कांगड़ा तक का भू-भाग तोमर साम्राज्य में सम्मि-लित कर लिया। कांगड़ा से चम्बल के दक्षिणी भाग और यमुना के पूर्व के प्रदेश से शतद्रु तक का विशाल भूभाग कुमारपाल के अधीन आठ वर्ष तक रहा। अपने राज्य के अन्तिम वर्ष में कांगड़ा उसके हाथ से निकल गया। फिर भी वह अपने उत्तराधिकारी के लिए उसकी अपेक्षा बड़ा साम्राज्य छोड़ सका जो अनंगपाल प्रथम ने निर्मित किया था।

परिच्छेद २४

अनंगपाल द्वितीय

(१०५१-१०८१ ई०)

कुमारपाल तोमर की मृत्यु के उपरान्त सन् १०५१ ई० में, वंशावलियों के अनुसार तोमर सिंहासन पर अनंगपाल नामक राजा आसीन हुआ। अनंगपाल विरुदधारी आदि तोमर राजा से विभेद करने के लिए हम इसे अनंगपाल द्वितीय कहेंगे।

वंशावलियों में दिये गये इस राजा के राज्यकाल का समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होता है। लौहस्तम्भ पर एक लेख प्राप्त हुआ है। उसके अनुसार वि० सं० ११०९, अर्थात् सन् १०५२ ई० में अनंगपाल दिल्ली पर राज्य कर रहा था और उस वर्ष उसने लौह-स्तम्भ की स्थापना की थी। कुव्वतुल-इस्लाम के एक स्तम्भ पर कारीगर द्वारा डाला गया ११२४ का अंक भी प्राप्त हुआ है जिससे यह अनुमान किया गया है कि जिस भवन का यह पत्थर है उसका निर्माण वि० सं० ११२४ (सन् १०६७ ई०) में अनंगपाल करवा रहा था। गढवाल की पोथी में श्री कनिंघम ने एक उल्लेख यह पढ़ा था कि वि० सं० १११७ (सन् १०६० ई०) में अनंगपाल ने लालकोट का निर्माण कराया।

इनके अतिरिक्त श्रीधर कवि के पार्श्वनाथ-चरित से भी यह प्रकट होता है कि उसके आश्रयदाता नट्टुल साहु का पिता अल्हण अनंगपाल का समकालीन था। पार्श्वनाथ चरित्र वि० सं० ११८९ (सन् ११३२ ई०) में लिखा गया था। नट्टुल अपने पिता का तीसरा पुत्र था, इससे ज्ञात होता है अल्हणसाहु और अनंगपाल कभी सन् १०७०-५ ई० के आसपास समकालीन थे।

अनंगपाल का राज्यकाल वंशावलियों में २१ वर्ष ६ मास १८ दिन दिया गया है। इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध का लेखक अवश्य उसे १९ वर्ष, ६ मास, १८ दिन और १० घड़ी बतलाता है—

अनंगपाल नृपतिः वर्ष एकोनविंशतिः
षड्मास धृतिदिवसा दिग्घटी भुवि भोक्ष्यते॥

परन्तु यह पुस्तक बहुत बाद की रचना है, अतएव उसका कथन मान्य नहीं किया जा सकता। २९ वर्ष ६ मास का राज्यकाल मानने से अनंगपाल द्वितीय का समय सन् १०५१ से १०८१ ई० तक माना जा सकता है। इन दो वर्षों के बीच अनंगपाल की समस्त ज्ञात तिथियाँ आ जाती हैं।

त्रिभुवनपाल नरेश

हिन्दी के महाकवि केशवदास के पूर्वज तोमरों के पुरोहित थे। दिल्ली के तोमरों के पुरोहित-सामन्त के रूप में केशवदास के पूर्वज स्थापित हुए और उनके साथ ही वे

चम्बल-क्षेत्र में आए। अपने पूर्वजों का इतिहास लिखते हुए केशवदास ने कविप्रिया में लिखा है—

> **जगपावन वैकुण्ठपति रामचन्द्र यह नाम।**
> **मथुरा-मण्डल में दिये, तिन्हें सात सौ ग्राम॥**
> **सोमवंश यदुकुल कलश त्रिभुवनपाल नरेश।**
> **फेरि दिये कलि काल पुर, तेई तिन्हें सुदेश॥**

इस दान के पश्चात् केशवदास ने अपने पूर्वज जयदेव को पृथ्वीराज तोमर (११६७-११८० ई०) का समकालीन बतलाया है, परन्तु जयदेव कितनी पीढ़ियों के पश्चात् हुआ था यह स्पष्ट नहीं है। ज्ञात यह होता है कि केशव ने 'त्रिभुवनपाल नरेश' अनंगपाल द्वितीय के लिए ही लिखा है, यद्यपि संभावना यह भी है कि केशव का आशय विजयपालदेव तोमर (११३१-११५१ ई०) से हो। यद्यपि मथुरा का केशवदेव का मन्दिर विजयपालदेव ने ही बनवाया था, तथापि केशव के पूर्वजों को सात सौ ग्राम की सामन्ती केवल मन्दिर के पौरोहित्य के लिए नहीं मिली होगी। यह सनाढ्य-वंश केवल शास्त्रजीवी ही नहीं था, वह समरशूर शस्त्रजीवी भी था। ज्ञात यह होता है कि महमूद द्वारा मथुरा का विध्वंस किये जाने के पश्चात् दिल्ली के तोमरों ने मथुरा की रक्षा का भार इस सनाढ्य-कुल को देकर उसे सात सौ ग्रामों का सामन्त बना दिया। यह कार्य कुमारपाल तोमर द्वारा तुर्कों को पराभूत करने के पश्चात् ही संभव हुआ होगा। केशवदास 'सोमवंश यदुकुल कलश' तोमर राजाओं के लिए ही लिखते थे। अतएव हमारा अनुमान है कि केशव का 'त्रिभुवनपाल नरेश' अनंगपाल द्वितीय ही है।

तहनगढ़ या त्रिभुवनगिरि

त्रिभुवनपाल नरेश यदि अनंगपाल प्रथम के लिए ही केशव ने प्रयुक्त किया है, तब यह कहा जा सकता है कि बयाना से १४ मील और करौली से उत्तर-पूर्व २४ मील स्थित त्रिभुवनगढ़ अनंगपाल द्वितीय ने ही बसाया था। दिल्ली के तोमरों के लिए यह स्थान सामरिक दृष्टि से उपयोगी भी था। तोमरगृह से ऐसाह के ठिकाने से दिल्ली के मार्ग में ही त्रिभुवनगिरि था। अनंगपाल द्वितीय ने यहाँ त्रिभुवनगढ़ की स्थापना की और इसी का अपभ्रंश रूप 'तिहुअणगिरि' तथा अवहट्ठ रूप 'तहनगढ़' हो गया। अनंगपाल द्वितीय के जैन व्यापारियों से अच्छे सम्बन्ध थे और वह जैन सूरियों का समादर भी करता था। त्रिभुवनगढ़ की स्थापना में भी उनका बहुत हाथ था।

सन् ११४६ ई० (वि० सं० १२०३) के पूर्व त्रिभुवनगिरि में श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मठ था, यह खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि से प्रकट है। वहाँ भी जिनदत्तसूरि बहुत जाते रहते थे। उस समय वहाँ कुमारपाल नामक राजा राज्य कर रहा था।[1]

---

1. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, पृ० १९।

ज्ञात होता है कि इस कुमारपाल के समय से ही त्रिभुवनगढ़ के राजा दिल्ली की आधीनता केवल नाममात्र के लिए ही मानने लगे थे।

दिल्ली में राजधानी की स्थापना

तोमरों के समय में उनकी राजधानी का स्थान बदलता रहा था। प्रारंभ में वह अनंगपुर में थी। अनंगपाल द्वितीय ने योगिनीपुर और महीपालपुर के बीच स्थित ढिल्लिकापुरी को अपनी नवीन राजधानी का केन्द्र बनाया। हमारा अनुमान है कि अनंगपाल द्वितीय के पूर्व ही इस ढिल्लिका में कुछ मन्दिर और भवन बने हुए थे। अपने राज्य के दूसरे वर्ष सन् १०५२ ई० में ही अनंगपाल ने लौहस्तम्भ की स्थापना की थी। लौहस्तम्भ की स्थापना के पश्चात् ही उसे केन्द्र बना कर अनेक निर्माण किये गये और लालकोट नामक किला बनवाया गया।

अनंगपाल द्वितीय ने २७ महल और मन्दिर बनवाये थे, ऐसी अनुश्रुति प्राप्त होती है और उसका समर्थन कुव्वतुल-इस्लाम के शिलालेख से भी होता है। यह संभव है कि इन २७ भवनों में से कुछ पहले बन चुके हों। अनंगपाल ने लौहस्तम्भ के पास ही अनंगताल नामक सरोवर भी बनवाया, इसकी लम्बाई उत्तर-दक्षिण में १६९ फुट और पूर्व-पश्चिम में १५२ फुट है। इस तालाब से थोड़ी दूर पर वह विशाल भवन था जो लौहस्तम्भ को घेरे हुए था। इन सब निर्माणों के चारों ओर लालकोट गढ़ बनवाया गया था।

अनंगपाल ने यह समस्त निर्माण किस क्रम में किये थे इसके कुछ संकेत मिलते है। लौहस्तम्भ सन् १०५२ ई० में दिल्ली लाया गया था ऐसा उस पर खुदे हुए लेख से ही प्रकट होता है। कनिंघम ने उस लेख को 'समत् दिहालि ११०९ अंगपाल वहि' पढ़ा था और उसका अर्थ किया था "संवत् ११०९ अर्थात् सन् १०५२ ई० में अनंगपाल ने दिल्ली बसाई।" परन्तु 'वहि' शब्द बसाने के लिए न होकर 'वहन' करने के लिए प्रयोग किया गया है, और उस लेख का आशय है, सन् १०५२ ई० में अनंगपाल (इस लौहस्तंभ को) लाया। 'दिहालि' से तात्पर्य 'दिल्ली का' है। उस समय दिल्ली में विक्रम संवत् प्रचलित हो गया था, उसके पूर्व वलभी संवत् प्रयुक्त होता था। यह लेख निश्चय ही अनंगपाल द्वितीय ने स्वयं उत्कीर्ण नहीं कराया था, वरन् लौहस्तम्भ को दिल्ली ढोकर लाने वाले कारीगर ने उसे खुदवा दिया था।

ज्ञात यह होता है कि सन् १०५२ ई० से प्रारम्भ होकर ये निर्माण सन् १०६७ ई० तक चलते रहे। गढ़वाल की पोथी के अनुसार संवत् १११७ मार्गशीर्ष सुदी दसवीं (सन् १०६० ई०) को लालकोट का निर्माण पूर्ण हुआ। वि० सं० ११२४ (सन् १०६७ ई०) तक मन्दिर और भवन बन रहे थे, ऐसा कचल कारीगर के लेख से स्पष्ट है।

इतिहासज्ञों का अभिमत है कि लौहस्तम्भ पहले मथुरा में स्थित था और वहाँ से हटाकर उसे दिल्ली में स्थापित किया गया है, यद्यपि अभी हाल में एक विद्वान ने यह अभिमत भी व्यक्त किया है कि यह स्तम्भ देहरादून जिले के जौनसार बावर तहसील में

स्थित कालसी नामक स्थान में स्थित था और वहाँ से बड़े बेड़े में यमुना के पानी के बहाव के माध्यम से दिल्ली लाकर महरौली में स्थापित किया गया था।[1] परन्तु यह स्थापना करने के लिए 'सप्त सिन्धु' को 'गंगा' का पर्याय मानना पड़ेगा। इसमें अभी अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिन पर यहाँ विस्तार से विचार करना सम्भव नहीं है। अभी हम अपनी पूर्व में की गई स्थापना को ही मानकर चलते हैं कि पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा के सम्राट् अधिराज भवनाग ने यह लौहस्तम्भ मथुरा में स्थापित किया था।[2] उसके ढालने के लिए लोहा वर्तमान नरवर-मगरौनी की लोहे की खदानों से प्राप्त किया गया था और उसकी स्थापना की गयी थी उस विशाल विष्णु-मन्दिर के सामने जो सन् ११५० ई० में बने केशवदेव के मन्दिर के स्थान पर बना हुआ था और जिसे महमूद ने ध्वस्त किया था। ज्ञात यह होता है कि जब सन् १०५० ई० में कुमारपाल नगरकोट में तुर्कों से जूझ रहे थे उस समय उनका राजकुमार मथुरा की रक्षा के लिए नियुक्त था। उसने विष्णु के उस प्राचीन मन्दिर के अवशेषों में इस विष्णुध्वज को देखा और उसे दिल्ली लाने का उपक्रम किया। सम्भव है इसे जलमार्ग से ही लाया गया हो, उल्टी धार में नाविक भार खे लेते हैं।

लालकोट का घेरा सवा दो मील है और उसका कोट नीचे ३० फुट चौड़ा है और ६० फीट ऊँचा है। कोट के चारों ओर गहरी खाई भी बनी हुई थी और बीच-बीच में विशाल बुर्जें बनी हुई थीं। इस किले की दृढ़ता का वर्णन श्रीधर ने 'पार्श्वनाथ चरित्र' में किया है[3] और हसन निजामी ने ताजुल-मआसर में भी किया है।[4]

श्री किल्लिदेवपाल

कुछ मुद्राएँ ऐसी प्राप्त हुई है जिनके एक ओर नन्दी के साथ 'श्रीकिल्लिदेव' लिखा हुआ है तथा दूसरी ओर "पालश्रीसमन्तदेव" पढ़ा जाता है।[5] इन दोनों पाठों को एक साथ पढ़ने से "श्रीकिल्लिदेवपाल श्रीसमन्तदेव" पाठ उपलब्ध होता है। "श्रीसमन्तदेव" दिल्ली के तोमरों की मुद्राओं का श्रुतिवाक्य है। 'श्री किल्लिदेवपाल' निश्चय ही अनंगपाल द्वितीय के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये मुद्राएँ सन् १०५२ ई० में उस समय जारी की गयी थीं जब अनंगपाल ने दिल्ली में लौहस्तम्भ की स्थापना की थी। मथुरा से दिल्ली तक इस विशाल स्तम्भ को ढोकर लाना और फिर उसे समारोह पूर्वक स्थापित करना अत्यधिक उत्साह, उत्सव और कौतूहल का कारण बना होगा और उसी के उपलक्ष में ये मुद्राएँ ढाली गयी थीं।

---

१. शूरवीरसिंह पँवार, मेहरौली के लौहस्तम्भ का ऐतिहासिक महत्व, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड १२, अंक २, पृ० १०९।
२. मध्यभारत का इतिहास, भाग १, पृ० ४९३।
३. परिच्छेद ४ देखें।
४. परिच्छेद ३ देखें।
५. परिच्छेद २ देखें।

हिन्दी का जन्मदाता अनंगपाल

अनंगपाल द्वितीय ने अन्य दो प्रकार की मुद्राएँ भी ढलवाई थीं। एक प्रकार की मुद्राओं पर उसका नाम "श्री अनंगपाल" मिलता है और दूसरी मुद्राओं पर "श्री अणगपाल"। यह अणगपाल प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है। अनंगपाल शुद्ध संस्कृत रूप है और अणगपाल पर हरियाने की लोकभाषा का प्रभाव प्रत्यक्ष है। मध्यकाल की हिन्दी की [illegible] श्री हरियाना, कुरुक्षेत्र, ही है। कबीर, नानक और गोस्वामी तुलसीदास की भाषा का मूल स्रोत यही क्षेत्र है। तुलसीदास ने रामकथा इसी 'रुचिर कुरुखेत' में अपने गुरु से सुनी थी।[1] हिन्दी के विकास का श्रेय बहुधा अमीर खुसरो को दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि उसका रूप-निर्माण ईसवी द्वितीय सहस्राब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली के तोमरों ने किया था और उसका पूर्ण परिष्कार किया ग्वालियर के तोमरों ने। शेख फरीदुद्दीन गंजशकर के दोहे तथा पद और अमीर खुसरों की मुकरियाँ इन दोनों के बीच की कड़ी हैं। अमीर खुसरो का जन्म भी इसी प्रदेश की जाटिनी माता से हुआ था। उसने तथा इस क्षेत्र के नौ-मुस्लिमों ने इसी भाषा को अपनाया और जब तुर्कों को स्थानीय ज़नता से सम्पर्क के लिए लोकभाषा से परिचित होने की आवश्यकता हुई तो उन्होंने भी इसी भाषा-रूप को अपनाया।

इब्राहीम से युद्ध

गजनी के सुलतान अब्दुर्रशीद के पंजाब के सूबेदार नुश्तिगिन द्वारा नगरकोट लेने के पश्चात् ही गजनी में राजनीतिक दृश्य बदलने लगा। अब्दुर्रशीद को महमूद के एक गुलाम तुगरिल हाजिब ने मार डाला। तुगरिल केवल ४० दिन गजनी का सुल्तान रह सका। नुश्तिगिन पंजाब से गजनी पहुंचा और उसने तुगरिल को समाप्त कर दिया, और सन् १०५२ ई० में मसऊद प्रथम के पुत्र फरुखजाद को सुल्तान बनाया गया। उसने १०५९ ई० तक राज्य किया और उसके पश्चात् उसका भाई इब्राहीम गजनी का सुल्तान बना। सन् १०७५ ई० में इब्राहीम का पुत्र महमूद पंजाब का प्रशासक नियुक्त किया गया।

यामिनी वंश के मध्ययुगीन इतिहास लेखकों का कथन है कि इब्राहीम ने तबरहिन्दा (तँवरहिन्दा) पर आक्रमण कर उसे जीत लिया था। यह तबरहिन्दा सिरसागढ़ से अभिन्न माना गया है और वह तोमरों के ही राज्य में था। यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि इब्राहीम ने रूपाल (नूरपुर) की भी विजय की थी।[2] यह रूपाल तोमरों का ही गढ़ था। इब्राहीम और अनंगपाल द्वितीय के बीच कोई युद्ध हुआ था इसका संकेत श्रीधर

---

१. काशी के किसी कारीगर ने यह पाठ ही बदल दिया और अब वह हो गया "कथा जो सूकरखेत"। तुलसी की दिव्यवाणी का स्रोत बन गया काशी का सुगरैढ़ा। काशी के दम्भी पण्डितों से अपने ग्रन्थ को मान्यता दिलाने के प्रयास में तुलसी ने रामचरितमानस का मूल 'सुगरैढ़ा' बनवा लिया।

२. इलियट एण्ड डाउसन, भाग ५, पृ० १६२।

के पार्श्वनाथ चरित में भी मिलता है। परन्तु श्रीधर ने केवल यह उल्लेख किया है कि अनंगपाल ने हम्मीर का दलन किया।[1] श्रीधर के कथन से यह ज्ञात होता है कि विजय अनंगपाल की हुई थी न कि इब्राहीम की। संभव है वास्तविकता यह हो कि अनंगपाल के हाथ से रूपाल और तँवरहिन्दा निकल गये हों, और उसने इब्राहीम को और आगे न बढ़ने दिया हो।

इब्राहीम के पुत्र महमूद ने भी भारत पर आक्रमण किये थे, परन्तु वह तोमरों की राज्य-सीमा में से आगे नहीं बढ़ा था। उसने शाकंभरी के मार्ग से प्रवेश किया था। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार चौहान दुर्लभराज तृतीय की मृत्यु 'मातंगों' से युद्ध करते समय हुई थी। यह 'मातंग' यह महमूद ही हो सकता है जो सपादलक्ष के मार्ग से वर्तमान आगरा की ओर गया था, जहाँ से यमुना पार कर उसने कन्नौज के तत्कालीन राष्ट्रकूट राजा को पराजित किया था। कन्नौज से महमूद मालवा की ओर गया था, परन्तु वहाँ उसे लक्ष्मगदेव परमार से पराजित होना पड़ा था। महमूद का कालिंजर का अभियान भी पूर्णतः असफल रहा था। लौटते समय उसमें इतनी शक्ति नहीं रह गई होगी कि वह तोमर सम्राट् से टक्कर ले सकता। अतएव संभावना यही है कि जिस "हम्मीर" का उल्लेख श्रीधर ने किया है वह इब्राहीम था न कि उसका पुत्र महमूद।

कलश का आक्रमण

बिल्हण के विक्रमांकदेव-चरित से ऐसा ज्ञात होता है कि काश्मीर के राजा कलश (१०६३-१०८९ ई०) ने भी कुरुक्षेत्र पर आक्रमण किया था।[2] परन्तु किल्हण की राजतरंगिणी में कलश के इस आक्रमण का कोई उल्लेख नहीं है। राजतरंगिणी 'इतिहास' है और विक्रमांकदेव-चरित आख्यान है। तथापि बिल्हण कलश का समकालीन था अतएव ज्ञात यह होता है कि कलश ने कुरुक्षेत्र पर आक्रमण अवश्य किया होगा और अनंगपाल द्वारा पराजित होकर उसे लौटना पड़ा होगा।

---

१. परिच्छेद ४ देखें।

२. विक्रमांकदेव-चरित (सम्पादक व्ही० एस० भारद्वाज), पृ० २२८।

परिच्छेद २५

तेजपाल (प्रथम), महीपाल तथा विजयपालदेव

(१०८१-११५१ ई०)

अनंगपाल द्वितीय से मदनपाल तोमर तक, अर्थात्, सन् १०८१ से ११५१ ई० तक के ७० वर्ष में दिल्ली के तोमरों की वंशावलियों में तीन राजाओं के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। उनके नामों में भी समानता नहीं है। इन तीन राजाओं के नाम और उनके राज्यकाल हमने निम्न रूप में ग्रहण किये हैं[1]—

तेजपाल (प्रथम)	१०८१-११०५ ई०
महीपाल	११०५-११३० ई०
विजयपालदेव	११३०-११५१ ई०

इन राजाओं में से केवल विजयपालदेव का वि० सं० १२०७ (सन् ११५० ई०) का शिलालेख प्राप्त हुआ है। इनमें से किसी के भी सिक्के प्राप्त नहीं हुए। महीपाल के कुछ निर्माणों और उनसे सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ अवश्य प्राप्त हुई हैं।

महीपाल के निर्माण

ज्ञात होता है कि महीपाल तोमर (११०५-११३० ई०) ने अनंगपाल द्वितीय द्वारा बसाई राजधानी का विस्तार किया और उसी के पास महीपालपुर नगर बसाया। कुत्व-मीनार के पूर्व-उत्तर-पूर्व की दिशा में महीपालपुर नामक ग्राम बसा हुआ था और उसमें पौन मील लम्बा तथा चौथाई मील चौड़ा बाँध भी था। राजधानी का यह विस्तार महीपाल तोमर ने ही किया था। वहाँ उसने एक शिव-मन्दिर भी बनवाया था जिसके स्तंभ सफेद संगमरमर तथा लाल पत्थर के थे। इस मन्दिर के मसाले का उपयोग सुलतान गारी के मकबरे के निर्माण में किया गया था। श्री कनिंघम को इस मकबरे के संगमरमर के स्तम्भों के बीच शिवलिंग की योनि प्राप्त हुई थी।[2]

समकालीन राजवंश

तेजपाल (प्रथम), महीपाल तथा विजयपालदेव, इन तीन तोमर राजाओं के इतिहास की रूपरेखा उनके समकालीन चौहान राजाओं और गजनी के सुल्तानों की गतिविधियों की पृष्ठभूमि में ही प्रस्तुत की जा सकती है। उनकी तालिका निम्न रूप में है—

---

१. परिच्छेद १३ देखें।

२. परिच्छेद ३ देखें।

तोमर	चौहान	भारतीय स्रोतों से प्राप्त तुर्क नाम	गजनी के सुल्तान	पंजाब के तुर्क प्रशासक
तेजपाल (प्रथम) (१०८१-११०५)	विग्रहराज तृतीय (१०७०-१०९० ?)	सहावदीन	इब्राहीम	तुघातिगिन
	पृथ्वीराज प्रथम (१०९०-१११० ?)	वगुलीसाह	मसऊद तृतीय (१०९९-१११५)	
महीपाल (११०५-११३०)	अजयराज (द्वितीय) (१११०-११३५ ?)	सहावदीन	अर्सलान (१११५-१११८)	बाहलीम
विजयपाल (११३०-११५१)	अर्णोराज (११३५-११५० ?)		वहराम (१११८-११५२)	सालारहुसेन

यामिनी तुर्कों से संघर्ष

गजनी में इस काल में इब्राहीम का राज्य था। सन् १०९९ ई० में उसका पुत्र मसऊद तृतीय गजनी का सुल्तान बना। मसऊद तृतीय के राज्यकाल में उसके एक अधिकारी हाजिव तुघातिगिन ने भारत पर आक्रमण किया। ज्ञात होता है कि तुघातिगिन भी शाकंभरी की सीमा में से ही निकला था। प्रवंधकोष के अनुसार चाहमान पृथ्वीराज प्रथम का युद्ध किसी वगुलीसाह सुरत्राण से हुआ था जिसमें पृथ्वीराज ने उसकी भुजाएँ तोड़ दी थीं। हम इसका आशय यह समझते हैं कि तुघातिगिन चौहानों को पराजित न कर सका और वह आगे वढ़ गया तथा कन्नौज पहुँचा। कन्नौज पर गहढ़वालों ने अधिकार कर लिया था। तुघातिगिन ने गहढ़वाल राजा मदनचन्द्र को पराजित कर वंदी वना लिया। मदनचन्द्र के युवराज गोविन्द्रचन्द्र ने तुघातिगिन को पराजित कर दिया और अपने पिता को छुड़ा लिया।

मसऊद तृतीय के पश्चात् सन् १११५ में शीरजाद सुलतान बना, परन्तु वह एक वर्ष में ही मर गया और उसके पश्चात् उसका भाई अर्सलान सुलतान बना। अर्सलान ने अपने समस्त भाइयों को वन्दी वना लिया, केवल वहराम स्वतन्त्र रह सका। वहराम का मामा खुरासान का सुलतान था। उसने गजनी पर आक्रमण कर दिया और अर्सलान को पराजित कर दिया तथा वहराम को सुलतान वना दिया। इस झगड़े में अंत में विजय वहराम की हुई और सन् १११८ ई० में वह गजनी का सुलतान वन गया। इस समय पंजाव में अर्सलान की ओर से नियुक्त मुहम्मद बाहलीम प्रशासक था। वहराम ने वाहलीम पर आक्रमण किया और वाहलीम को उसकी आधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। जैसे ही वहराम ने पीठ फेरी वाहलीम ने नागौर (नागपुर) पर आक्रमण कर दिया। नागौर में उस समय तोमरों का सामन्त राज्य कर रहा था। उसे पराजित कर वाहलीम ने नागौर पर अपना कब्जा कर लिया और अपना समस्त खजाना और फौज उसने वहाँ एकत्रित कर लिए। उसने आस-पास के इलाकों को लूटना प्रारम्भ कर दिया। गजनी के सुलतान वहराम ने बाहलीम पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। चौहान अजयराज ने गर्जन मांतगों (गजनी के तुर्कों) पर विजय प्राप्त की थी, ऐसा

'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' का कथन है। ज्ञात यह होता है कि अजयराज ने बाहलीम का साथ दिया और वह गजनी के सुल्तान बहराम से लड़ा। ज्ञात यह भी होता है कि नागौर फिर तोमरों को वापस न मिल सका। सुल्तान बहराम ने सालारहुसैन को पंजाब का प्रशासक नियुक्त किया।

इसके पश्चात् बहराम और गौर के सुलतानों के बीच झगड़े प्रारम्भ हो गये। गौर के सुलतान सैफुद्दीन ने बहराम को पराजित कर दिया और उससे गजनी का तख्त छीन लिया। बहराम लाहौर भाग आया। अवसर पाकर सन् ११४९ ई० में बहराम ने गजनी पर पुनः अधिकार कर लिया और सैफुद्दीन को निर्दयतापूर्वक मार डाला। गौर के सुलतान अलाउद्दीन हुसेन ने गजनी पर आक्रमण किया और बहराम को फिर हरा दिया। बहराम पंजाब की ओर भाग आया। अलाउद्दीन ने गजनी पर कब्जा कर लिया, निरन्तर सात दिन और रात गजनी लूटी गई और उसके समस्त भव्य भवनों को जला-कर मिट्टी में मिला दिया गया। भारत की भयंकर लूट करने वाले महमूद ने गजनी में जो भव्य भवन खड़े किये थे वे सब राख में मिल गये। इसके पश्चात् बहराम ने पुनः गजनी को जीता। सन् ११५२ ई० में बहराम मर गया और उसका पुत्र खुशरवशाह गजनी का सुलतान बना। इस खुशरवशाह को सन् ११५७ ई० में गजनी छोड़नी पड़ी और उसका राज्य केवल लाहौर प्रदेश में सीमित रह गया।

चौहानों से सम्बन्ध

गजनी के यामिनी तुर्कों के इतिहास द्वारा उनके साम्राज्य की पूर्वी सीमा से मिले तोमर साम्राज्य की दशा का अनुमान किया जा सकता है। मसऊद तृतीय का पंजाब का प्रशासक तुघातिगिन ही एक ऐसा तुर्क सेनापति था जो गंगा पार कर कन्नौज पहुँचा था। तुघातिगिन ने भी तोमर साम्राज्य की सीमा में से प्रवेश नहीं किया था, वह चौहानों की राज्य-सीमा में से ही आगे बढ़ा था, और वहाँ भी उसे चौहान पृथ्वीराज प्रथम से पराजित होना पड़ा था। पंजाब के प्रशासक बाहलीम को नागौर (नागपुर) लेने में अवश्य सफलता प्राप्त हो गयी थी। तोमर महीपाल (११०५-११३०) के समय में उसके साम्राज्य को यह क्षति उठानी पड़ी थी। सुलतान बहराम की भी स्थिति कुछ मज-बूत नहीं थी। उसे अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए भारत की ओर प्रयास करने पड़ते थे। उसके ये प्रयास भी अजमेर की ओर ही हुए थे।

परन्तु यहाँ चौहानों के समकालीन राजाओं के इतिहास पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। 'हिन्दी विश्व-कोश'[1] में इसी काल के तोमर राजाओं के विषय में यह कथन किया गया है—"द्वितीय अनंगपाल ने मेहरौली के लौहस्तंभ की दिल्ली में स्थापना की। शायद इसी राजा के समय तोमरों ने अपनी नीति बदली। अपने राजपूत पड़ोसियों से उन्होंने युद्ध चालू रखा किन्तु मुसलमानों से संधि कर ली। इस नई नीति से क्रुद्ध होकर चौहानों ने दिल्ली पर और प्रबल आक्रमण किये।"

---

१. खण्ड ५, पृ० ४३७।

यामिनी तुर्कों के इतिहासों में तो इस संधि का विवरण नहीं मिल सका है ! 'विश्वकोश' के इस महत्वपूर्ण कथन का आधार हमने अन्यत्र दिया है।[1] इस युग के चौहान राजाओं का संक्षिप्त इतिहास देने के पश्चात् ही इस दुर्भाग्य पूर्ण कथन का सम्यक् विवेचन संभव हो सकेगा।

अनंगपाल द्वितीय और चौहान दुर्लभराज (तृतीय)

चौहान दुर्लभराज तृतीय (१०६५-१०७०) अनंगपाल द्वितीय के समकालीन थे। राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोष के अनुसार दूसलदेव गूर्जरराजाधिपति को बाँधकर अजयमेरु लाये थे और उनसे अपनी राजधानी में मठा बिकवाया था।[2] हम्मीरमहाकाव्य के अनुसार दुर्लभराज ने चौलुक्य राजा का वध ही कर डाला था। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार सिंह के समान इस वीर चौहान ने मातंग-समर में प्राण विसर्जित किये थे। ये मातंग गजनी के सुल्तान के सैनिक थे। सुल्तान इब्राहीम और उसके पुत्र महमूद ने भारत पर अनेक आक्रमण किये थे और लूट-पाट की थी। उनमें तोमरों के साम्राज्य के भी कुछ भाग लुटे थे। संभवतः इब्राहीम से युद्ध करते हुए ही दुर्लभराज वीरगति को प्राप्त हुए। कुछ तोमर सामन्त-सैनिकों को भी मरना पड़ा होगा। दुर्लभ का विग्रह चौलुक्यों से था, तोमरों से किसी विग्रह का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। अपने राजा के वध से क्रुद्ध होकर चौलुक्यों ने इब्राहीम को दुर्लभराज का वध करने के लिए प्रेरित किया था या नहीं, यह कहने का हमारे पास कोई आधार नहीं है, तथापि अनंगपाल द्वितीय ने तुर्कों से कोई संधि की हो, वह भी चौहानों के विरुद्ध, यह केवल निराधार विकृत कल्पना ही मानी जाएगी।

तोमर तेजपाल (प्रथम) और चौहान विग्रहर ज (तृतीय)

तोमर तेजपाल प्रथम के समकालीन चौहान राजा विग्रहराज तृतीय (१०७०-१०९०) हैं। प्रबन्धकोश के अनुसार यह परम लम्पट था और उसने एक महासती ब्राह्मणी के साथ बलात्कार किया था जिसके परिणाम स्वरूप उसका शरीर व्रणों से भर गया और वह मर गया। राजशेखर के इस कथन का तोमर-चौहान इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। विग्रहराज तृतीय का राजनीतिक इतिहास यह है कि वे परमारों की सहायता कर रहे थे और गुजरात के चौलुक्यों से लड़ रहे थे। हम्मीरमहाकाव्य के अनुसार विग्रह ने मालवा के सहाबदीन को समर-भूमि में मारा था। नयचन्द्र के इस कथन को महत्वहीन नहीं माना जा सकता। चौलुक्यों की राज्य-सीमा पर उस समय निश्चय ही किसी प्रदेश पर अरबों या तुर्कों की बस्ती थी। गुर्जराधिपति चौलुक्य कर्ण और इस सहाबदीन में मेल होना संभव है। विग्रह से युद्ध करते हुए सहाबदीन मारा गया और कर्ण पराजित होकर भाग गया, पृथ्वीराज-विजय-काव्य और हम्मीरमहाकाव्य को साथ-साथ पढ़ने से यही आशय निकलता है। शाकंभरी के राजाओं के दक्षिण-पश्चिम के इस झगड़े में उत्तर के तोमर कहीं दिखाई नहीं देते।

---

१. परिच्छेद ४ देखें।
२. प्रबन्धकोष, पृ० १३३ (सिंघी जैन-ग्रन्थमाला)।

तोमर तेजपाल प्रथम और चौहान पृथ्वीराज प्रथम

तेजपाल तोमर (प्रथम) के ही समकालीन थे चौहान पृथ्वीराज प्रथम (१०६०-१११०)। इनका इतिहास भी चौहान-चौलुक्य-विग्रह का इतिहास है। इनके राज्यकाल में चौलुक्यों ने पुष्कर पर आक्रमण किया था। उनका उद्देश्य यात्रियों को लूटना था। राजपूतों में शत्रुता का परिणाम यह भी होता था कि शत्रुदेश की प्रजा की लूट करने की शास्त्र-सम्मत छूट मिल जाती थी। चौहान पृथ्वीराज प्रथम को अपनी प्रजा की रक्षा के लिए पुष्कर जाना पड़ा। वहाँ उसने ७०० चौलुक्य सैनिकों को मार डाला। बहादुरी का कार्य किया, परन्तु उन ७०० में एक भी तोमर था ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अजमेर संग्रहालय की खंडित प्रशस्ति के वाक्यांश "हम्मीरसुरारिचक्र", "देवताओं के अरि हम्मीर का चक्र" को इसी पुष्कर-अभियान के संदर्भ में देखना बुद्धिसंगत होगा। पुष्कर में देवताओं के ही मन्दिर थे। उनका 'अरि' दिल्ली का तोमर नहीं था; वह 'मालवा' का सहावदीन तथा चौलुक्य सेनापति या राजा था।

पृथ्वीराज प्रथम ने किसी "बागुलीशाह सुरत्राण" की भुजाओं को मोड़ दिया था। यह बागुलीशाह 'तुघातिगिन' ज्ञात होता है। तुघातिगिन संभवत: शाकंभरी के पास से आगे बढ़ रहा होगा। पृथ्वीराज ने अपने राज्य की रक्षा की और उसकी भुजा को दूसरी दिशा की ओर मोड़ दिया, जिसका कुफल गहड़वाल मदनचन्द्र को भुगतना पड़ा। इस झगड़े में तोमरों का कोई हाथ नहीं था। उनका एक मात्र अपराध (?) यह था कि उनका सुरक्षा-प्रबन्ध दुर्बल नहीं था और वे शक्तिशाली थे, अन्यथा तुघातिगिन मदनचन्द्र गहड़वाल के समान तोमर महीपाल को भी बन्दी बना लेता।

महीपाल तोमर और चौहान अजयराज द्वितीय

तोमर महीपाल के समकालीन थे चौहान अजयराज द्वितीय (१११०-११३५)। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार अजयराज ने मालवा के परमारों के विरुद्ध युद्ध किया और उनके सेनानायक या माण्डलिक राजा को पराजित किया। इस समय गजनी का सुल्तान अर्सलान था और उसका पंजाब का प्रशासक था बाहलीम। प्रबन्धकोष के अनुसार अजयराज ने सुरत्राण सहावदीन को पराजित किया था। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार अजयराज ने 'गर्जन मातंग' अर्थात् गजनी के तुर्कों को पराजित किया था। यह 'गर्जन मातंग' या 'सहावदीन' बाहलीम ही है। बाहलीम को पंजाब के दक्षिण-पश्चिम की ओर परिस्थितियों से विवश होकर आना पड़ा था। गजनी का नया सुल्तान बहराम उसे पंजाब में चैन से बैठने ही नही देता था। उसने नागौर (नागपुर) का गढ़ अपने अधिकार में कर लिया। नागौर का गढ़ तोमरों के साम्राज्य में था, उसे तोमर राजकुमार नागदेव ने बसाया था। बाहलीम द्वारा नागौर पर अधिकार करने के कारण क्षति तोमर साम्राज्य की हुई थी न कि चौहान राज्य की। परन्तु चौहानों के एक इतिहासकार नागौर को उस समय चौहानों के राज्य का अंश बतलाते है।[1]

१. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ४०।

स्यात् सत्य यह हो कि नागौर तोमरों की थी, वालहीम ने उस पर कब्जा कर लिया, वालहीम और वहराम के युद्ध में अजयराज ने वालहीम का साथ दिया, क्योंकि उसने उनके राज्य को हानि नहीं पहुँचाई थी, और इसी कारण वहराम या सालारहुसेन ने अजयमेरु पर आक्रमण किया था।

अजयराज चाहमान का, एक इतिहास में, नागौर की पूर्व दिशा में मथुरा पर भी आधिपत्य दिखलाया गया है। अनंगपाल प्रथम के राज्यकाल तक तो मथुरा तोमरों के ही राज्य में थी, वह वहीं के विष्णु मन्दिर का विष्णुध्वज, लौहस्तम्भ दिल्ली ले गया था। डॉ० रामवृक्ष सिंह का यह मत है कि अजयराज द्वितीय की कुछ मुद्राएँ मथुरा और आसपास के प्रदेश में प्राप्त हुई हैं, इस कारण उनका राज्य मथुरा तथा बयाना तक पहुँच गया था।[1] वास्तव में यह अभिमत डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के एक लेख पर आधारित है।[2] ये मुद्राएँ चौहानों की मुद्राएँ नहीं हैं वरन् प्रतीहार अजयपालदेव की मुद्राएँ हैं। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि किसी तीर्थ या व्यापारिक केन्द्र में किसी राजा की मुद्राएँ प्राप्त होना, इस बात का प्रमाण नहीं है कि वहाँ उस राजा का राज्य था। ये मुद्राएँ शाकंभरी, अजयमेरु, कन्नौज या ग्वालियर का कोई यात्री भी अपने साथ ले जा सकता था और कोई व्यापारी भी ले जा सकता है। तोमरों की कुछ मुद्राएँ अफगानिस्तान में भी मिली हैं, परन्तु वहाँ तोमरों का राज्य कभी नहीं रहा। व्यापारियों के सार्थ भारत से उस ओर हिन्दूशाही के समय में भी जाते रहे और बाद में भी। मन्दिरों की लूटों में तोमरों की मुद्राएँ गजनी पहुँची थीं। तोमरों और प्रतीहारों की मुद्राएँ गजनी या अन्य स्थानों पर पहुँचीं और बाद में वहाँ मिली, इस कारण वह क्षेत्र इनके राज्य में था यह मानना सर्वथा अनुचित होगा।

विजयपाल तोमर और अर्णोराज चौहान

विजयपाल तोमर (११३०-११५१) तथा अर्णोराज चौहान (११३५-११५०) लगभग समकालीन हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे थे, इसका विवेचन करने के पूर्व श्री डॉ० दशरथ शर्मा के उस कथन का विवेचन आवश्यक है जो हिन्दी-विश्व-कोश के 'तोमर इतिहास' का आधार है[3]—

"गजनी के निर्बल सुल्तानों ने भी भारत के अनेक प्रदेशों में जो आक्रमण किये उसमें स्वयं भारतीय राजाओं का हाथ शायद कम न था। किन्तु संवत् ११८९ (सन् ११३२) के भारत में उत्तरकालीन भारत से स्वातन्त्र्य का कुछ अधिक प्रेम था; कम से कम उसमें कुछ ऐसे राजा तो वर्तमान थे जो इस गृह-घातिनी नीति के लिए दण्ड दे सकें। अनंगपाल जब दिल्ली की गद्दी पर था, शाकंभरी और अजमेर का राज्य अजयराज और उसके बाद उसके पुत्र अर्णोराज के हाथ में था। अजयराज को मुसलमान आक्रमणों से पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ा। संवत् ११९० (सन्

१. हिस्ट्री ऑफ द चाहमान्स, पृ० १३१।
२. इण्डि० एण्टि०, १९१२, पृ० २०९।
३. राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० १७।

११३३ ई०) के लगभग गजनी की सेना अजमेर के दरवाजे तक जा पहुँची। शायद इसमें अनंगपाल की मदद रही हो। मुसलमान हारे। जिस स्थान पर संग्राम हुआ था, वहाँ अब आना सागर बह रहा है। मुसलमानों के हारते ही अर्णोराज उत्तर की तरफ बढ़ा और उसने हम्मीर सुरारिचक्र की खबर लेना शुरू की। हरियाने में पहुँच कर उसने तंवरों को परास्त किया। बुलन्दशहर के डोड-राजपूतों को हराया और बढ़ता हुआ सिन्धु और सरस्वती तक पहुँचा।"

सन् १९५३ में किये गये इस कथन का समर्थन डॉ० शर्मा ने खिस्ताब्द १९६३ में भी किया है।[1]

सन् ११३३ में किसी अनंगपाल की खोज व्यर्थ है। इस विषय में हम विस्तार से पहले लिख चुके हैं।[2] इस भयंकर इतिहास-कथन के आधार पर भी हम विचार कर चुके हैं। अब अर्णोराज के इतिहास की कसौटी पर इस अवांछनीय लांछन को परखना है।

अर्णोराज का राज्यकाल डॉ० रामवृक्ष सिंह ने सन् ११३५ से ११५० तक माना है।[3] उनके द्वारा दिये गये कारण इतने पुष्ट हैं कि हमने उनका ही अनुसरण किया है। डॉ० शर्मा अर्णोराज के राज्य का प्रारम्भ ११३३ ई० बतलाते हैं, और उसी वर्ष गजनी की सेना ने अजमेर पर आक्रमण भी कर दिया, ऐसा उनका कथन है। अर्णोराज के उल्लेख युक्त पहला शिलालेख वि० स० ११९६ (सन् ११३९ ई०) का है। अतएव उसके पूर्व वे राज्यासीन हो गये थे इसमें सन्देह नहीं। वि० सं० १२०७ (सन् ११५० ई०) में चौलुक्य कुमारपाल ने अजयमेरु दुर्ग ध्वस्त कर चौहानों को अपना सामन्त बना लिया था और और उसके पश्चात् ही जगद्देव ने अपने पिता अर्णोराज की हत्या कर दी थी, इस कारण उसके राज्य की समाप्ति का वर्ष ११५० सुनिश्चित है। अब केवल प्रश्न यह है कि सन् ११३९ ई० के कितने वर्ष पूर्व अर्णोराज राजा बने थे। यदि डॉ० शर्मा का कथन ठीक माना जाए तब सन् ११३३ ई० अर्णोराज के लिए बहुत महत्व का समय था, सभी ग्रह उच्च के थे। पिता ने सन्यास लेकर उन्हें राजतिलक कर दिया, 'आना' ने अजमेर पर तुर्कों का आक्रमण विफल कर आना सागर लहरा दिया और मालवा में नरवर्मन परमार को समाप्त कर दिया; यह सब एक वर्ष में हो तो नहीं सकता, फिर भी, जो भी हुआ हो, दो-चार वर्ष इधर-उधर में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। तोमरों की मुसलमानों से साँठ-गाँठ का प्रमाण और 'आना' का पराक्रम उसके इतिहास के तथ्यों पर से ही ज्ञात हो सकेगा।

हेमचन्द्र सूरि के अनुसार अर्णोराज को पूर्वी मद्र और वाहीक के नगरों के राजाओं ने सहायता दी थी तथा वह उदीच्य-राट था। हेमचन्द्र का आशय 'उदीच्य' से गुजरात के उत्तर के शाकंभरी प्रदेश से ही था, हिमालय की तराई तक या काश्मीर तक के भारत के विशाल भू-भाग से नहीं था। हेमचन्द्र, संभवतः अनहिलपाटन को केन्द्र बनाकर लिख

१. इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध, प्रस्तावना, पृ० ५, पंक्ति २, ३ तथा ४।
२. परिच्छेद १ तथा ९ देखें।
३. हिस्ट्री ऑफ द चाहमान्स, पृ० ६७-६८।

रहा था। परन्तु वह वाहीक देश और पूर्वी मद्र-प्रदेश के राजाओं द्वारा अर्णोराज की सहायता करने का उल्लेख करता है, अतः इन्हें खोजना आवश्यक है। वाहीक देश लाहौर के उत्तर-पश्चिम में था और मद्र उसके भी पश्चिम में। इन प्रदेशों में सन् ११३३ से ११५० तक कौन राजा थे ? यामिनी वंश के इतिहासकारों ने कोई घटना ऐसी नहीं लिखी जिससे यह ज्ञात हो कि वहाँ कोई हिन्दू राजा शेष रह गया था। सिन्धु के पश्चिम में सभी स्थानों में तुरकाना फैला हुआ था।

अजमेर संग्रहालय की चौहान-प्रशस्ति के एक भाष्य के अनुसार अर्णोराज ने अजयमेरु के पास तुरुष्कों का निपात किया, मालवा के नरवर्मन को पराजित किया, अपनी सेना को सिन्ध और सरस्वती के किनारे तक बढ़ाया तथा हरितानक प्रदेश पर आक्रमण किया।[1]

इस प्रशस्ति के कथनों का परीक्षण कुछ बारीकी से करना होगा। यह अत्यन्त मनोरंजक बात है कि मालवा के नरवर्मन को वास्तव में हराया तो चौलुक्य जयसिंह ने था, परन्तु चौहान प्रशस्ति में उसका श्रेय दिया गया अर्णोराज को ! वे उस सेना में सिद्ध-राज जयसिंह के सामन्त के रूप में अवश्य गये होंगे परन्तु वह विजय उनकी नहीं, उनके स्वामी की थी। इस चौहान-प्रशस्ति के अन्य कथन भी इसी प्रकार के हैं।

अर्णोराज वास्तव में यदि सिन्धु और सरस्वती के किनारे तक विजय करते हुए पहुँचे थे तब निश्चय ही उनके द्वारा तोमरों के साम्राज्य का पश्चिमी प्रदेश छीन लिया गया होगा। और यदि वे अपनी सेनाओं को हरितानक प्रदेश से निकालते हुए यमुना तक पहुँच गये थे तब मथुरा नहीं तो कम से कम वर्तमान आगरा तक का भाग चौहानों के अधिकार में चला गया होगा। परन्तु इस प्रशस्ति के ये दावे या उनके भाष्य 'नरवर्मन् परमार की पराजय' के समान ही थोथे हैं।

अजमेर प्रशस्ति में सिन्धु और सरस्वती का उल्लेख निम्न रूप में आया है—

मन्ये समाक्रान्त-मरु-पिपासुः ससार सिन्धुञ्च सरस्वतीञ्च।

इस प्रशस्ति के अनुसार जल-विहीन मरुदेश द्वारा प्यासा बना दिये जाने के कारण और प्रह्लाद कूप से यह पिपासा शान्त न हो सकने के कारण अर्णोराज सिन्धु और सरस्वती के किनारे पहुँचा था।

इस कथन को हेमचन्द्र सूरि के कथन के साथ देखने से चित्र कुछ स्पष्ट होता है। यह स्मरण रखने योग्य है कि तोमरों का ठिकाना नागौर (नागपुर) तुर्कों ने छीन लिया था। वाहीक देश और पूर्वी मद्र देश पर तुर्कों का ही राज्य था। इन प्रदेशों में उस समय कोई भारतीय राजा शेष नहीं रह गया था। यह देखते हुए यह संभव है कि वाहीक और मद्र क्षेत्रों के तुर्कों की सहायता से अर्णोराज मुल्तान और लाहौर होते हुए सरस्वती के किनारे पहुँच गये। वहाँ से हाँसी, थानेश्वर और दिल्ली, फिर भी दूर थे। संभवतः उस ओर से तोमर साम्राज्य पर आक्रमण करने का साहस अर्णोराज और उनके सहायकों को नहीं हुआ। अजमेर-प्रशस्ति के शब्दों का दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता

---

१. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ४४।

है। संभव है कि शाकंभरी प्रदेश में कोई भीषण अकाल पड़ा हो और उससे पीड़ित होकर अर्णोराज सिन्धु और सरस्वती की ओर गये हों। परन्तु इन तथ्यों से ऐसा तो प्रकट नहीं होता कि अर्णोराज सिन्धु और सरस्वती के किनारे विजेता के रूप में पहुँचे थे।

हरितानक प्रदेश के आक्रमण की गाथा भी अद्भुत रूप में अस्पष्ट है। अजमेर-प्रशस्ति में लिखा है—

वाष्प-वारिणि कालिन्दी हरितानक-योषितां
सत्वाक्रान्तस्य मिलितां यत्प्रमाणे रजस्वला ॥

हरितानक निश्चय ही हरियाना है। इसका आशय कुछ इतिहासकारों ने यह लगाया है कि अर्णोराज और दिल्ली के तोमरों में युद्ध हुआ, तोमर हारे, परन्तु युद्ध निर्णायक नहीं हुआ, अर्थात् दिल्ली का राज्य चौहानों के वशवर्ती नहीं किया गया।[1]

प्रशस्ति के अनुसार अर्णोराज के सैनिकों के चलने से यमुना का जल मटमैला हो गया और हरितानक की स्त्रियों ने आँसू बहाये। अर्णोराज के सैनिक कालिन्दी को ओर किस अभिप्राय से गये थे और वे निर्बल अबलाएँ आँसू क्यों बहा उठीं, इन प्रश्नों के उत्तर अनेक हो सकते हैं। भूखा-प्यासा राजपुत्र क्या नहीं कर सकता। ज्ञात होता है कि मरुदेश द्वारा प्यासे बना दिये गये अर्णोराजा ने हरितानक के किसानों को लूट लिया, सैनिकों को जीवित तो रखना ही था! परन्तु हरितानक 'योषिताओं के आँसू बहाने' का आशय चौहानों और तोमरों का निर्णायक या अनिर्णायक युद्ध नहीं हो सकता।

वास्तविकता यह है कि अर्णोराज बहुत संकट में था। चौलुक्य राजा सिद्धराज जयसिंह ने उसे पराजित कर दिया था। अर्णोराज का यह समस्त इतिहास हम पहले दे चुके हैं; वह आजीवन चौलुक्यों का सामन्त रहा था[2], उसमें 'साम्राज्य'-वर्धन की शक्ति नहीं थी।

संभव है अर्णोराज की प्रशस्तियों का यह आशय हो कि वाहीक और मद्र देशों के तुर्क राजाओं की सहायता से अर्णोराज ने तोमर साम्राज्य के कुछ भागों पर दबाव दिया हो। हम यह आशय नहीं समझना चाहते, परन्तु यदि ऐसा कुछ हुआ भी हो तो वह दबाव सन् ११५० ई० में अर्णोराज की हत्या के साथ ही समाप्त हो गया।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि अर्णोराज ने जिन तुरुष्कों को अजयमेरु के पास मारा था वे उस अभागे बहराम के सैनिक थे जो गजनी से पराजित होकर बार-बार भारत की ओर भागता था। इस संदर्भ में हम केवल यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि अर्णोराज के राज्यकाल के अन्त तक चाहमानों द्वारा तोमर साम्राज्य को हानि पहुँचाने का कोई प्रसंग नहीं आया था और न तोमर-चौहान विद्वेष का कोई कारण ही उपस्थित हुआ था। अर्णोराज ने यदि मद्र और वाहीक के तुरुष्कों के साथ किसी अकाल का सामना करने के उद्देश्य से अथवा चौलुक्यों के प्रहारों से आत्मरक्षा के लिए विवश होकर अथवा

१. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ४६।
२. परिच्छेद ८ देखें।

किसी अन्य कारण से तोमर साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए कोई साँठगाँठ की भी हो तो वह विफल रही। राजनीति में इसे हम अर्णोराज का कोई जघन्य अपराध भी नहीं मान सकते हैं। सन् १०३८ में हाँसी की विजय करने के पश्चात् ही मसऊद को सलजूकों से लड़ना पड़ा था। उस युद्ध में हिन्दू सिपाहियों ने भी मसऊद की ओर से युद्ध किया था। उस युद्ध में मसऊद पराजित हुआ था। हिन्दूशाही राजाओं को भी यामिनी तुर्कों की सहायता करनी पड़ी थी। उस घटना के पश्चात् सौ वर्ष वीत चुके थे और इतने समय से यामिनी तुर्क पंजाव में अपना अधिकार जमाये हुए थे। वे अर्णोराज के पड़ौसी थे। कोई आश्चर्य नहीं है कि अपने संकट के समय अर्णोराज ने उनके साथ गठवन्धन किया हो।

परन्तु किसी भी राजवंश के आधुनिक इतिहास में उसकी निराधार स्तुति अथवा निंदा करना भारत के राष्ट्रीय इतिहास के साथ अनाचार है। अर्णोराज के समय में अजयमेरु पर तुर्कों ने इस कारण आक्रमण किया था कि उसने उनके आपसी विग्रहों में एक पक्ष का समर्थन किया था। उसमें न किसी अनंगपाल का हाथ था न विजयपाल का न किसी अन्य पाल का। यदि किसी का हाथ हो सकता तो वह उन चौलुक्यों का हो सकता है जिनके किसी पूर्वज से अर्णोराज के एक पूर्वज ने अजयमेरु में मठा विकवाया था, और जिनकी राजसभा के सलाहकार सपादलक्ष और उसके भी उत्तर में अपनी वात मनवाना चाहते थे। उन सलाहकारों के लिए विनोद में 'मारयमुण्डिकान' कहने मात्र से ही अर्णोराज की पूर्ण दुर्दशा हो गयी थी, वे उसे क्षमा करने वाले नहीं थे। अजयराज और अर्णोराज की परेशानी का कारण डॉ० शर्मा ने दक्षिण में खोजने के वजाय उत्तर में खोज डाला! उत्तर में संजीवनी मिलती है, राजशेखर सूरि के शब्दों में "राज-राक्षस" अजयमेरु के दक्षिण की ओर थे।[1] कहीं की खीज कहीं उतारने से सत्य हाथ नहीं आता।

ऐतिह्य तथ्यों के प्रति आंखें वन्द कर लेने के पश्चात् किये गये 'विश्वकोशादि' के इन कथनों की उपेक्षा ही उचित है; तथापि एक वात अवश्य हुई। अर्णोराज के राज्यकाल में, उसके पारिवारिक झगड़ों ने दिल्ली-सम्राट् तोमरों के भावी इतिहास को वहुत अधिक प्रभावित किया। वे भी उस झंझावात से मुक्त न रह सके।

कुमारपाल पूर्णतः जैनों के प्रभाव में आगया। वैष्णव और शाक्त तोमरों के लिए उसका परिणाम भयंकर हुआ। उधर सोमेश्वर भी उसी छाया में पलने लगा। गुजरात में ही उसके दोनों राजकुमार पृथ्वीराज और हरिराज पैदा हुए, पले और वढ़े। वे भी चौलुक्य राजसभा की परम्पराओं में रंगे हुए ही अजयमेरु आए। विग्रहराज चतुर्थ ने जिन परम्पराओं को स्थापित करने का प्रयास किया, वे सोमेश्वर के राज्यकाल में पूर्णतः वदल दी गयीं। यह आगे का इतिहास है।

मथुरा में केशवदेव-मंदिर का निर्माण

विजयपालदेव तोमर के राज्यकाल की एक महत्वपूर्ण घटना मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्मस्थल पर किसी जज्ज नामक व्यापारी द्वारा मंदिर निर्माण कराना है। अनुश्रुति यह है कि

१. प्रवन्धकोश, पृ० ५०, पंक्ति ६।

मथुरा के कटरा केशवदेव में ही वह स्थान था जहाँ कंस का कारागार था। इसी कारागार में वासुदेव कृष्ण का जन्म हुआ था। पौराणिक अनुश्रुति यह है कि यादव कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने अपने कुलदेवता की स्मृति में मंदिर बनवाया था। महाक्षत्रप शोडास (ई० पूर्व ८०-५७) के राज्यकाल में वसु नामक व्यक्ति ने श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर एक मंदिर, तोरण-द्वार और वेदिका का निर्माण कराया था, ऐसा उल्लेख शोडासकालीन एक शिलालेख में मिलता है। कान्तिपुरी के भवनाग ने संभवतः यहीं विष्णुध्वज के रूप में प्रसिद्ध लौहस्तम्भ खड़ा किया था। सन् १०३९ ई० में महमूद गजनवी ने इस मंदिर को जला कर धरती में मिला दिया था। महाराज विजयपालदेव के राज्य में संवत् १२०७ (सन् ११५० ई०) में जज्ज नामक सार्थवाह ने श्रीकृष्ण के जन्मस्थान पर फिर भव्य मंदिर बनवाया। सिकन्दर लोदी ने आगे इस मंदिर को भी तोड़ दिया।

मदनपाल देव

(११५१-११६७ ई०)

तोमर वंशावलियों के अनुसार विजयपाल के पश्चात् जो राजा हुआ उसका राज्य-काल २१ वर्ष २ मास १५ दिन का था। यह समय ११५१ ई० से ११७२ ई० आता है। खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि से निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि सन् ११५३-११६६ ई० के बीच में दिल्ली का राजा मदनपाल था। वि० सं० १६८५ की राजावलि में १७वें राजा का नाम मदनपाल दिया गया है। अतएव विजयपाल के पश्चात् मदनपाल का ही तोमर सम्राट् के रूप में अस्तित्व मानना उचित होगा। मदनपाल का अस्तित्व न केवल गुर्वावलि से सिद्ध होता है, वरन् ठक्कुर फेरु की 'द्रव्यपरीक्षा' में भी उसके सिक्कों के उल्लेख मिलते हैं तथा आधुनिक समय में भी मदनपालदेव के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनके एक ओर भाले सहित अश्वरोही तथा श्रीमदनपालदेव नाम है तथा दूसरी ओर नन्दी के साथ "माधव श्रीसमन्तदेव" श्रुतिवाक्य है।[1]

पंजाब में तुर्क राज्य

जहाँसोज अलाउद्दीन हुसेन ने सन् ११५१ ई० में गजनी जला दी, सात दिन और सात रात तक नगर जलता रहा। महमूद गजनवी, मसऊद प्रथम और इब्राहीम के अतिरिक्त सभी गजनवी सुल्तानों के मकबरों को उखाड़ फेंका गया। हजरत मुहम्मद के वंशज सैय्दों को छोड़ समस्त जनता को या तो तलवार के घाट उतार दिया गया या दास बना लिया गया। गजनी का सुल्तान बहराम मर गया और उसके पश्चात् उसका पुत्र खुशरवशाह सुल्तान बना। सन् ११५७ ई० में गुज तुर्कों ने गजनी छीन ली और खुशरवशाह लाहौर भाग आया। सुबुक्तगीन और महमूद के समय में निर्मित विशाल साम्राज्य में से अब उसके वंशजों के पास केवल पंजाब रह गया।

सन् ११६० ई० में खुशरवशाह की लाहौर में मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् पंजाब का राज्य उसके पुत्र खुशरवमलिक को प्राप्त हुआ। उसके समय में पंजाब के तुर्क राज्य का प्रत्येक अमीर अपने आपको स्वतंत्र राजा मानने लगा।

उधर गजनी की सल्तनत में भी दृश्य बदल रहा था। गुज तुर्क केवल दस वर्ष तक गजनी पर अधिकार रख सके और उसके पश्चात् उन्हें गौर के सुल्तानों ने पराजित कर दिया। गौर के सुल्तान गयासुद्दीन ने सन् ११७३ ई० में गुज तुर्कों से गजनी छीन ली और गजनी के तख्त पर अपने भाई शाहबुद्दीन मुहम्मद को बैठा दिया, जिसे मुईजुद्दीन मुहम्मद भी कहा जाता है। इसे भारतीय इतिहास में मुहम्मद गौरी या

---

१. परिच्छेद २ देखें।

शहाबुद्दीन गौरी के नाम से जाना जाता है। मुद्राओं पर इसका नाम "मुहम्मद सामे" के रूप में मिलता है। शहाबुद्दीन गौरी ने पंजाब के गजनवी राज्य पर भी आक्रमण किया और सन् ११८१ ई० में वह लाहौर के द्वार तक पहुँच गया। शहाबुद्दीन गौरी का इतिहास आगे के परिच्छेद का विषय है। इस परिच्छेद के लिए सम्बद्ध इतिहास केवल यह है कि मदनपाल तोमर के राज्यकाल में खुशरवशाह और खुशरवमलिक लाहौर को राजधानी बनाकर रह रहे थे और गजनी की ओर से निराश और प्रताडित होकर भारत के अन्य भाग प्राप्त करने के लिए प्रयासशील थे। खुशरवमलिक के अमीर भी लूट-पाट के लिए तोमर साम्राज्य पर धावे बोल रहे थे। उनकी गतिविधियाँ सपादलक्ष की ओर भी दिखाई देती हैं, तथा कभी गुजरात की ओर भी, परन्तु उनका विशेष लक्ष्य हाँसी और दिल्ली ही थे।

मदनपाल का तुर्कों से संघर्ष कम से कम दो बार हुआ था। सन् ११५१ या ११५२ ई० में कोई तुर्क सेना हाँसी की ओर बढ़ी थी, यह ललित-विग्रह-राज नाटक से प्रकट है। तुर्कों का दूसरा आक्रमण सन् ११६६ ई० में हुआ था, यह खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि से प्रकट है। हमारा अनुमान यह है कि ये दोनों आक्रमण मुल्तान के सुल्तानों द्वारा किये गये होंगे। उस राजवंश का कोई स्वतंत्र इतिहास-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस कारण उनके सुल्तानों की गतिविधियाँ ज्ञात नहीं हो सकी हैं। यह भी संभव है कि सन् ११५१ ई० का हाँसी का आक्रमण बहराम ने किया हो और सन् ११६६ ई० में खुशरव मलिक ने किया हो। दोनों भारतीय स्रोतों में केवल 'तुरुष्क' एवं 'म्लेच्छ' के रूप में उल्लेख होने के कारण स्थिति स्पष्ट नहीं हैं।

काशी के गहड़वाल

मदनपाल तोमर के राज्यकाल के प्रारम्भ होने के पहले से ही कन्नौज और काशी के गहड़वालों का अभ्युदय प्रारंभ हो गया था और वे अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में अस्तित्व में आ रहे थे। इस वंश के राजाओं की महत्वाकांक्षा ने उन्हें पश्चिम की ओर बढ़ने के लिए भी प्रेरित किया। यह स्वाभाविक था कि उनकी दृष्टि मथुरा, दिल्ली तथा कुरुक्षेत्र के समृद्ध और उपजाऊ क्षेत्रों की ओर जाती। तोमर साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिम में सपादलक्ष स्थित था। वहाँ के चौहानों से भी उनका संघर्ष अनिवार्य था। पश्चिम में तुर्क और पूर्व में गहड़वाल तथा दक्षिण में अजयमेरु के चौहान, इन तीन शक्तियों की गतिविधियों से तोमरों के इतिहास का आगे का अवशिष्ट काल प्रभावित हुआ था।

ज्ञात यह होता है कि गहड़वालों का मूल प्रदेश प्राचीन पद्मावती और नरवर के आसपास का क्षेत्र है। इसी प्रदेश में यशोविग्रह ने गहड़वाल वंश की स्थापना उस समय की थी जब इस प्रदेश में "सूर्य वंश के राजाओं की समाप्ति" हो गयी थी।[1] उसके वंश में महीचन्द्र (महीताल या महिपाल) हुआ। महीचन्द्र का पुत्र चन्द्रदेव हुआ। इस चन्द्रदेव

१. एपी० इण्डि, भाग १३, पृ० २१८; एपी० इण्डि०, भाग ६. पृ० ३०४।

ने गाधिपुर (कन्नौज) के राजा को पराजित किया।[1] सन् १०८० ई० के आसपास चन्द्रदेव ने कन्नौज को जीत लिया। चन्द्रदेव ने काशी, कुशिका (कन्नौज), उत्तर कौशल (अयोध्या) तथा इन्द्रस्थान तीर्थों का परिपालन करने के लिए अधिगमन किया था, ऐसा भी उसके एक शिलालेख में उल्लेख है[2] —

"तीर्थानि काशी-कुशिकोत्तरकोशलेन्द्रस्थानीयकानि परिपालयताधिगम्य"

यह कुछ तीर्थों के परिपालन मात्र के लिए अधिगमन था, इसे चन्द्रदेव की साम्राज्य-सीमा नहीं माना जा सकता। 'इन्द्रस्थान' को कुछ विद्वान इन्द्रप्रस्थ से अभिन्न मानते हैं। संभव है चन्द्रदेव ने निगमबोध की यात्रा की हो, परन्तु यह इन्द्रस्थान कहीं अयोध्या के पूर्व में होना चाहिए।

चन्द्रदेव को भारतीय इतिहासकारों ने एक कलंक से भी अलंकृत किया है। गजनी के सुल्तान इब्राहीम के बेटे महमूद ने कन्नौज पर आक्रमण कर वहाँ के राजा को पराजित किया था और उसके मध्ययुग के इतिहासकार के अनुसार कन्नौज में अपनी गजसेना की देखरेख के लिए उसने किसी चाँदराय को नियुक्त किया था। चाँदराय और चन्द्रदेव के नाम-साम्य के कारण गजसेना का यह निरीक्षक चन्द्रदेव गहड़वाल मान लिया गया है। महमूद गजसेना कन्नौज में ही क्यों छोड़ गया यह विचार करने की बात है। उसे आगे के अभियानों के लिए सैन्य-बल की अत्यधिक आवश्यकता थी। यह संभव नहीं है कि उसके पास महावत न हों, केवल नाम-साम्य और समकालीनता के आधार पर चन्द्रदेव को महमूद का गज-सेवक मानना असंगत है। संभव यह है कि महमूद द्वारा फैलाई गई अव्यवस्था से लाभ उठाकर चन्द्रदेव ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया हो और चाँदराय को भगाकर उन गजों को भी छीन लिया हो।

चन्द्रदेव के पश्चात् उसका पुत्र मदनदेव राजा हुआ। इसे 'मघवा' इन्द्र से भी अधिक प्रतापी कहा गया है।[3] मदनदेव का नाम मदनचन्द्र भी मिलता है। इसने कभी तोमर साम्राज्य की विजय की हो या मथुरा अथवा इन्द्रप्रस्थ (निगमबोध) की यात्रा की हो, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इसे कुछ विद्वानों ने 'मदनपाल' मान कर उसे मदनपाल तोमर की मुद्राओं का सृष्टा अवश्य मान लिया है।[4] बहुत प्राचीन मुद्रा शास्त्री ठक्कुर फेरू ने इन मुद्राओं को तोमर सम्राट् मदनपाल की ही माना है।

मदनचन्द्र के पश्चात् कन्नौज के राजा हुए गोविन्दचन्द्र। गोविन्दचन्द्र के उल्लेख युक्त वि० स० १२०७ (सन् ११५० ई०) के दो शिलालेख ग्वालियर और नरवर के बीच स्थित चिटौली ग्राम में मिले हैं।[5] रम्भामंजरी से प्रकट होता है कि गोविन्दचन्द्र ने दशार्ण (विदिशा) की विजय की थी और उसी समय उनके राजकुमार का जन्म हुआ था। इस

१. एपी० इण्डि०, भाग १८, पृ० १५।
२. इण्डि० एण्टि० भाग २५, पृ० ७; भाग २८, पृ० १८।
३. एपी० इण्डि०, भाग ६, पृ० ३२४, भाग १८, पृ० १२।
४. डॉ० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३०६।
५. आर्कीलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्‌स, भाग २, पृ० ३७८।

विजय के उपलक्ष में राजकुमार का नाम विजयचन्द्र रखा गया था।

चित्तौर और मथुरा के बीच कहीं 'रुद्रपल्ली' नामक जैन विहार था, ऐसा खरतर-गच्छ बृहद्गुर्वावलि से ज्ञात होता है। वि० सं० १२०७(सन् ११५० ई०) में गोविन्दचन्द्र का राज्य रुद्रपल्ली तक बढ़ गया था। रुद्रपल्ली में वासवदत्ता की प्रति उतारी गयी थी, उसकी पुस्तिका में "संवत् १२०७ श्रावण वदि ४ सोमे रुद्रपल्ली समावासे राज श्री गोविन्दचन्द्र विजयराज्ये" लिखा मिलता है।[1]

गोविन्दचन्द्र के दिल्ली के तोमरों के किस प्रकार के सम्बन्ध थे, यह स्पष्ट नहीं है। गोविन्दचन्द्र कुछ वर्षो के लिए मदनपाल तोमर का समकालीन था क्योंकि उसका राज्य-काल सन् ११५४ ई० तक अवश्य चला था।[2] रुद्रपल्ली तोमर साम्राज्य की सीमा से दूर नहीं होना चाहिए। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् कन्नौज का गहड़वाल राजा विजयचन्द्र हुआ था। इसके एक लेख में यह उल्लेख हैं कि उसने किसी हम्मीर को पराजित किया था।[3]

विजयचन्द्र के समय तुर्क 'हम्मीर' लाहौर और मुलतान में थे। वे उस समय तक हाँसी के पास वब्बरेक तक आते देखे जाते हैं। रुद्रपल्ली और वब्बेरक में बहुत अधिक दूरी नहीं है।

१६ जून ११६८ ई० (वि० सं० १२२४) को विजयचन्द्र गहड़वाल ने जयचन्द्र को युवराज पद पर आसीन किया था[4] और २१ जून ११७०-(वि० सं० १२२६) को जयचन्द्र राजा बन गया था। इस प्रकार संभवतः मदनपाल तोमर के राज्यकाल में ही विजय-चन्द्र का तुर्कों से कोई संघर्ष ११६७ ई० के लगभग हुआ होगा। वही वर्ष मदनपाल तोमर की मृत्यु का है। इन तथ्यों से प्राप्त संभावित परिणामों पर आगे विचार किया गया है।

मदनपाल और शाकंभरी का चाहमान विग्रहराज चतुर्थ

चौहान अर्णोराज को चौलुक्य कुमारपाल ने अपना सामन्त बना लिया था, इसका इतिहास पूर्व के परिच्छेद में दिया जा चुका है। सन् ११५० के आसपास अर्णोराज

---

१. जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह, भाग १, पृ०६ (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला) तथा राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर द्वारा प्रकाशित "वासवदत्ता कथा", प्रस्तावना, पृ० ५।

२. एपी० इण्डि०, भाग ४, पृ० १६।

३. इण्डि० एण्टि०, भाग १५ पृ० ६।

४. डॉ० रामशंकर त्रिपाठी ने (हिस्टी ऑफ कनौज, पृ० ३२०) यह अभिमत व्यक्त किया है कि संभवतः विजयचन्द्र गहड़वाल ने दिल्ली जीत ली थी और विजयचन्द्र से विग्रहराज चतुर्थ ने दिल्ली जीती थी। जिस शिलालेख के आधार पर यह अनुमान किया गया है उसमें "हम्मीर-नारी" के नयनों से जलधारा बहाई गई है, न कि तोमर-नारी के नयनों से। डॉ० त्रिपाठी का अनुमान अपुष्ट और अग्राह्य है।

को उसके पुत्र जगद्देव ने मार डाला और स्वयं राजा बन बैठा। उसकी विमाता का पुत्र सोमेश्वर कुमारपाल के साथ गुजरात चला गया था। परन्तु जगद्देव की माता सुवला का दूसरा पुत्र विग्रहराज अभी शाकंभरी में ही था। जगद्देव के जघन्य कृत्य से वह बहुत विचलित और क्रुद्ध हुआ। उसने जगद्देव की हत्या कर दी और स्वयं राज्य ग्रहण किया।

विग्रहराज चतुर्थ ने जिन परिस्थितियों में राज्य ग्रहण किया था, वे अत्यन्त हतोत्साहकारी थीं। चौलुक्य कुमारपाल उसे अपना अधीनस्थ राजा मानता था। सन् ११६३ या ११६५ तक निश्चय ही कुमारपाल यह दावा करता रहा।[1] हेमचन्द्र सूरि के प्रभाव के कारण तथा प्रधानतः राज्य प्राप्ति में जैनों द्वारा सहायता मिलने के कारण कुमारपाल ने जैन-धर्म अंगीकार कर लिया था। सन् ११६४ ई० के पूर्व ही उसने अपने साम्राज्य में जीवहत्या का निषेध कर दिया। देवताओं के समक्ष बलि के लिए भी कोई जीवहत्या नहीं कर सकता था। हिन्दू धर्मावलम्बियों को पशु-बलि के स्थान पर अन्न की बलि देनी पड़ती थी। कुमारपाल की प्रशस्ति के अनुसार इस आदेश का पालन सौराष्ट्र, लाट, मालवा, आभीर, मेदपाट, मेरु तथा सपादलक्ष में किया जाता था। कुमारपाल के कुछ सामन्तों ने स्वयं भी इस प्रकार के आदेश प्रचलित किये थे। इससे यह स्पष्ट है कि विग्रहराज चतुर्थ को अपने समस्त राज्यकाल में चौलुक्य कुमारपाल के आदेशों का पालन करना पड़ा था। विग्रहराज जैन नहीं था, इस प्रकार के आदेश उसे बहुत प्रिय नहीं ज्ञात हुए होंगे। इसके कारण उसका कुमारपाल के साथ विग्रह भी हुआ था।[2]

पूर्व की ओर से गहड़वाल भी आगे बढ़ते आ रहे थे।

इन समान संकटों के निवारण के लिए चाहमान विग्रहराज चतुर्थ तथा मदनपाल तोमर ने संयुक्त रूप से प्रयास किये हों यह स्वाभाविक है।

देसलदेवी और विग्रहराज चतुर्थ का विवाह

चौहान विग्रहराज चतुर्थ के राजकवि सोमदेव द्वारा लिखित ललित-विग्रहराज-नाटक से यह प्रकट होता है कि विग्रहराज का विवाह इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की राजकुमारी से हुआ था। यद्यपि यह नाटक खण्डित रूप में प्राप्त हुआ है तथापि उसके प्राप्त अंशों में भी पर्याप्त इतिहास-सामग्री उपलब्ध होती है। यह वसन्तपाल कौन है और उसकी राजधानी इन्द्रपुर कहाँ है इसकी पहचान करने का साधन भी इस नाटक के प्राप्त अंश में मिल जाता है।[3]

इस नाटक के चौथे अंक के उपलब्ध अंश का प्रारंभ तुरुष्कों की हलचल से होता है। दो तुरुष्क बन्दी बनाकर लाये जाते हैं, वे चौहान राजा का वैभव और सैन्यबल देखकर चमत्कृत होते हैं। इधर चौहान राजा अपने भेजे हुए गुप्तचर के न लौटने से

१. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, क्र० ८२; एपी० इण्डि०, भाग, १८, पृ० ३४३।
२. कुमारपाल-चरित्र-संग्रह, (सिन्धी जैन-ग्रन्थ-माला), पृ० २९।
३. परिच्छेद ५ भी देखें।

चिंतित दिखलाये जाते हैं। तभी उनका गुप्तचर आ जाता है और सूचना देता है कि तुरुष्कों की सेना बव्वेर नामक स्थान से तीन योजन दूर थी और अब एक योजन दूर रह गई है।

इस बव्वेर की भौगोलिक स्थिति खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि से प्रकट होती है। उसके अनुसार जिनचन्द्र सूरि अजयमेरु से बव्वेरक गये। बव्वेरक से वे आसिका पहुँचे और आसिका से महावन होते हुए इन्द्रपुर पहुँचे।[1] आगे का उल्लेख स्थिति को और भी स्पष्ट कर देता है। विक्रम संवत् १२२८ में जिनपति सूरि ने बव्वेरक में विहार किया। आसिका के राजा भीमसिंह को जब यह ज्ञात हुआ कि सूरिजी इतने निकट आ गये हैं तब वह उन्हें लेने के लिए पहुँचा।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बव्वेरक या बव्वेर हाँसी के अति निकट था। हाँसी और इन्द्रपुर अर्थात् इन्द्रप्रस्थ के मार्ग में महावन था। हांसी मदनपाल के समय तोमरों के अधीन थी। इन सब तथ्यों के देखते हुए यह कहा जा सकता है कि तुरुष्कों का यह आक्रमण इन्द्रप्रस्थ के राजा के विरुद्ध हुआ था, जिसका नाम अन्य स्रोतों से मदनपाल प्राप्त होता है। नाटक का 'वसन्तपाल' मदनपाल का ही अनुवाद है।[3]

चौलुक्यों और चौहानों के तत्कालीन सम्बन्धों को देखते हुए यह बहुत संभव है कि विग्रहराज चतुर्थ ने तोमरों से विवाह सम्बन्ध स्थापित करना राजनीतिक दृष्टि से भी उपयोगी समझा हो। तत्कालीन इतिहास में इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की अनेक रीतियाँ थीं। एक रीति सिद्धराज जयसिंह और अर्णोराज के संदर्भ में प्रकट होती है। जयसिंह ने अर्णोराज को पराजित करने के पश्चात् अपनी राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर दिया। दूसरी रीति कुमारपाल चौलुक्य के इतिहास से ज्ञात होती है। उसने अर्णोराज को पराजित किया और उसे विवश किया कि वह अपनी राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर दे। एक तीसरी रीति लोक-व्यवहार की है। इसके अधीन सुहृद सम्बन्ध स्थापित होकर विवाह होते रहे हैं। ललित-विग्रहराज-नाटक से यह प्रकट होता है कि देसलदेवी और विग्रहराज चतुर्थ का विवाह तीसरी रीति से हुआ था। जब विग्रहराज के मन्त्री श्रीधर ने उसे यह परामर्श दिया कि राजा तुर्क सुल्तानों से विग्रह मोल न ले तब विग्रहराज ने निम्नलिखित उत्तर दिया था—

अकीर्तिः काप्युच्चैः सुहृदभयदान व्रतहति–
स्तथा ध्वंसस्तीर्थद्विजसुमनसां वीर्यविगमः।
मर्मतेषु व्यष्टेष्वपि भृशमसह्येषु सकला–
निमानङ्गीकर्तुं कथयत विधेयं किमसुभिः॥

विग्रहराज ने तीर्थों, मंदिरों और ब्राह्मणों की रक्षा का उल्लेख क्यों किया था इस पर विचार करना अभी अप्रासंगिक है, यहाँ प्रासंगिक यह है कि "सुहृद-अभय-दान" से

१. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, पृष्ठ २०।
२. वही, पृष्ठ २३।
३. परिच्छेद ५ देखें।

विग्रहराज का क्या तात्पर्य है। हाँसी या इन्द्रप्रस्थ के पास विग्रहराज का सुहृद कौन था ? हमारे अभिमत में वह मदनपाल तोमर था जिसकी राजकुमारी से विग्रहराज चतुर्थ का विवाह शीघ्र ही होने जा रहा था। हमारा अनुमान यह भी है कि विग्रहराज चतुर्थ सेना सहित हाँसी पहुँचे। मदनपाल भी तुरुष्कों की वाढ़ को रोकने के लिए सेना सहित हाँसी पहुँचे। तोमरों और चौहानों की संयुक्त-वाहिनी ने तुरुष्क सेना को भगा दिया, मदनपाल विग्रहराज के शौर्य से प्रभावित हुआ, उसे दिल्ली ले गया और वहाँ वड़ी धूमधाम से देसलदेवी तथा विग्रहराज का विधिवत् विवाह सम्पन्न हुआ। देसलदेवी अजयमेरु आईं। कुछ समय पश्चात् अपरगांगेय का जन्म हुआ। विग्रहराज संवत् १२२० (सन् ११६३ ई०) के आस-पास फिर दिल्ली पहुँचे। देसलदेवी के साथ वे अनेक तीर्थों पर गये। उत्तर में यमुना के किनारे उस समय के प्रसिद्ध तीर्थ थे, वे वहाँ भी गये। वहाँ अशोककालीन प्राचीन स्तम्भ खड़ा हुआ था उस पर उनके द्वारा प्रशस्ति अंकित कराई गई, जहाँ उनके प्रशस्तिकार ने यह वात लिखी कि विग्रहराज ने समस्त आर्यावर्त को वास्तव में आर्यावर्त का रूप दिया, और यह भी लिखा कि तीर्थयात्रा के प्रसंग में वे विन्ध्य से हिमाद्रि तक गये।[1]

इसी समय उन्हें दूसरे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम अनेक स्रोतों से नागार्जुन, नागदेव अथवा दिवाकर प्राप्त होता है।

संभवत: ११६४ ई० में विग्रहराज की मृत्यु होगई।

कुमारपाल चौलुक्य के वल से संपुष्ट कर्पूरदेवी, सोमेश्वर और उनके दो पुत्र पृथ्वीराज तथा हरिराज अनहिलपाटन में वैठे शाकंभरी के सिंहासन की ओर सतृष्ण दृष्टि से देख रहे थे। इधर जगद्देव का पुत्र पृथ्वीभट्ट भी अपने गुहिलपुत्र मामा की सहायता से उस पर अपना दावा कर रहा था। इन क्रूर ग्रहों के वीच भी मदनपाल की पुत्री का राजकुमार अपरगांगेय शाकंभरी का राजा हो सका। यद्यपि 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में विग्रहराज चतुर्थ की मृत्यु का उल्लेख यह लिखकर किया गया है कि अनहिलपाटन में पले "सोमेश्वर के दो पुत्रों के कारण पृथ्वी को सनाथ जानकर विग्रहराज ने अपने को कृतार्थ माना और वह शिव के सान्निध्य में पहुँच गया" तथापि यह स्पष्ट है कि मदनपाल का प्रभाव ही इन महत्वाकांक्षियों को अपने कोटर से निकल कर शाकंभरी की ओर झपटने से विरत रख सका होगा।

अपरगांगेय को राज्यारूढ़ कराने के एक-दो वर्ष पश्चात् सन् ११६७ ई० में मदनपाल की मृत्यु हो गयी और अपरगांगेय, नागार्जुन तथा देसलदेवी के दुर्दिन प्रारंभ हुए।

जैन और ब्राह्मण विश्वासों का समन्वय

कुमारपाल चौलुक्य द्वारा जैन सूरियों और जैन श्रेष्ठियों तथा मंत्रियों को वढ़ावा देने का प्रभाव भी विग्रहराज चतुर्थ और मदनपाल की गतिविधियों पर पड़ा था। विग्रहराज, संभवत:, जैन-विरोधी नहीं था, तथापि विवश होकर अपनी इच्छा के विपरीत जैन सम्प्रदाय

१. परिच्छेद ७ देखें।

का बढ़ावा देना भी उसे रुचिकर नहीं था। कुमारपाल चौलुक्य उसकी इच्छा के विपरीत नागौर में जैन चैत्यों के निर्माण के लिए सपादलक्ष के राज्य की भूमि छीनना चाहता था। विग्रहराज ने इस माँग को अस्वीकार किया। इसे ही कुमारपाल ने जैन-विरोध मान लिया और नागौर पर आक्रमण कर दिया।[1] विग्रहराज बड़ी कठिनाई से नागौर की रक्षा कर सका। विग्रहराज ने कुमारपाल के उस आदेश का भी पालन नहीं किया जिसके द्वारा महानवमी के दिन भी पशु-बलि का निषेध किया गया था। धर्मघोष सूरि के आग्रह पर उसने स्वेच्छा से केवल इतना किया कि एकादशी के दिन-पशु बलि का निषेध कर दिया।[2] उसके 'वास्तविक आर्यावर्त्त' का आशय केवल उसे म्लेच्छों से मुक्त करा देना ही नहीं था, वरन् क्षत्रियों और ब्राह्मणों को अपने त्यौहारों को वैदिक रीति से मनाने की पूर्ण सुविधा देना भी था।

मदनपाल तोमर निश्चय ही चौलुक्य कुमारपाल के किसी आदेश से बँधा हुआ नहीं था। उसने जैन मुनियों के पशु-बलि बंद करने के आग्रह को भी स्वीकार नहीं किया। दिल्ली में योगमाया, कालिका और भैरव के मंदिरों पर पशुबलि दी जाती थी। खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि से यह प्रकट होता है कि श्री जिनचन्द्र सूरि के गुरु श्री जिन-दत्त सूरि कभी दिल्ली में मदनपाल के पास पधारे थे और उससे यह आग्रह किया था कि वह योगिनीपुर में होने वाली पशु-बलि बंद करा दे। मदनपाल ने इसे स्वीकार नहीं किया और सूरिजी को यह आदेश दिया कि वे योगिनीपुर में फिर कभी न पधारें।[3]

सन् ११६५ (संवत् १२२२) तक यह स्थिति बदलने लगी थी। ब्राह्मणों और तीर्थों का रक्षक, मदनपाल का सुहृद, विग्रहराज चतुर्थ स्वर्गवासी हो चुका था। मदनपाल की पुत्री देसलदेवी का राजकुमार अमरगांगेय यद्यपि राज्यारूढ़ हो गया था तथापि वह अवयस्क था और उसके राज्य को सोमेश्वर तथा पृथ्वीभट्ट हड़प जाना चाहते थे। अब मदनपाल में वह दृढ़ता और साहस नहीं था कि जैन सूरियों के आग्रह की खुले रूप में अवहेलना कर सकता।

वि० सं० १२२३ (सन् ११६६) में श्री जिनचन्द्र सूरि दिल्ली के पास चौरसिन्दा-नक नामक ग्राम में पहुँचे। वहाँ म्लेच्छ-कटक भी था। सूरि महाराज ने अपने प्रताप से उनकी दृष्टि को अवरुद्ध कर दिया। उनका समस्त सार्थ म्लेच्छों को दिखा ही नहीं, मानों उसके चारों ओर कोट खिंचा हो। परन्तु संभवतः मदनपाल को इस म्लेच्छ-कटक के आगमन का समाचार मिल चुका था। उसे यह समाचार भी मिल चुके होंगे कि सोमेश्वर तथा पृथ्वीभट्ट शाकंभरी में उपद्रव कराने की तैयारी कर रहे है। जैसे ही उसे सूरिजी के आगमन का समाचार मिला वह उन्हें दिल्ली लाने के लिए नगर के बाहर गया और सूरिजी से प्रार्थना की कि वे दिल्ली चल कर उसका गृह पवित्र करें। मुनि महाराज को अपने गुरु जिनदत्त सूरि का कथन स्मरण हो आया—

१. कुमारपाल-चरित-संग्रह (सिंघी जैन ग्रन्थमाला), पृ० २९-३०।
२. केटेलॉग ऑफ पामलीफ मैनुस्क्रप्ट्स् इन द पाटन भंडार, पृ० ३७०।
३. परिच्छेद ६ देखें।

"श्रीमदनपालमहाराजोपरोधाद् युष्माभिर्योगिनीपुरमध्ये कदापि न विहर्तव्यमि"

अतएव श्री जिनचन्द्र सूरि ने राजा के आग्रह का कोई उत्तर ही न दिया।

राजा ने पुनः आग्रह किया कि वे दिल्ली नगर में पधारें। संभवतः कुछ आश्वासन भी दिया, तब सूरिजी दिल्ली पधारे।

महानवमी का त्यौहार आगया। काली और भैरव के मन्दिरों में पशु-बलि होना अनिवार्य था। मदनपाल को उसे बन्द करना पड़ा। सूरिजी ने इसके बदले भैरव की मूर्ति की स्थापना पार्श्वनाथ के मन्दिर के एक स्तम्भ पर कर दी और उसका नाम 'अतिबल' देवता रख दिया। श्रावकों ने उसके भोग लगाना प्रारंभ किया। जैन और ब्राह्मण विश्वासों का सामंजस्य स्थापित हो गया। कालिका के मंदिर में भी जैन श्रावक दर्शनों के लिए जाने लगे। आज भी जब जैन वैश्यों में विवाह होता है तब नवदम्पति इस मन्दिर में आराधना के लिए जाते हैं।[1] योगिनीपुर के योगमाया मन्दिर में आज भी मदिरा और मांस का चढ़ावा वर्जित है।[2]

परन्तु हमारा अनुमान है कि यह जैन-ब्राह्मण सामंजस्य मदनपाल की विवशता का परिणाम था[3]।

श्री जिनचन्द्र सूरि की दिल्ली यात्रा का राजनीतिक परिणाम

श्री जिनचन्द्र सूरि की इस दिल्ली यात्रा का समय भी इतिहास में बहुत महत्व-पूर्ण है। गुजरात का चौलुक्य कुमारपाल खुले रूप में जैन हो गया था तथा तुरुष्कों से भी मेलजोल बढ़ रहा था। श्री हेमचन्द्राचार्य चक्रेश्वरीदेवी के माध्यम से किसी अन्त-रिक्ष (?) मार्ग से तुर्क सुलतानों से उसकी भेट करा देते थे।[4] कुमारपाल तथा हेमचन्द्राचार्य समस्त उत्तर और उत्तर-पश्चिमी भारत को अहिंसक बना देने के लिए घोर प्रयास कर रहे थे। शाकंभरी पर किशोर अपरगांगेय का राज्य था, जिस पर सोमेश्वर की क्रूर दृष्टि थी और पृथ्वीभट्ट भी उसे हस्तगत करना चाहता था। जैन सूरियों की "अभि-लाषा" से तुरुष्क भी दिल्ली तक मँडराने लगे थे। मदनपाल इस समय तक पर्याप्त वृद्ध हो गया होगा। मदनपाल ने श्री जिनचन्द्र सूरि को प्रसन्न कर अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। उसके समृद्ध अनुयायी—व्यापारी उपद्रव करने से विरत हुए, कुमारपाल ने भी सोमेश्वर को शाकंभरी की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। पृथ्वीभट्ट भी सिर उठाने का साहस नहीं कर सका। इस प्रकार सूरिजी की कृपा से कुछ दिनों के लिए मदनपाल के अनेक संकट दूर हो गये।

---

१. दिल्ली की खोज, पृ० २५।

२. वही, पृ० २

३. परिच्छेद ६ देखें।

४. फार्बस : रासमाला, प्रथमभाग (उत्तरार्ध), पृ० २०७ (हिन्दी अनुवाद, मंगल प्रकाशन जयपुर); टॉड : ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया (हिन्दी अनुवाद, आदर्श हिन्दी पुस्त-कालय, इलाहाबाद), पृ० २०४ तथा २०५।

परन्तु उन तुरुष्कों का क्या हुआ, जो दिल्ली के आसपास मँडरा रहे थे? ये तुरुष्क संभवतः सिहाबउद्दीन के नेतृत्व में आए थे।[१] संभव है मदनपाल को अब विजयचन्द्र गहड़वाल से सहायता लेना पड़ी हो तथा विजयचन्द्र और मदनपाल ने उन तुरुष्कों को पराजित किया हो। ज्ञात यह होता है कि मदनपाल की इसी युद्ध में मृत्यु हो गयी। विजयचन्द्र के विषय में तो यह लेख प्राप्त हुआ है कि उसने हम्मीरों की नारियों के नयनों के जलद की धारा बहा कर भूलोक के ताप को नष्ट किया[२], परन्तु मदनपाल की विक्रम-गाथा अंकित करने वाला कोई अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। परिस्थितियाँ इस ओर इंगित अवश्य करती है कि "भूलोक के ताप" को नष्ट करने के लिए मदनपाल को जीवनोत्सर्ग करना पड़ा होगा। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, मदनपाल की मृत्यु सन् ११६७ ई० में हुई।

संगीतज्ञ दिल्ली-सम्राट् मदनपाल

खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि में जिनपाल उपाध्यक्ष ने मदनपाल की राजसभा का जैसा वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि वह संगीत और काव्य का आश्रयदाता था। यह वर्णन उस समय का है जब मदनपाल वृद्ध हो गया था। प्रमाण यह भी प्राप्त होते हैं कि वह स्वयं भी बहुत बड़ा संगीतज्ञ था और अनेक रागों का जन्मदाता था।

अनुश्रुति यह है कि विग्रहराज चतुर्थ के साथ जब उसने तुरुष्कों को पराजित किया तब हाँसी के उस रणक्षेत्र का नाम जय-जयवन्ती रखा गया तथा इसी नाम के एक राग की कल्पना की गयी। ध्रुपद गायकों का यह प्रिय राग है। अनुमान यह है कि मदनपाल तोमर के पूर्वज भी संगीत प्रेमी थे। सम्भव है उनकी मुद्राओं के श्रुतिवाक्य "असावरी श्री समन्तदेव" में असावरी रागिनी के प्रेम का भी प्रभाव हो।

दिल्ली-सम्राट् मदनपाल ने "आनन्द-संजीवन" नामक संगीत ग्रन्थ की रचना की थी, ऐसी सूचना डॉ० बृहस्पति ने दी है।[३] परन्तु उक्त विद्वान ने इस मदनपाल को कोई दाक्षिणात्य बतलाया है और उसका समय सन् १३५० ई० अनुमानित किया है। यह "दिल्ली सम्राट्" बारहवीं शताब्दी का मदनपाल तोमर है। डॉ० मेहेण्डाले ने इस मदनपाल के विषय में दो विपरीत कथन किये हैं। एक स्थल पर उक्त विद्वान ने लिखा है कि धर्मशास्त्र के ग्रन्थ मदन-विनोद-निघण्टु का रचियता मदनपाल गहड़वाल राजा था और उसने ही संगीत, नृत्य-वाद्य तथा रागों के विषय में आनन्द, संजीवन नामक ग्रन्थ लिखा था।[४] अन्य स्थल पर उक्त विद्वान ने लिखा है[५] "यमुना के काष्ठा में राज्य

---

१. फरिश्ता : ब्रिग्स, भाग १, पृ० ५१७।

२. इण्डि० एण्टी., भाग १५ पृ० ६ :—

भुवनदलन हेलाहर्म्य हम्मीर नारी
नयन-जलद-धारा धौत भूलोकतापः

३. डॉ० कैलासचन्द्र देव बृहस्पति : भरत का संगीत सिद्धान्त, पृ० ३१०।

४. द दिल्ली सल्तनत (भारतीय विद्याभवन), पृ० ४८७।

५. वही, पृ० ४७८।

करने वाले टाकवंशी राजा मदनपाल के प्रश्रय में धर्मशास्त्र तथा अन्य विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया था। मदन-पारिजात, स्मृति-महार्णव अथवा मदन महार्णव, तिथि-निर्णयसार तथा स्मृति-कौमुदी वे ग्रन्थ हैं जो मदनपाल द्वारा विरचित कहे जाते हैं। मदन-पारिजात यद्यपि मदनपाल द्वारा लिखी कही जाती है तथापि उसका वास्तविक रचयिता सुबोधिनी का लेखक, पेडिभट्ट एवं अम्बिका का पुत्र, विश्वेश्वर भट्ट था, जो द्रविड़ देश का निवासी था तथा सुबोधिनी की रचना करने के पश्चात् उत्तर भारत में चला गया।......महार्णव, जिसका रचियता मदनपाल का पुत्र मान्धाता कहा जाता है, इस विषय का विवेचन करता है कि पूर्वजन्म के पापों के परिणाम स्वरूप रोगों का उदय किस प्रकार होता है और किन उपचारों तथा प्रायश्चित्तों से उनका निवारण किया जा सकता है।......इनके अतिरिक्त मदनपाल ने अन्य अनेक ग्रन्थों का संकलन किया था, जिनमें से मदन-निघण्टु प्रसिद्ध है तथा जिसका वर्णन आगे किया जायगा। मदन-पारिजाति तथा महार्णव में स्मृति चन्द्रिका तथा हेमाद्रि के चतुर्वर्ग चिन्तामणि का उल्लेख है इस कारण मदनपाल का समय पूर्वतम १३०० ई० हो सकता है।"

गहड़वाल राजा का नाम मदनचन्द्र था, उसका यही नाम शिलालेखों में प्राप्त होता हैं। यमुना के कांठे में टाकवंशीय कोई मदनपाल नहीं हुआ था, टक्कों का राज्य कभी यमुना तीर पर रहा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। कहीं कोई न कोई भयंकर भ्रम अवश्य हैं। दिल्ली-सम्राट् मदनपाल तोमर का अस्तित्व सन् ११६७ ई० तक था, इस तथ्य को मानकर इन समस्त ग्रन्थों के रचयिता का पुनर्परीक्षण आवश्यक है। ज्ञात यह होता है कि अनेक 'मदन' अभिधानधारियों को एक में गूँथ दिया गया है। इस परिस्थिति में अभी केवल इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आनन्द-संजीवन संगीत-ग्रन्थ का रचयिता 'दिल्ली सम्राट्' मदनपाल तोमर था। सम्भव है 'महार्णव' का रचयिता भी मदनपाल तोमर का कोई राजकुमार हो, यह अधिक सम्भव है कि पृथ्वीराज तोमर को ही मान्धाता कहा गया हो। परन्तु आनन्द-संजीवन के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों को मदनपाल तोमर से सम्बद्ध करने के लिए अभी हमारे पास कोई आधार नहीं है।

पृथ्वीराज तोमर

(११६७-११८९ ई०)

जितनी भी तोमर वंशावलियाँ हैं, वे अनंगपाल (द्वितीय), अर्थात्, १९वें तोमर राजा तक बहुत अधिक समानता लिये हुए हैं, परन्तु उसके पश्चात् ही वे अत्यधिक अस्त-व्यस्त अवस्था में दिखाई देती हैं। उनमें बीसलदेव चौहान से पृथ्वीराज चौहान तक के कुछ चौहान राजाओं को दिल्ली सिंहासन पर बैठाने के लिए पर्याप्त कतरब्योंत करने का प्रयास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।[1]

परन्तु उनमें एक बात में अद्भुत समानता है। सब में ही अन्तिम राजा पृथ्वीराज या पृथ्वीपाल तोमर बतलाया गया है। यद्यपि वास्तव में उसके पश्चात् भी दिल्ली का एक तोमर राजा और हुआ था, परन्तु "चौहानों ने दिल्ली ली थी", इस अनुश्रुति ने पर्याप्त अव्यवस्था फैला दी है। तथापि ठक्कुर फेरू के आधार पर यह निस्संदेह रूप में माना जा सकता है कि मदनपाल तोमर के पश्चात् पृथ्वीराज और चाहड़पाल नामक दिल्ली के दो तोमर राजा हुए थे और उन्होंने अपनी मुद्राएँ भी जारी की थीं।[2]

मदनपाल और पृथ्वीराज के बीच में कोई अन्य राजा हुआ था या नहीं इसके विषय में निश्चित कथन करने का कोई साधन नहीं है। मदनपाल का अस्तित्व सन् ११६६ ई० में था यह खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि के आधार पर कहा जा सकता है। सन् ११९२ ई० में दिल्ली का अन्तिम राजा ताराइन के युद्ध क्षेत्र में मारा गया, यह भी सुनिश्चित है। पच्चीस-छब्बीस वर्षों का यह समय दो-तीन राजाओं का राज्यकाल पूरा करने के लिए ही पर्याप्त है। अतएव जब तक आगे कोई अन्य प्रमाण सामने न आए तब तक यह मानकर चलना ही उचित होगा कि मदनपाल के पश्चात् पृथ्वीराज तथा चाहड़पाल नामक दो राजा हुए थे।

पृथ्वीपाल या पृथ्वीराज

वंशावलियों में पृथ्वीपाल और पृथ्वीराज दोनों नाम पाए जाते हैं। अबुलफजल द्वारा आईने-अकबरी में दी गयी वंशावलि, वि० सं० १८४५ की वंशावलि तथा बीकानेर से प्राप्त पोथी में यह नाम स्पष्ट रूप में 'पृथ्वीराज' मिलता है। इसके विपरीत खड्ग-राय तथा वि० सं० १६८५ की वंशावलि में यह नाम 'पृथ्वीपाल' दिया गया है।

ठक्कुर फेरू की द्रव्यपरीक्षा में यह नाम 'पृथ्वीपाल' दिया गया है, परन्तु जो मुद्राएँ कनिंघम आदि ने आधुनिक युग में परखी हैं, उसमें पृथ्वीराज नाम प्राप्त होता

१. परिच्छेद १३ देखें।

२. परिच्छेद २ देखें।

है। पृथ्वीराज-नामयुक्त इन मुद्राओं के लांछन और श्रुतिवाक्य वही हैं जो अनगपाल आदि अन्य तोमर राजाओं की मुद्राओं पर मिलते हैं, एक ओर भाले सहित अश्वारोही के साथ "श्रीपृथ्वीराजदेव" है तथा दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर "असावरी श्रीसमन्तदेव" प्राप्त होता है।

इतिहास में अत्यधिक विवेचित एवं अनेक शताब्दियों से आख्यान-पुरुष बनाये गये पृथ्वीराज चौहान के समकालीन होने के कारण पृथ्वीराज या पृथ्वीपाल तोमर को इतिहास में बहुत क्षति उठानी पड़ी है। उसकी मूर्ति इस सीमा तक नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है कि अब उसके पुनरुद्धार में पर्याप्त समय लग सकता है। आज जितनी जानकारी हमें है उसके आधार पर यदि उसके अस्तित्व को ही मान्यता मिल सके तब यह भारतीय इतिहास का सौभाग्य होगा। परन्तु 'पृथ्वीराज' और 'चाहड़देव' तथा अन्य ज्ञात तोमर राजाओं की मुद्राओं के लांछन और श्रुतिवाक्यों की तुलना करने पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि ये मुद्राएँ 'तोमर' पृथ्वीराज की हैं। अजमेर में कोई टकसाल नहीं थी, और राय पिथौरा ने कभी दिल्ली की टकसाल पर कब्जा नहीं किया था, न वह कभी समन्त-कुरुक्षेत्र का राजा बना था। संभव यह है कि ठक्कुर फेरू ने 'अणग पलाहे' 'मयण पलाहे' की तुक मिलाने के लिए लिख दिया—'अणग मयणप्पलाहे पिथउ पलाहे'। संभावना यह है कि तोमर राजा का नाम 'पृथ्वीराज' था, पृथ्वीपाल केवल 'पालों' की परम्परा में प्रयुक्त हुआ था।

पृथ्वीराज तोमर का समय

अबुलफजल द्वारा दी गयी वंशावलि तथा अन्य वंशावलियाँ जो प्रत्येक तोमर राजा का राज्यकाल देती हैं, पृथ्वीराज तोमर का राज्यकाल २२ वर्ष २ मास १६ दिन बतलाती हैं। इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध का लेखक उसे २४ वर्ष ३ मास ६ दिन और १७ घड़ी बतलाता है—

तुंवरपृथ्वीराजाख्यः जिनवर्ष त्रिमासकः
षट्दिना सप्तदशक (२४।३।६।१७) घटिका महि भोक्ष्यति।

ये बाईस या चौबीस वर्ष कब से कब तक के माने जाएँ, यह निश्चित रूप से कह सकना असंभव है। श्री अगरचन्द नाहटा ने खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि का विवेचन करते हुए यह लिखा है "खरतरगच्छ पट्टावली के अनुसार मदनपाल का स्वर्गवास सं० १२२३ (सन् ११६६ ई०) में हो गया था।"[1] पट्टावली जैसी प्रकाशित हुई है उसके अनुसार तो इस संवत् में श्री जिनचन्द्र सूरि का स्वर्गवास हुआ था। परन्तु पृथ्वीभट्ट की गतिविधियों को देखते हुए मदनपाल का देहान्त हाँसी के वि० सं० १२२४ के पृथ्वीभट्ट चौहान के शिलालेख के कुछ पूर्व, अर्थात् सन् ११६७ के प्रारम्भ में ही हुआ होगा। ऐसी दशा में, अबुलफजल के अनुसार पृथ्वीराज तोमर का राज्य ११८९ ई० तक रहा, और इन्द्रप्रस्थ

१. राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० २६।

प्रबन्ध के अनुसार ११६१ ई० तक। परन्तु यदि इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध का कथन स्वीकार कर लिया जाता है तब अगले तोमर राजा अर्थात् चाहड़पाल के लिए केवल एक वर्ष का राज्यकाल बच रहता है। अबुलफजल का कथन मानने से चाहड़पाल का राज्यकाल तीन वर्ष का हो जाता है। यद्यपि चयन का कोई सुपुष्ट आधार नहीं है, तथापि अबुल-फजल द्वारा दिया गया राज्यकाल ही सुसंगत ज्ञात होता है। चाहड़पाल ने अपनी मुद्राएँ जारी की थीं, तीन वर्ष का समय उसे, इस आधार पर, मिलना चाहिए।

इतिहासकार वय और राज्यकाल घटाने-बढ़ाने का विधाता का कार्य अपने हाथों में ले ले, यह है तो अनुचित और अनधिकृत बात, परन्तु जब दिल्ली के तोमरों के शिला-लेख कुव्वतुल-इस्लाम ने अपने अंचल में समेट रखे हैं तब अन्य मार्ग ही क्या है? सन् ११६७ और सन् ११९२, दो सुनिश्चित तिथियों के बीच ही पृथ्वीराज तोमर और चाहड़देव को कहीं बैठाना होगा।

अतएव कामचलाऊ रूप में यह मानकर चलने में थोड़ी-बहुत ही भूल होगी कि पृथ्वीराज तोमर का समय ११६७ ई० से ११८९ ई० है तथा चाहड़पाल का समय ११८९ ई० से ११९२ ई० है।

पृथ्वीराज तोमर का इतिहास, इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध के अनुसार

वंशावलियाँ राजाओं के क्रम के अतिरिक्त अन्य इतिहास बहुत कम देती हैं। परन्तु इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध के रचयिता ने अत्यन्त विस्तृत रूप में पृथ्वीराज तोमर और चौहानों के युद्ध का वर्णन दिया है। इस युद्ध का जैसा वर्णन अबुलफजल ने फारसी में किया है[1], वैसा ही इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध में संस्कृत में किया गया है—

एकोनविंश नृपतिः तुवराणां कुले भवेत्।
पुनश्च पृथ्वीराजाख्यः भुवि मध्ये च वर्तते॥
अजमेरात् गतस्तत्र चहूआंण नृपसत्तमः।
राजा वीसलदेनामः कुरुक्षेत्रे च आगतः॥
वीसल-पृथ्वीराजाख्यः समरं च कृतं बहुः।
लक्षैकसंख्या सैन्या च एकषष्टिसहस्त्रकः॥
पृथ्वीराजस्य पार्श्वे च सैन्या च वर्तते तदा।
चत्वारिंशतसहस्राणि चहुआंणा सैन्ययो शुभा॥
संग्रामं च कृतं तत्र अतीव कुरुक्षेत्रके।
लक्षसैन्या च पतिता तुंवरो पतितोभुवि॥
अन्ये सर्वे नृपा नष्टाः चहूआंण जितो नृपः
आगतस्तत्र ढिल्यां च छत्रं धारितं मुदा॥

राजा वीसलदेव चौहान अजमेर से कुरुक्षेत्र पधारे और उनके तथा पृथ्वीराज तोमर के बीच घोर युद्ध हुआ। चौहान सैनिक केवल चालीस हजार थे और तोमर ने

१. परिच्छेद ११ (इ) देखें।

एक लाख इकसठ हजार सैनिकों की भीड़ इकट्ठी कर ली। संग्राम में तोमरों की लक्खी-सेना मारी गयी और तोमर पृथ्वीराज भी भूलुंठित हुआ और अन्य सब राजा नष्ट हो गये, चौहान राजा विजयी हुआ। उसने दिल्ली पधार कर छत्र धारण किया। फिर बीसल के पश्चात् गंगेव, पहाड़ी, स्यामसु, विहाड़ी, गंगेव तथा पृथ्वीराज चौहान राजा दिल्ली-पाट बैठे।

'इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध' के अनुसार दिल्ली के तोमरों का इतिहास समाप्त हुआ। हम भी 'इतिश्री' लिख कर छुट्टी पा लेते, परन्तु चौहानों के शिलालेख बतलाते हैं कि वि० सं० १२२० (सन् ११६३) के पश्चात् विग्रहराज (बीसलदेव) का अस्तित्व ही नहीं था, और उसके बहुत वर्ष पश्चात् पृथ्वीराज तोमर का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ था। अतएव अल्लामा की आईन तथा जैन पंडित के 'इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध' के इस दिवास्वप्न को तोमरों के इतिहास की मनोरंजक तथापि अग्राह्य अनुश्रुति मानकर आगे बढ़ना उचित होगा।

परन्तु अबुलफजल को प्राप्त अनुश्रुति जिसे इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध में दुहराया गया है, नितान्त निर्मूल नहीं है। पृथ्वीराज तोमर को चौहानों से घोर युद्ध करने पड़े थे, वह चौहान बीसल या विग्रहराज नहीं था और न उस युद्ध में पृथ्वीराज तोमर मारे ही गये थे। पृथ्वीराज तोमर का संघर्ष सोमेश्वर और राय-पिथौरा के संरक्षक कर्पूरदेवी, कैमास और त्रिभुवनमल्ल से हुआ था। इस संघर्ष में पृथ्वीराज तोमर मारे नहीं गये, परन्तु जिस उद्देश्य से युद्ध कर रहे थे, उसे वे पूर्णतः प्राप्त भी न कर सके।

अपरगांगेय के पश्चात् चौहान-राजवंश

मदनपाल की मृत्यु के समय उसकी राजकुमारी देसलदेवी का राजकुमार अपर-गांगेय शाकंभरी का राजा बना था तथा उसके दो दावेदार थे, एक जगद्देव का पुत्र पृथ्वीभट्ट और दूसरा विग्रहराज की विमाता कांचनदेवी का पुत्र सोमेश्वर। पृथ्वीभट्ट कहीं निष्कासित जीवन बिता रहा था और सोमेश्वर अनहिलपाटन की चौलुक्य राज-सभा में पल रहा था। सोमेश्वर का विवाह कलचुरि राजकुमारी कर्पूरदेवी के साथ हुआ था। कर्पूरदेवी के दो राजकुमार हुए, पृथ्वीराज और हरिराज। चौहान राजवंश में अपरगांगेय का छोटा भाई नागार्जुन भी था।

अपरगांगेय और पृथ्वीराज तृतीय (राय पिथौरा) तक चौहान राजवंश की वंशावलि अत्यन्त अनिश्चित और अनिर्णीत है। चौहानों के इतिहासों में इस काल की वंशावलियों को 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' तथा बीजोल्या के सोमेश्वर के राज्य के प्रथम वर्ष वि० सं० १२२६ के शिलालेख के आधार पर निर्मित किया गया है। परन्तु ये दोनों (लगभग समकालीन) स्रोत ही एकमत नहीं हैं। जितनी अनुश्रुतियाँ प्राप्त हुई हैं, वे इन दोनों के विरुद्ध साक्षी देती हैं। इन सबका तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक परिणाम प्रकट करता है—

पृथ्वीराज-विजय-काव्य	बीजोल्या शिलालेख	अबुलफजल	सं० १६८५ की राजावलि
१. विग्रहराज	विग्रहराज	बिलदेव	बीसल
२. अपरगांगेय	—	अमरगंगू	अपरगांगेय
३. पृथ्वीभट	पृथ्वीभट	केहरपाल	पीथड़
४. सोमेश्वर	सोमेश्वर	सुमेर	सोमेसरु
५. —		जाहिर	पीथड
६. —		नागदे	बाहलु नागद्यो
७. पृथ्वीराज		पिथौरा	पृथ्वीराज

सोमेश्वर के समय के शिलालेख में अपरगांगेय का उल्लेख न होना, परन्तु 'पृथ्वीराज विजय-काव्य' में उसका स्पष्ट उल्लेख किया जाना यह प्रकट करता है कि बीजोल्या के वि० सं० १२२६ के शिलालेख का प्रशस्तिकार जानबूझकर झूठे कथन कर रहा था। जब सभी अनुश्रुतियाँ इस बात पर एकमत हैं कि राय पिथौरा और सोमेश्वर के बीच दो राजा और हुए थे तब 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' का लेखक वंशावलि के मामले में सत्य कथन नहीं कर रहा, ऐसा संदेह होना स्वाभाविक है। इस ग्रन्थ का लेखक राय पिथौरा का समकालीन था। साधारणतः उसके कथन अधिक प्रामाणिक माने जाना चाहिए, परन्तु उसका अन्तसाक्ष्य यह प्रकट करता है कि बीजोल्या के शिलालेख के प्रशस्तिकार के समान इसे भी झूठ लिखने के लिए विवश किया जा रहा था।

यह मिथ्या इतिहास लिखने की प्रेरणा किसके द्वारा और किन परिस्थितियों में दी गयी थी इसका विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके हैं।[1] पृथ्वीराज तोमर को ही उन कुटिल शक्तियों का सामना करना पड़ा था, क्योंकि उसका राज्यकाल तब प्रारंभ हुआ जब अजयमेरु के सिंहासन पर उसकी भगिनी देसलदेवी का पुत्र आरूढ़ था।

पृथ्वीराज तोमर का चौहानों से युद्ध

हमारा अनुमान है कि मदनपाल की मृत्यु उन तुरुष्कों से लड़ते हुए हुई थी जो जिनचन्द्र सूरि के साथ दिल्ली आए थे। पृथ्वीराज तोमर द्वारा राज्य की बागडोर सँभालते ही अपरगांगेय का दावेदार पृथ्वीभट्ट प्रकट हुआ। उसे उसके मामा गुहिलपुत्र किल्हण का समर्थन प्राप्त था। उसने पहले तोमरों के गढ़ हाँसी पर ही आक्रमण किया और वि० सं० १२२४ (सन् ११६७ ई०) में उस पर अधिकार कर लिया। उस गढ़ पर अपने मामा किल्हण को छोड़कर वह अजयमेरु की ओर बढ़ा और अपरगांगेय के राज्य के कुछ अंश पर अधिकार कर लिया। पृथ्वीराज तोमर ने उसे रोकने का प्रयास अवश्य किया था। पृथ्वीराज तोमर के हाँसी के सामन्त वस्तुपाल से पृथ्वीभट्ट का युद्ध हुआ था, ऐसा बीजोल्या के वि० सं० १२२६ के शिलालेख से ज्ञात होता है। इस शिलालेख के अनुसार वस्तुपाल पराजित हुआ और पृथ्वीभट्ट ने उसका मनःसिद्धिकारी नामक रणगज छीन

१. परिच्छेद ८ देखें।

लिया। इसके पश्चात् पृथ्वीभट्ट ने अपरगांगेय पर आक्रमण किया और सन् ११६८ ई० में उसे मार डाला। देसलदेवी और नागार्जुन दिल्ली भाग आए।

पृथ्वीभट्ट भी चैन से राज्य न कर सका। पृथ्वीभट्ट की मृत्यु का जिस प्रकार का वर्णन पृथ्वीराज-विजय-काव्य में है उसके आधार पर हमारा अनुमान है कि उसे कैमास और कर्पूरदेवी ने मरवा डाला। सन् ११६९ ई० में सोमेश्वर अजयमेरु के राजा हुए। जिस उत्साह और सुववावंश के विनाश की अदम्य भावना के साथ कर्पूरदेवी, कैमास और सोमेश्वर अजयमेरु आये थे उसे देखते हुए यह निश्चित था कि वे सुववावंश के एकमात्र अवशेष नागार्जुन के विनाश का प्रयत्न तुरन्त ही करते। परन्तु उधर गुजरात में राजनीतिक दृश्य बदलने लगा था।

सन् ११७१-७२ ई० में कुमारपाल चौलुक्य की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही अनहिलपाटन के सिंहासन के लिए विग्रह प्रारम्भ हुए। जैन और ब्राह्मणों ने अपने-अपने दावेदार खड़े किये। जैनों ने प्रतापपाल का समर्थन किया और ब्राह्मणों ने अजयपाल का। यह स्वाभाविक था कि कर्पूरदेवी और कैमास गुजरात के जैन सम्प्रदाय के श्रेष्ठियों के समर्थक थे। संभव है उन्होंने शाकंभरी की शक्ति का प्रयोग प्रतापपाल के पक्ष में किया हो। परन्तु प्रतापपाल पराजित हुआ और चौलुक्य साम्राज्य अजयपाल के हाथ आया। यह भी संभव है कि कर्पूरदेवी और कैमास ने शाकंभरी के राज्य को चौलुक्यों से स्वतंत्र घोषित किया हो। यह स्थिति अजयपाल के लिए असह्य थी। उसने सोमेश्वर पर आक्रमण कर दिया तथा उसे कर देते रहने के लिये विवश किया। सोमेश्वर स्वतन्त्र राजा की स्थिति प्रकट करने के लिए स्वर्ण-मण्डपिका में बैठने लगे थे। सोमेश्वर के गले पर पैर रखकर अनेक मत्त हाथियों सहित उस मण्डपिका को भी अजयपाल छीन ले गया।[1]

'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' में इस घटना का उल्लेख नही है। उसमें केवल सोमेश्वर द्वारा कुछ मंदिरों के निर्माण का उल्लेख है।

इन परिस्थितियों में अजयमेरु की राजनीति के सूत्र-संचालकों के लिए नागार्जुन के विनाश का सफल प्रयास करना संभव नहीं था। परन्तु इसी बीच में सन् ११७६ ई० के लगभग चौलुक्य अजयपाल की हत्या कर दी गई और उसका अवयस्क पुत्र मूलराज द्वितीय अपनी माता नाइकीदेवी की संरक्षण में चौलुक्य-सम्राट् बना। इस घटना से चौलुक्यों का प्रभाव शाकंभरी पर कम हो गया। सन् ११७७ ई० में शाकंभरी नरेश चौहान सोमेश्वर, 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के अनुसार, अपने पिता अर्णोराज की सेवा में स्वर्ग पधार गये, या हम्मीरमहाकाव्य के अनुसार उन्होंने सन्यास ले लिया, अथवा, जैसा हमारा अनुमान है, उन्हें सन्यास लेने के लिए विवश किया गया।

११ वर्ष के बालक राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) की रक्षिका महारानी कर्पूरदेवी और उनके महामंत्री कैमास ने शाकंभरी का राज्यभार सम्हाला। इस समय तक

---

१. "दण्डे मण्डपिका हैमी सह मत्तैर्मतंगजैः दत्त्वा पादं गले येन जांगलेशादगृह्यत।" प्रबन्ध-चिन्तामणि, पृ० ९६।

नागार्जुन युवा हो चुका था। पृथ्वीराज तोमर ने यह उपयुक्त अवसर समझा जब नागार्जुन को अजयमेरु का राजा बनाने का प्रयास किया जाए।

शाकंभरी-नरेश नागदेव (नागार्जुन या दिवाकर)

पृथ्वीराज तोमर अपने इस संकल्प में किसी सीमा तक सफल हुआ था। उसने नागार्जुन को शाकंभरी का राजा बना दिया। अपरगांगेय के समय में भी पृथ्वीभट्ट और अपरगांगेय दोनों ही चौहान गद्दी का दावा कर रहे थे। पृथ्वीभट्ट अपने आपको सपादलक्ष मण्डल का राजा कहता था और अपरगांगेय को शाकंभरी नरेश मानता था।[1] सोमेश्वर की मृत्यु के पश्चात् भी यही दशा फिर होगयी। चौहानों की अनेक वंशावलियों में सोमेश्वर और राय पिथौरा के बीच दो राजा होना बतलाया गया है, यह ऊपर दी गयी तालिका से स्पष्ट है। इनमें से जाहिर या पीथड़ कौन है, इसका पता हम नहीं लगा सके हैं, संभव है, वह जगद्देव और विग्रहराज का तीसरा भाई हो, परन्तु अबुलफजल का 'नागदेव' और वि० सं० १६८५ की राजावलि का 'बाहलु नागद्यो' निश्चय ही नागार्जुन अर्थात् दिवाकर है। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे कुछ समय के लिए ही हो, शाकंभरी के राज्य-सिंहासन पर सोमेश्वर के पश्चात् नागार्जुन बैठा अवश्य था। 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के लेखक ने इस तथ्य को सकारण छुपाया है।

जब नागार्जुन ने समस्त चौहान राज्य अथवा उसके कुछ अंश पर पृथ्वीराज तोमर की सहायता से आधिपत्य कर लिया तब भीषण युद्ध अनिवार्य था।

नागार्जुन और राय पिथौरा का युद्ध

इस संघर्ष में पृथ्वीराज तोमर ने नागार्जुन को सहायता दी और अपने सामन्त देवभट्ट को भी उसकी सहायता के लिए भेजा। देसलदेवी भी सेना के साथ गयीं।

नागार्जुन ने गुडपुर के गढ पर अपनी सेना एकत्र की और वहाँ से अजयमेरु पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। यह गुडपुर कहीं शाकंभरी और अजमेर के बीच ही होना चाहिए। इसे कुछ विद्वानों ने गुडगांव से अभिन्न माना है, परन्तु यह धारणा इस मान्यता पर आधारित है कि उस समय तोमर-साम्राज्य अजयमेरु के राज्य में विलीन हो चुका था। गुडगांव दिल्ली से बहुत दूर नहीं है। यदि नागार्जुन और देवभट्ट दिल्ली के पास ही होते तब कर्पूरदेवी और कैमास को व्यग्रता का कोई कारण नहीं उत्पन्न होता।

तोमर समर्थित नागार्जुन के इस कृत्य के कारण सपादलक्ष की रक्षिका महारानी कर्पूरदेवी को अत्यधिक क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक था। महामंत्री कैमास (जो संभवतः महाबलाधिकृत भी थे) तथा कर्पूरदेवी के काकाजी भुवनैकमल्ल के साथ असंख्य घोड़े, हाथी और ऊँटों की सेना भेजी गयी। राय पिथौरा का जन्म संवत् १२२३ (सन् ११६६ ई०) बतलाया जाता है, अतएव सन् ११७७ ई० में वे ग्यारह या बारह वर्ष के थे। उमर तो छोटी थी, परन्तु 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' का कहना है कि कैमास

१. पृष्ठ १०१ देखें।

और भुवनैकमल्ल को पीछे छोड़कर राय पिथौरा अकेले ही नागार्जुन की सेना पर टूट पड़े! बहुत अच्छा, परन्तु हम इसे मानने के लिए तत्पर नहीं हैं। मँजे हुए सेना नायक कैंमास और भुवनैकमल्ल ने ही नागार्जुन की सेना पर आक्रमण किया होगा, रायपिथौरा भी, संभवतः, साथ होंगे।

नागार्जुन की सेना इस आक्रमण को सहन न कर सकी और उसे गुड़पुर के गढ़ में आश्रय लेना पड़ा। कैंमास और भुवनैकमल्ल ने गुड़पुर के गढ़ को घेर लिया। गढ़ बहुत समय तक टिक न सका। नागार्जुन किसी प्रकार गढ़ से भाग निकला और दिल्ली चला गया। चौहानों की सेना ने गढ़ को लूटा तथा नागार्जुन की माता देसलदेवी और उसकी पत्नी को बंदी बना लिया। तोमर सामन्त देवभट्ट और उसकी सेना ने इन देवियों को बचाने के लिए युद्ध किया परन्तु वे पराजित हुए। देवभट्ट और उसके समस्त सैनिक युद्ध में मारे गये।

अजयमेरु पर तोमर-मुण्ड-माला

हेमचन्द्र, हेमू, को पराजित करने के पश्चात् बैरमखां ने अवयस्क अकबर से आग्रह किया था कि वह मृत या अर्धमृत हेमू का गला काटकर गाजी का पद धारण करे। अकबर ने बैरमखां का यह आग्रह माना था या नहीं, इस बात पर इतिहासकारों में मतभेद है, परन्तु इस युद्ध के विवरण के एकमात्र आधार 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' के प्रमाण पर यह कहा जा सकता है कि कैंमास, भुवनैकमल्ल और महारानी कर्पूरदेवी ने इससे भी अधिक कोई भीषण बर्बर काण्ड इस युद्ध के पश्चात् किया था। गुणभट्ट और उसके सैनिकों के मुण्डों की मालाएँ बनवाई गईं और अजयमेरु के दुर्ग को उनसे अलंकृत किया गया। नागार्जुन की माता देसलदेवी और उसकी पत्नी का क्या हुआ, उन्हें किस प्रकार की यातनाएँ दी गईं, इस विषय में 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' मौन है। उसने केवल प्रतापी चौहान विग्रहराज चतुर्थ, उसकी वल्लभा, तथा मातुलगृह में शरण लेने वाले नागार्जुन की भर्त्सना मात्र की है और की है राय पिथौरा की निम्नकोटि की चाटुकारिता।

इस पराजय के पश्चात् नागार्जुन दिल्ली चला गया और उसने शाकंभरी का राज्य प्राप्त करने का फिर प्रयत्न नहीं किया। उसके दर्शन इतिहास में फिर सन् ११९२ ईसवी में होते हैं।

कैंमास और भुवनैकमल्ल का पराक्रम

परन्तु राय पिथौरा के अभिभावक कैंमासकादि ने अब तोमर-साम्राज्य को घेरना प्रारंभ किया। श्रीपथ के यदुवंशी तोमर ही थे। संभव है वे स्वतंत्र हों, परन्तु थे वे तोमरों के मित्र। इन यदुवंशियों की राजधानी त्रिभुवनगढ़ (तहनगढ़) थी, और उनका कोई सामन्त बयाना (भादानक) में भी था।[1]

१. भादानक या बयाना उस समय किसी राजा का प्रमुख स्थल नहीं था। अनंगपाल द्वितीय ने त्रिभुवनगिरि (तहनगढ़) को अपने स्थानीय सामन्त के लिए त्रिभुवनगढ़ के रूप से बसाया था। यह त्रिभुवनगढ़ बयाना (भादानक) से १४ मील दूर है। ज्ञात होता है कि कैंमास ने भादानक के किसी स्थानीय प्रशासक को पराजित कर मार डाला और उसका इलाका छीन लिया।

सन् ११८२ ई० के पूर्व, संभवतः ११८१ ई० में, कैमास ने बयाना (भादानक) पर आक्रमण किया और उसे अपने राज्य में मिला लिया। सन् ११८२ ई० (वि० सं० १२३९) में श्री जिनपति सूरि ने राय पिथौरा को "भादानकोर्वीपति" घोषित किया था, अर्थात् भादानक (वर्तमान बयाना नगर) को चौहानों के राज्य में मिला लिया गया था। तोमरों के साम्राज्य का एक नगर उनके हाथ से निकल गया। इससे अधिक महत्व की हानि यह हुई कि तोमरगृह—तँवरधार से उनके सम्पर्क के सीधे मार्ग के बीच बाधा उपस्थित हो गयी।

राय पिथौरा के नाना सेनापति भुवनैकमल्ल ने चम्बल के पश्चिमी भाग पर आक्रमण किया। मध्यप्रदेश के वर्तमान श्योपुर तहसील के किसी भाग को उसने जीत लिया। वहाँ हाथी बहुत मिलते थे, और वह चम्बल के तोमरों का दिल्ली जाने का एक मार्ग भी था। उसे भी बन्द कर दिया गया।

तोमरगृह—तँवरघार के पूर्वी भाग में सिरसागढ़ नामक एक स्थान है। मध्यप्रदेश राज्य की वर्तमान लहार तहसील में दबोह से एक मील दक्षिण-पूर्व में 'अमाहा' है। अमाहा (२५°–५९' उत्तर ७८°–५३' पूर्व) के पास ही यह सिरसागढ़ है। तोमरों के मित्र चन्देल राजा परिमार्दिदेव का सामन्त मलखान सिरसा का गढ़पति था। सन् ११८२ ई० में उस पर अजमेर की चौहान सेना ने आक्रमण किया। मलखान पराजित हुआ और युद्ध में मारा गया। राय पिथौरा की सेना ने इस क्षेत्र को लूटा भी था, ऐसा मदनपुर के शिलालेख में उल्लेख है।[1]

तोमरों के साम्राज्य के दक्षिणी भाग को कैमास और कर्पूरदेवी ने घेर लिया। संभव है आगे दिल्ली पर ही धावा होता। परन्तु उनके द्वारा बयाना (भादानक) जीत लेने के कारण वे कन्नौज के गहड़वालों के साम्राज्य की सीमा से जा मिले और उन्होंने चन्देलों के राज्य में लूटमार कर उनसे भी विग्रह मोल ले लिया। आगे उन्हें उनसे

१. आ० स० रि० भाग २१, पृ० १७४। इस शिलालेख के आधार पर इतिहासकारों ने यह लिखा है कि पृथ्वीराज तृतीय ने बुन्देलखण्ड जीत लिया था। उस शिलालेख में केवल 'लूटना' लिखा है, जीतना नहीं। चन्देलों से बुन्देलखण्ड जीतने की कथा रासो तथा आल्हखण्ड में है, जिसमें राय पिथौरा की "लाल कमान" चमकती है। वह सब इतिहास नहीं है, आख्यान है। प्रबन्ध-चिन्तामणि (पृ० ११४) में जगद्देव क्षत्रिय के प्रबन्ध में 'कुन्तलदेश' के किसी परमार्दि का उल्लेख है। उक्त प्रबन्ध के अनुसार इस परमार्दि को किसी समर में सपादलक्ष के राजा पृथ्वीराज ने पराजित किया था। मेरुतुंगाचार्य ने भूल से मलखान को परिमार्दि लिख दिया है। 'कुन्तलदेश' उसी क्षेत्र का नाम था जहाँ मलखान राज्य कर रहा था। महोबा के परमार्दि को राय पिथौरा की ओर से पराजित करने की शक्ति कैमास में नहीं थी, परमार्दि गहड़वालों का भी मित्र था और चौलुक्यों का भी। कैमास ने उसके एक सामन्त मलखान को अवश्य पराजित कर मार डाला था, और इस प्रकार उनसे शत्रुता मोल ले ली थी, जिसका परिणाम आगे भयंकर हुआ था।

निपटना पड़ा था। चौलुक्यों से भी उनके सम्बन्ध बिगड़ने लगे थे। सबसे बड़ा संकट उपस्थित हो गया था गोर के सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी की शक्ति से।

गहड़वाल जयचन्द्र और शहाबुद्दीन गोरी

विक्रम संवत् १२०७ (सन् ११५० ई०) तक गोविन्दचन्द्र का साम्राज्य रुद्रपल्ली तक पहुंच गया था। यह रुद्रपल्ली चित्तौड़, बयाना और मथुरा के बीच में कहीं थी। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र ने गहड़वाल-साम्राज्य को बढ़ाया ही था। सन् ११७० ई० में गहड़वाल वंश का प्रतापी राजा जयचन्द्र गद्दी पर बैठा। जैन ग्रन्थों के अनुसार उसके राज्य की सीमा ७०० योजन तक फैली हुई थी। इब्नआसीर की कामिल-उत्तवारीख के अनुसार काशी का यह राजा भारतवर्ष का सबसे बड़ा राजा था और उसका साम्राज्य भी सर्वाधिक विस्तृत था। इब्नआसिर के अनुसार उसकी राज्यसीमा उत्तर में चीन से मिलती थी और दक्षिण में मालवा तक पहुँचती थी। पूर्व में वह समुद्र से प्रारम्भ होती थी और पश्चिम में वह उस स्थान तक जाती थी जो लाहौर से १० दिन की यात्रा की दूरी पर था। बयाना (भादानक) पर आक्रमण करके तथा चन्देलों की प्रजा को लूट कर अजमेर के चौहानों ने इस महाशक्ति से विग्रह मोल ले लिया था। शहाबुद्दीन गोरी के प्रारम्भिक आक्रमण भी शाकंभरी तथा गुर्जर प्रदेश की ओर हो रहे थे।

चौहान राज्य के संरक्षकों ने इस प्रकार गहड़वाल, चन्देल, चौलुक्य और शहाबुद्दीन चारों से ही एक साथ विग्रह मोल ले लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज तोमर का राज्य कैमासादि की कोपदृष्टि से बच गया।

सन् ११८९ में पृथ्वीराज तोमर की मृत्यु हो गई।

पृथ्वीराज तोमर की मत्यु के समय तोमर-साम्राज्य की स्थिति

अपरगांगेय और नागार्जुन के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर पृथ्वीराज तोमर ने पृथ्वीभट्ट, सोमेश्वर, कर्पूरदेवी, कैमास और भुवनैकमल्ल से अनेक वर्षों तक संघर्ष किया। इस संघर्ष में वह असफल हुआ। अन्ततोगत्वा नागार्जुन को अजमेर का राज्य न मिल सका और उस पर सोमेश्वर तथा उसके अवयस्क राजकुमार राय पिथौरा का आधिपत्य कराने में कर्पूरदेवी और कैमास सफल हुए। पृथ्वीराज तोमर की इस असफलता का प्रभाव तोमर-साम्राज्य की दृढ़ता पर पड़ना अवश्यंभावी था। इस बात का विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं कि सन् ११७७ ई० के पश्चात् उत्तर-पश्चिम भारत विश्रृंखल राजाओं का संघ रह गया था, जो दिल्ली के तोमर राजा को अपना मुखिया मानता था।[1]

यह बहुत संभव है कि तोमर-साम्राज्य का यह स्वरूप अनंगपाल द्वितीय के समय में भी हो, अर्थात् वह अनेक राज्यों का संघ हो।[2] परन्तु अनंगपाल द्वितीय के समय में समस्त अधीनस्थ सामन्त या भूमिपति दिल्ली का नियंत्रण पूर्णतः मानते थे। पृथ्वीराज

१. परिच्छेद ६, पृ० ९३ देखें।

२. उस युग में इस प्रकार के संघ थे। 'वल्ल-मण्डल' प्रतीहारों के राज्यों का संघ ही था।

तोमर के समय में, चौहानों के साथ हुए इन लम्बे विग्रहों के परिणामस्वरूप, यह नियंत्रण शिथिल अवश्य हुआ होगा। हाँसी का भीमसिंह तथा वे अनेक (या फरिश्ता के अनुसार १५०) राजा इसी तोमर-संघ के अधीन थे।

पृथ्वीराज तोमर के साम्राज्य का कैमासादि द्वारा किया गया यह विघटन भारतीय इतिहास की अत्यन्त परिणामकारी घटना सिद्ध हुई। यदि शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों का सामना करने के लिए सुसंगठित तोमर साम्राज्य अस्तित्व में होता, तब भारत का भावी इतिहास किसी और रूप में ही लिखा जाता।

परिच्छेद २८

चाहड़पाल तोमर

(११८९-११९२ ई०)

चाहड़पाल तोमर के राज्यकाल के प्रारम्भ होने के वर्ष का विवेचन पूर्व के परिच्छेद में किया जा चुका है। ठक्कुर फेरू की द्रव्यपरीक्षा के आधार पर यह भी सुनिश्चित रूप में कहा जा सकता है कि पृथ्वीपाल या पृथ्वीराज तोमर के पश्चात् चाहड़पाल नामक दिल्ली का तोमर राजा हुआ था।[१]

यह चाहड़पाल वही "दिल्ली का राजा" है जिसे तवकाते-नासिरी, तारीखे-फरिश्ता आदि में तराइन के युद्ध में शहाबुद्दीन के साथ युद्ध करता हुआ दिखाया गया है, इसका संकेत भी हम पूर्व में अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। पुनरुक्ति से डरते हुए भी, इस मन्तव्य को यहाँ पुनः स्पष्ट करने में हानि नहीं है।

फारसी इतिहासों में मिनहाज सिराज की तवकाते-नासिरी सन् ११९१ और ११९२ की घटना के पश्चात् कुछ वर्षों के भीतर ही लिखी गई थी। उसकी अनेक प्रतियाँ प्राप्त होती हैं और उनमें इस दिल्ली के राय का नाम खण्डी, खण्ड, कन्द, गोयन्द, गोयन्दह, गवन्द और गोविन्द के रूप में पढ़ा गया है।[२] कासिम अली हिन्दुशाह की तारीखे-फरिश्ता में यह नाम 'चावुण्ड' के रूप में पढ़ा गया है।[३] एक अन्य आधुनिक इतिहास में लिखा मिलता है कि फरिश्ता में यह नाम 'खाण्डेराय' के रूप में आया है।[४]

'लुब्ब-उत्-तवारीखे-हिन्द' के अनुसार यह खण्डीराय राय पिथौरा का कोई रिश्तेदार था।[५] रिश्तेदार तो चाहड़पाल भी था। विग्रहराज चतुर्थ और सोमेश्वर सगे भाई थे, पिता एक था, माताएँ भिन्न थीं। विग्रहराज चतुर्थ की रानी देसलदेवी राय पिथौरा की काकी थी। देसलदेवी के पिता मदनपाल तोमर राय पिथौरा के मामा ही माने जाएँगे, और पृथ्वीराज तोमर माना जाएगा राय पिथौरा का (मामा का पुत्र) भाई। इस कारण चाहड़पाल राय पिथौरा का भतीजा ही था, यानी रिश्तेदार।[६]

फारसी भाषा के लिए प्रयुक्त विभिन्न लिपियों के विशेष मर्मज्ञों का अनुग्रह प्राप्त करने पर हमें ज्ञात हुआ कि थोड़ी सी असावधानी होने पर चाहड़ को चण्ड, वण्ड, खण्ड, कुछ भी पढ़ा जा सकता है। तवकाते-नासिरी में ही नरवर के चाहड़ को 'जाहरा' पढ़ा

१. परिच्छेद २ देखें।
२. तवकाते-नासिरी, भाग १, पृ० ४५९-६० पर मेजर रेवर्टी की पाद-टिप्पणी।
३. ब्रिग्स : फरिश्ता, भाग १, पृ० १७१-१७३।
४. ए कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० १६०।
५. रेवर्टी, तवकाते नासिरी, भाग १, पृ० ४६९, पाद-टिप्पणी।
६. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में इसे भाई लिखा गया है। भाग ३, पृ० ४०।

गया है।[1] दिल्ली का राय चाहड़ कुछ अधिक खोज का विषय बना सो वह नाना रूप में खण्डी, खण्ड, कन्द, गोयन्द, गवन्द, गोविन्द दिखाई दिया।

अतएव, ठक्कुर फेरू का यह चाहड़पालदेव निश्चय ही वह चावुण्ड, खाण्डी, वण्ड, खण्ड, कवन्द आदि है जो सन् ११९२ ई० में ताराइन के युद्धक्षेत्र में मारा गया था। इस आधार पर चाहड़देव तोमर का समय सन् ११८९-११९२ ई० मानने में कोई भूल नहीं है।

नयचन्द्र का चन्द्रराज

नयचन्द्र के हम्मीरमहाकाव्य में 'चन्द्रराज' का जो विवरण दिया गया है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।[2] नयचन्द्र सूरि के प्रसंग को देखते हुए उसका वर्णन इसी चाहड़पाल तोमर का माना जा सकता है। नयचन्द्र सूरि ने चन्द्रराज का वर्णन अपनी काव्यमय शैली में किया है[3]—

आह्लादनेनाखिलभूतधात्र्या यथार्थतां नाम निजं नयन्तम्
गोपाचलद्रंगवित्तीर्णरंगं श्रीचन्द्रराजं पुरतो निधाय

इसकी टीका करते हुए नयचन्द्र सूरि के शिष्य ने 'हम्मीरमहाकाव्यदीपिका' में लिखा है[4]—

कीदृशं चन्द्रराजं ? गोपाचलवासिनम्। समस्त पृथिव्याः
आनन्दनेन हेतुना निजं नाम सत्यार्थतां नयन्तम्।

आगे फिर इस 'हम्मीरमहाकाव्यदीपिका' में चन्द्रराज के लिए "अथ चन्द्रराजः गोपाचलीयः"[5] लिखा है।

चन्द्रराज समस्त पृथ्वी को आनन्द प्रदान करते थे, इस कारण उनका नाम 'चन्द्र' सार्थक था, यह भाव और भाषा इतिहास के लिए उपयोगी नहीं है। वे गोपाचल पर निवास भी नहीं करते थे, क्योंकि उस समय उस दुर्ग पर अजयपालदेव प्रतीहार का राज्य था। नयचन्द्रसूरि का आशय यह है कि चम्बलक्षेत्र उस समय 'गोपाचलीय-क्षेत्र' समझा जाता था, ऐसाह के तोमर-सामन्त चन्द्रराज अर्थात् चाहड़पाल के अधीन थे और चन्द्रराज का पुरखा अनंगपाल प्रथम इसी चम्बल क्षेत्र (तंवरघार) कुरुक्षेत्र पहुँचा था। नयचन्द्र सूरि के शिष्य ने अपनी यह 'दीपिका' भी वीरमदेव तोमर के समय में गोपाचल नगर में लिखी थी। उस समय चम्बलक्षेत्र गोपाचल के राजा के अधीन था। इस पृष्ठ-भूमि में उस 'तोमरगृहवासी' को 'गोपाचलवासी' लिखा गया।

यदि नयचन्द्र सूरि के विवरण में कुछ भी तथ्य है तब यह माना जा सकता है कि

१. रिज़वी : आदि तुर्क कालीन भारत, पृ० ४९।
२. परिच्छेद ६ देखें।
३. हम्मीरमहाकाव्य ३।२ (पृ० १६)।
४. वही, पृ० १४१।
५. वही, पृ० १४२।

पृथ्वीराज तोमर के समय में हुई उथल-पुथल के समय में भी तोमरगृह के ऐसाह के सामन्तों ने चाहड़पाल का साथ नहीं छोड़ा था।[1]

चाहड़पाल और राय पिथौरा के सम्बन्ध

चाहड़पाल तोमर और राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) के आपसी सम्बन्धों के स्वरूप को जानने के पूर्व स्वयं राय पिथौरा की स्थिति, उसके ही राज्य में, क्या थी, यह देखना आवश्यक है।

राय पिथौरा का जन्म अनहिलपाटन में वि० सं० १२२३ (सन् ११६६ ई०) में हुआ था, यह तथ्य शिलालेख, इतिहास और ज्योतिष के प्रवल प्रमाणों के आधार पर स्थापित किया गया है।[2] उसकी मृत्यु सन् ११९२ ई० में हुई थी, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है, भले ही कुछ आख्यानकार उन्हें एक वर्ष का जीवन गजनी के जेलखाने का भी प्रदान करते हैं और कुछ इतिहासकार उनको यह एक वर्ष शहावुद्दीन गौरी के अधीन अजमेर के राजा के रूप में प्रदान करते हैं। इस स्थापना के कारण हमने आगे दिये हैं, यहाँ केवल यह उल्लेख पर्याप्त है कि राय पिथौरा केवल २६ वर्ष जीवित रहे।

'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' राय पिथौरा के विषय में अत्यन्त प्रामाणिक जानकारी देता है। उसके अनुसार सोमेश्वर ने वालक पृथ्वीराज अर्थात् राय पिथौरा को अपनी व्रतचारिणी रानी कर्पूरदेवी के संरक्षण में छोड़ कर स्वर्गवास किया था (या सन्यास ले लिया था)। यह घटना सन् ११७७ ई० की वतलाई जाती है, अर्थात् उस समय वालक पृथ्वीराज ग्यारह वर्ष के थे। देखना यह है कि यह 'संरक्षण' कितने वर्ष और चला।

इस प्रसंग में केवल दो स्पष्ट उल्लेख प्राप्त हैं।

---

१. परिच्छेद १५ देखें।

२. "चौहाण सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय का जन्म-संवत", डॉ० दशरथ शर्मा, राजस्थानी, भाग २, पृ० ३-"मैंने स्वयं (गर्भलग्न का) कुछ गणित करने के प्रयत्न के वाद यह लग्न अपने मित्र, उज्जैन के सूवा श्री वी० के० चतुर्वेदी के सम्मुख रखा। उनका एवं उज्जैन के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पं० सूर्यनारायण का मत है कि यह ग्रह स्थिति संवत १२२२ में वर्तमान थी। अतः यह निश्चित है कि पृथ्वीराज का जन्म संवत १२२३ में हुआ। कवि ने पृथ्वीराज का जन्म लग्न नहीं दिया है। वहुत संभव है कि उस समय ग्रह स्थिति उतनी अच्छी न रही हो।"

हमारे मित्र स्व० श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी वाद में मध्यप्रदेश के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हो गये थे, अतएव उनका निष्कर्ष हमारे लिए भी प्रमाण है। सन्देह उन्हें भी यही था कि पृथ्वीराज-विजय-काव्य के महाकवि को 'गर्भलग्न' का पता कैसे लगा? यह घटना अनहिलपाटन की थी। तव क्या पृथ्वीराज-विजय-काव्य का कवि गुजरात का ही था?

सन् ११७८ ई० में राय पिथौरा बारह वर्ष के हो गये थे। इस वर्ष जो घटना हुई उससे ज्ञात होता है कि बालक राय पिथौरा का वास्तविक संरक्षण अब कैमास के हाथ में था। इसी वर्ष शहाबुद्दीन गौरी ने गुजरात पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज-विजय-काव्य के अनुसार राय पिथौरा अनहिलपाटन के शिशु राजा भीम की सहायता के लिए आतुर हुए, परन्तु कैमास ने उन्हें 'सुन्दोपसुन्दन्याय' का उपदेश दिया और अपने किशोर राजा की बात न मानी।

पृथ्वीराज-विजय-काव्य के समान ही प्रामाणिक ग्रन्थ खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि है। उसमें वि० सं० १२३६ (सन् ११८२ ई०) की उस घटना का उल्लेख है जिसमें सूरि जी को अजमेर की राजसभा से जयपत्र मिला था।[1] उस समय राय पिथौरा १६ वर्ष के हो गये थे, और गुर्वावलि के अनुसार वे 'केलिप्रिय' थे। इस सभा में भी मण्डलेश्वर कैमास का प्रभाव नरानयन-राज-प्रासाद में पर्याप्त दिखाई देता है। यह भी स्पष्ट है कि इस समय तक कैमास राय पिथौरा को मदनपुर और सिरसागढ़ की लूट तथा बयाना की विजय में प्राप्त धन से पर्याप्त समृद्ध बना चुका था और उसका युवक राजा पर प्रभाव भी बहुत था।

यह प्रभाव सन् ११९१ ई० तक चला, इसके भी प्रमाण उपलब्ध हैं। पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के पृथ्वीराज-प्रबन्ध में जो दो छन्द कैमास विषयक उद्धृत किये गये हैं।[2] वे किसी बहुत प्राचीन आख्यान के छन्द हैं यह हम पहले लिख चुके हैं।[3] वे छन्द पुरातन-प्रबन्ध के कथानक से बिलकुल मेल नहीं खाते, इससे भी ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज-प्रबंध के रचयिता ने उन्हें किसी अन्य रचना से उठाकर उसमें रख दिया है। यद्यपि वे छन्द चन्द बरदायी विरचित नहीं हैं तथापि वे प्राचीन अवश्य हैं। इन छन्दों से ज्ञात होता है कि ताराइन के प्रथम युद्ध के पश्चात् सन् ११९१ ई० में ही राय पिथौरा ने दाहिम कैमास को मार डाला था। राय पिथौरा द्वारा अपने संरक्षक की हत्या कुछ वर्षों से चली आ रही अनबन के कारण ही हुई होगी। पृथ्वीराज-प्रबन्ध के अनुसार यह हत्या इस कारण की गयी थी कि कैमास शहाबुद्दीन से मिल गया था और बार-बार उसे राय पिथौरा के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करता था। वास्तविक कारण यह नहीं है। वयस्क होते ही राय पिथौरा कैमास के नियंत्रण को असह्य मानने लगा होगा। उस समय तक, संभव है, कैमास की शक्ति को बढ़ाने वाली कर्पूरदेवी की भी मृत्यु हो चुकी होगी और इस कारण, अनेक उपकारों के होते हुए भी, कैमास को राय पिथौरा के हाथों ही प्राण त्यागने पड़े। राय पिथौरा और कैमास का यह मनोमालिन्य कभी सन् ११८२ ई० के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ होगा, परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज तोमर की मृत्यु के पूर्व (अर्थात् सन् ११८९ ई० तक) राय पिथौरा कैमास के नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त हो चुके थे।

---

१. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, पृ० २५।

२. पृ० ८६

३. परिच्छेद ९ देखें।

यह बहुत संभव है कि कैमास के प्रभावहीन होने के पश्चात् ही राय पिथौरा ने तोमरों से अपने सम्बन्ध अच्छे कर लिये हों। सम्भव है यह नीति-परिवर्तन पृथ्वीराज तोमर के जीवनकाल में ही हो गया हो।

नयचन्द्र सूरि के हम्मीरमहाकाव्य के विवरण से तथा लगभग समकालीन फारसी इतिहास लेखक मिनहाज सिराज के कथन से यह स्पष्ट है कि राय पिथौरा और चाहड़-पाल तोमर के आपसी सम्बन्ध अच्छे थे।

इसमें भी सन्देह नहीं है कि कर्पूरदेवी, कैमास और भुवनैकमल्ल ने अजमेर के चौहानों की सैन्यशक्ति को बहुत अधिक बढ़ा दिया था; इसमें भी सन्देह नहीं कि राय पिथौरा अत्यन्त महत्वाकांक्षी और उत्साही था। सन् १२०५ ई० में लिखे गये ताजुल-मआसिर के अनुसार राय पिथौरा के मस्तिष्क में, उसकी विशाल सेना और वैभव के कारण, विश्व-विजय का भूत प्रवेश कर गया था।[1] परन्तु कैमास और कर्पूरदेवी तथा उसके काकाजी भुवनैकमल्ल ने, अपना प्रभाव बनाए रखने के उद्देश्य से, राय पिथौरा को, संभवतः, किशोरावस्था से ही विलासिता की घुट्टी पिलाना प्रारंभ कर दिया था।[2] राय पिथौरा के सेनापति या मंत्री के पौत्र लक्ष्मीधर ने विरुद्ध-विधि-विध्वंस नामक रचना[3] में राय पिथौरा को "निद्रा एवं व्यसनों के कारण बुद्धि-भ्रष्ट एवं जीवित होते हुए भी मरे के समान" लिखा है। राय पिथौरा में 'चित्तविकार' योजनापूर्वक उत्पन्न किया गया था, सन् १४५५ ई० में चौहानों के ही राजकवि द्वारा लिखे गये 'कान्हड़दे-प्रबन्ध' से भी यह प्रकट है। परन्तु यह 'चित्तविकार' उत्पन्न कराने वाले कैमास के लिए भी वह महँगा पड़ा था, उसी के प्रभाव में कैमास मंत्री मार दिया गया था, यह भी कान्हड़दे-प्रबन्ध से प्रकट है।[4]

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २१४।

२. राय पिथौरा का वास्तविक संरक्षक कदम्बवास ही था और उसने शैशवकाल से ही उसे विलासी जीवन का अभ्यासी बना दिया था, यह 'पृथ्वीराज-विजय-काव्य' से प्रमाणित है—

सचिवेन तेन सकलासु युक्तिषु
प्रवणेन तत्किमपि कर्म निर्ममे।
मुखपुष्करं शिशुतमस्य यत्प्रभोः
परिचुम्ब्यते स्म नवयौवनश्रिया ॥९।४४॥

मंत्री कदम्बवास ने इतने सुचारु रूप से कार्य किया कि 'शिशुतम' राजा के मुख कमल का "नवयौवनोचित" लक्ष्मी ने चुम्बन किया। 'पृथ्वीराज-विजय' का कवि कुछ मुँहफट ज्ञात होता है। वह यह भी स्पष्ट कर गया है कि सचिव कदम्बवास ने अपने राजा को शैशव से ही विलासी बना दिया और उसी समय से वह नवयौवन-श्री का उपभोग करने लगा।

३. कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द लायब्रेरी ऑफ इण्डिया आफिस, क्र० १५७७।

४. कान्हडदे-प्रबन्ध (राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर), पृ० १४६।

राय पिथौरा द्वारा शासन-सूत्र अपने हाथ में सँभालने के पूर्व ही शहाबुद्दीन के आक्रमण प्रारंभ हो गये थे। अजमेर के इस शक्तिशाली उद्धत राजा से अनहिलपाटन के चौलुक्यों ने मित्रता की सन्धि करली और दिल्ली के तोमरों से भी। सबके समान-शत्रु शहाबुद्दीन गौरी ने राय पिथौरा को अपने उत्तर और दक्षिण की इन शक्तियों से अच्छे सम्बन्ध बना लेने की सुबुद्धि प्रदान की, तथापि उस समय तक बहुत विलम्ब हो चुका था।

शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण

गयासुद्दीन मुहम्मद ने अपने छोटे भाई मुइजुद्दीन मुहम्मद-बिन-साम, अर्थात्, शहाबुद्दीन गौरी को सन् ११७३ ई० में गजनी का प्रशासक नियुक्त कर दिया था, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शहाबुद्दीन गौरी ने भारत-विजय का निश्चय किया और उसी वर्ष मुल्तान पर आक्रमण कर दिया। मुल्तान में करमैथी मुसलमानों का राज्य था। शहाबुद्दीन ने उनसे मुल्तान छीन लिया और वहाँ अपना प्रशासक नियुक्त कर दिया।

उच्छ में हिन्दू राजा था। उसे अपदस्थ करने के लिए शहाबुद्दीन ने शक्ति की अपेक्षा युक्ति से काम लिया। वहाँ के भट्टी राजपूत राजा की अपनी रानी से अनबन थी। गौरी ने रानी के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि वह गढ़ उसे सौंप देगी तो वह उसे अपनी पटरानी बना लेगा। रानी ने यह अनुग्रह अपनी युवा राजकुमारी के लिए प्राप्त किया, अपने पति को विष देकर मार डाला और गढ़ शहाबुद्दीन को सौंप दिया। शहाबुद्दीन ने रानी और उसकी राजकुमारी दोनों को गजनी भेज दिया, जहाँ उन्हें इस्लाम की रीति-नीति सिखाई जा सके। राजकुमारी को अत्यधिक आत्मग्लानि हुई और वह अपनी माता से घृणा करने लगी। इस अनुताप में रानी ने प्राण दे दिये और कुछ समय पश्चात् राजकुमारी भी मर गयी। शहाबुद्दीन को, इस प्रकार, भारत का पहला राज्य प्राप्त हुआ।[1]

सन् ११७८ ई० में शहाबुद्दीन ने पुनः भारत पर आक्रमण किया। इस समय गुजरात और शाकंभरी की स्थिति उसे अनुकूल ज्ञात हुई। अजयपाल चौलुक्य की हत्या के पश्चात् उसका शिशु राजकुमार मूलराज द्वितीय अपनी माता के संरक्षण में राज्य कर रहा था। अनहिलपाटन षड्यंत्रों का अड्डा बना हुआ था। जैन श्रेष्ठियों और ब्राह्मणों में कूटनीतिक घात-प्रत्याघात चल रहे थे। सपादलक्ष में दशा इससे कुछ अच्छी थी। वहाँ किशोर राय पिथौरा राजा थे और राज्य का समस्त नियंत्रण राजमाता

१. कुछ इतिहासकार उच्छ के गढ़ को इस प्रकार प्राप्त करने की घटना को अविश्वसनीय मानते हैं। उनका कथन है कि उस समय 'उच्छ' करमैथी मुसलमानों के अधीन था। कम्ब्रि० हि०, भाग ५, पृ० १५६ (पाद टिप्पणी); डॉ० आर० सी० मजूमदार, द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० ११७। सर हेग ने फरिश्ता के उक्त कथन से सहमति प्रकट की है (कै० हि०, भाग ३, पृ० ३८)।

कर्पूरदेवी और मंत्री कैमास के शक्तिशाली हाथों में था। शहावुद्दीन यह समझता था कि यदि सपादलक्ष के राजतंत्र को अपनी ओर फोड़ लिया जाए तब चौलुक्यों का समस्त साम्राज्य उसे सुगमता से हस्तगत हो सकेगा। उसने अपना राजदूत अजयमेरु भेजा और प्रस्ताव किया कि सपादलक्ष का राजा उसकी आधीनता स्वीकार करले। यह प्रस्ताव अस्वीकार किया गया। शहावुद्दीन गौरी ने अपना लक्ष्य अनहिलपाटन वनाया। कैमास ने उसकी इस योजना में वाधा न डाली। इस योजना में उसे अपना हित दिखाई दिया।

शहावुद्दीन ने किराडू के पास स्थित सोमेश्वर महादेव के मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट किया और नाडौल के चौहान राज्य को उजाड़ दिया।

इसके पश्चात् शहावुद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण किया। मूलराज द्वितीय की माता नाइकीदेवी ने शहावुद्दीन का सामना किया। अपने पुत्र—शिशुराजा को गोद में लेकर चौलुक्य-सैन्य का नेतृत्व करती हुई वह अर्वुदपर्वत के निकट गाडरारघट्ट के रणक्षेत्र में पहुँची। उसने शहावुद्दीन को पूर्णतः पराजित किया और तुर्क सेना को अत्यन्त अस्त-व्यस्त अवस्था में भगा दिया।[1] चाहमानों के महामंत्री कैमास की मनोभिलाषा पूर्ण न हो सकी और नाइकीदेवी शहावुद्दीन के क्रूर आक्रमण से अनहिलपाटन की रक्षा कर सकी।

शहावुद्दीन का यह भारत-अभियान पूर्णतः विफल हुआ। वह अपनी अधिकांश सेना नष्ट कराकर ही गजनी लौट सका।

परन्तु नियति कुछ और थी। जम्मू के राजा चक्रदेव ने शहावुद्दीन को सहायता के लिए आमन्त्रित किया। चक्रदेव के अत्याचारों से पीड़ित होकर जम्मू के गक्खरों ने विद्रोह कर दिया था। लाहौर का यामिनी सुल्तान खुशरव मलिक गक्खरों की सहायता कर रहा था। चक्रदेव स्वयं इस उपद्रव को शान्त करने में असमर्थ था, अतएव उसने शहावुद्दीन मुहम्मद साम से सहायता के लिए पुकार की। गौरी सुल्तान ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था। सन् ११८५ ई० में स्यालकोट का पतन हुआ और सन् ११८६ ई० में उसने विश्वासघात कर खुशरव मलिक को मार डाला तथा लाहौर पर भी कब्जा कर लिया। इस प्रकार पंजाव में अपनी जड़ें गहरी जमा कर शहावुद्दीन ने फिर भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किये।

शहावुद्दीन सन् ११७८ ई० की अपनी भीषण पराजय भूला न था। उसने इस वार दूसरी ओर से भारत पर आक्रमण करने का विचार किया। इस वार उसने तोमरों के साम्राज्य (या राज्य-संघ)[2] के मार्ग से आक्रमण किया। सन् ११८९ ई० में उसने तँवरहिन्दा (सरहिन्दा या भटिण्डा) पर आक्रमण कर दिया और उस गढ़ को हस्तगत कर लिया तथा वहाँ जियाउद्दीन नामक सेनापति को सेना सहित नियुक्त कर दिया। मुल्तान, लाहौर और तँवरहिन्दा (सरहिन्दा या भटिण्डा) को केन्द्र वनाकर शहावुद्दीन और उसके सेनापतियों ने तोमर-साम्राज्य (या राज्य-संघ) का पश्चिमी भाग उजाड़ना प्रारंभ कर दिया।

---

१. प्रवन्ध-चिन्तामणि, पृ० ९७।
२. परिच्छेद ६ तथा २७ देखें।

चाहड़पाल द्वारा शहाबुद्दीन के प्रतिरोध की व्यवस्था

तोमर साम्राज्य पर आयी इस विपत्ति का सामना करने के लिए चाहड़पाल तोमर ने तयारियाँ प्रारंभ कीं। उसने अपने राज्य-संघ के समस्त राजाओं को संगठित किया। उस समय अजमेर के चौहानों का सैन्यबल अत्यधिक था और उनका किशोर राजा राय पिथौरा अत्यन्त उत्साही था। ज्ञात यह होता है कि योजना यह बनायी गयी कि शहाबुद्दीन के प्रतिरोध के लिए अजमेर की शक्ति का भी उपयोग किया जाए।

हम्मीरमहाकाव्य के अनुसार चाहड़पाल (चन्द्र) स्वयं राय पिथौरा के पास उसे रण-निमंत्रण देने अजमेर गया। फारसी के तुर्क सुल्तानों के इतिहासों में इस यात्रा का वर्णन दिये जाने की संभावना नहीं है, केवल हम्मीरमहाकाव्य का इसका वर्णन एक मात्र आधार है—

"जब पृथ्वीराज अपनी प्रजा पर न्यायपूर्ण राज्य कर रहा था तथा अपने शत्रुओं को भयभीत किये हुए था, उस समय शहाबुद्दीन समस्त पृथ्वी को अपने अधिकार में करने के प्रबल प्रयत्न कर रहा था। शहाबुद्दीन के हाथों प्रताड़ित होकर पश्चिम के भूमिपालों ने गोपाचलीय चन्द्रराज को अपना प्रमुख बनाया और वे पृथ्वीराज के पास पहुँचे। औपचारिक भेटों के आदान-प्रदान के पश्चात् ये राजा लोग पृथ्वीराज के सामने बैठ गये। पृथ्वीराज ने उनके मुखों पर विषाद की रेखाएँ देखीं और उनके क्लेश का कारण पूछा। चन्द्रराज ने कहा कि शहाबुद्दीन नामक एक शक राजाओं के विनाश के लिए धूमकेतु के समान उदित हो गया है। उसने हमारे नगरों को लूट लिया है और मन्दिरों को जला दिया है, स्त्रियों को भ्रष्ट कर दिया है और उन्हें दयनीय दशा में पहुँचा दिया है। इस शक के अत्याचारों से त्राण पाने के लिए राजकुल के व्यक्ति पहाड़ों की घाटियों में भाग गये है। यदि कोई सशस्त्र राजपुत्र उस शक को दिखाई दे जाता है, वह उसे तुरन्त ही यमलोक भेज देता है।

"चन्द्रराज ने कहा कि मेरे विचार से शहाबुद्दीन परशुराम है जो पुनः क्षत्रिय-वंश के विनाश के लिए अवतरित हुआ है। लोग इतने आतंकित हो गये हैं कि उनकी निद्रा समाप्त हो गयी है और वे सदा भयभीत रहते हैं कि न जाने किस दिशा से यह शक आ टपके, इस भय से वे चारों दिशाओं में सतर्क दृष्टि से देखते रहते हैं। शहाबुद्दीन ने इस समय अपनी राजधानी मुल्तान में बना ली है और वह वहीं रहता है।

"चन्द्रराज ने राय पिथौरा से कहा कि ये समस्त राजा आपकी सहायता की याचना करने आए हैं।"

नयचन्द्र का यह विवरण कहाँ तक इतिहास-सम्मत है, इसकी समीक्षा असम्भव है।

प्रस्तुत प्रसंग में केवल यह तथ्य संग्रहणीय है कि राय पिथौरा ने इस राष्ट्रीय संकट को पहचाना। इस समय उसे 'सुन्दोपसुन्दन्याय' का पाठ पढ़ाने वाला कैमास भी प्रभावहीन हो चुका था, अतएव राय पिथौरा भी सेना लेकर चाहड़पाल के साथ बढ़े।

शहाबुद्दीन भी लाहौर या मुल्तान से इस संयुक्त राजपूत सेना का सामना करने के लिए चल दिया।

ताराइन का युद्ध

ताराइन पर तुर्कों और राजपूतों की सेना का युद्ध हुआ। इस युद्ध के विवरण के लिए नयचन्द्र अथवा पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह अथवा अन्य किसी भारतीय स्रोत का सहारा लेना उपयोगी नहीं है। वे एकमत भी नहीं है, और निश्चय ही काल्पनिक भी हैं।

इस युद्ध के विवरण के लिए तवकाते-नासिरी का आश्रय लेना ही उपयुक्त है। उनके अनुसार[1] राजपूतों की इस सेना ने सबसे पहले तँवरहिन्दा (सरहिन्दा या भटिण्डा) के गढ़ को मुक्त कराने का प्रयास किया। शहाबुद्दीन ने उन्हें मार्ग में ही ताराइन के पास रोका। इन सेना का नेतृत्व "राय कोला-पिथारा" (चाहड़पाल तथा राय पिथौरा) कर रहे थे।[2] हिन्दुस्तान के सब रईस 'राय कोला' (चाहड़पाल) के साथ थे। युद्ध प्रारंभ हुआ। सेनाओं के आमने-सामने आते ही सुल्तान शहाबुद्दीन ने भाले से उस हाथी पर आक्रमण किया जिस पर दिल्ली का राय चावण्ड (खण्डी, कण्डी, गोयन्द, गवन्द, या गोविन्द अर्थात् चाहड़पाल) सवार था। चाहड़पाल भी आगे बढ़ा, और मिनहाज सिराज के अनुसार, "अपने युग के सिंह, रुस्तम के प्रतिरूप सुल्तान ने अपना भाला राय के मुख में घुसेड़ दिया और उस दुष्ट के दो दाँत तोड़कर गले के नीचे उतार दिये।" राय ने प्रत्याक्रमण किया और अपने प्रतिद्वन्द्वी की भुजा पर गंभीर घाव कर दिया। "सुल्तान ने अपने घोड़े को मोड़ा और एक ओर चला गया। उसके घाव की पीड़ा इस सीमा तक असह्य थी कि वह घोड़े की पीठ पर बैठा न रह सका। मुसलमानों की सेना पराजित हो गयी और नियंत्रित न हो सकी।" सुल्तान घोड़े से गिरने ही वाला था कि "एक कुशाग्रबुद्धि और वीर खलजी युवक ने उसे पहचान लिया, वह कूदकर सुल्तान के पीछे बैठ गया और उसे अपनी छाती से चिपका कर घोड़े को भगा ले गया। इस प्रकार वह सुल्तान को युद्ध-क्षेत्र के बाहर ले गया।"

वर्णन संक्षिप्त है, परन्तु सारगर्भित है। इस युद्ध में सुल्तान को पराजित करने वाला दिल्ली का चाहड़पाल ही था। तँवरहिन्दा (या सरहिन्दा या भटिण्डा) का गढ़ मुक्त करा लिया गया।

कैमास-वध

इस विजय का प्रभाव महत्वाकांक्षी रायपिथौरा पर अच्छा नहीं पड़ा, वह आवश्यकता से अधिक दम्भ से भर गया। उसने अपने सेनापति स्कंध को, संभवतः,

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २९५।

२. यह 'राय कोलाह' विवाद का विषय रहा है। 'गोला' दासीपुत्र होता है, अतएव यह सम्बोधन राय पिथौरा के लिए नहीं हो सकता। डॉ० रामवृक्षसिंह ने बहुत पुष्ट आधारों पर इसे 'गोविन्द' माना है, तथापि वे 'गोविन्द' को चाहड़ से अभिन्न मानने की स्थिति में नहीं थे। (द हिस्ट्री ऑफ दि चाहमान्स, पृ० १९१-१९२ की पाद टिप्पणी)।

जयचन्द्र गहड़वाल के किसी इलाके को 'दिग्विजय' करने के लिए (यानी लूटने के लिए) भेज दिया[1] तथा जम्मू के राजा पर भी आक्रमण कर दिया।[2] उसने किसी पाल्हण की पुत्री परम सुन्दरी 'पद्मावती' से विवाह कर लिया, जिसने उस पर ऐसी मोहिनी डाली कि उसे चित्त-विकार उत्पन्न हो गया।[3] राय पिथौरा और चाहड़पाल तोमर, भिन्न कारणों से, कैमास से अप्रसन्न थे, अतएव रायपिथौरा ने कैमास को मार डाला।[4] संभवतः इस हत्या में चाहड़पाल का भी हाथ हो। राय पिथौरा जैसे उद्धत व्यक्ति को इस कृत्य के लिए उसी ने उकसाया हो, यह सभव है।

तराइन का अन्तिम युद्ध

शहाबुद्दीन गौरी ने भिन्न प्रकार का आयोजन किया। अपनी पराजय के कारण यह तिलमिला उठा, उसकी नींद और भूख हराम हो गयी। उसने तराइन के युद्ध से भागने वाले अमीरों की सार्वजनिक भर्त्सना की। घाव ठीक होते ही उसने गजनी में सैन्य-सज्जा प्रारम्भ कर दी। उसने एक लाख बीस हजार तुर्क, ताजिक और अफगान अश्वारोहियों की सेना संगठित की और उसे अस्त्र-शस्त्र तथा कवचों से सुसज्जित किया। इस विशाल सेना के साथ वह लाहौर आ गया।

---

१. "गन्तेऽन्यसंगरे स्कंदे": विरुद्ध-विधि-विध्वंस।
२. तबकाते-नासिरी, रेवर्टी, भाग १, पृ० ४६६-४६७ की पाद टिप्पणी।
३. कान्हड़दे-प्रबन्ध, पृ० १४६।
४. कैमास को तराइन के सन् ११९१ ई० के युद्ध के पश्चात् ही मारा गया था, इसके विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में उद्धृत कैमास-आख्यान में लिखा है—

"कइंबास विआस विसट्ठ विणु मच्छि बंधि बद्धओ मरिसि"

—व्यास (बुद्धिमान) और वसिष्ठ (श्रेष्ठ) कइंबास के बिना तुम शत्रु द्वारा मत्स्यबंध (मछली की भाँति जाल) में बंधकर मृत्यु को प्राप्त होगे। (डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुवाद से साभार उद्धृत।)

'कान्हड़दे-प्रबन्ध' में भी यही कहा गया है—

साधिउ मंत्र गर्भि गइनइ, चित्तिविकार हुउ राइ नइ।
राय बसि कीधउ लोपीलाज हण्या प्रधान नीगम्यउ राज॥

नई रानी पाल्हण की बेटी पद्मावती ने राय पिथौरा पर (वशीकरण के हेतु) गाय के गर्भ में (कुछ रखकर) मंत्र की साधना की, उसके कारण राजा को चित्त-विकार उत्पन्न हुआ। यह निर्लज्जता का कार्य था, तथापि राजा वश में हो गया, (पद्मावती में ही लीन रहने लगा), उसने अपने मंत्री को मार डाला और इस कारण उसका राज्य चला गया।

डॉ० शर्मा भी अपने ग्रन्थ अर्ली चौहान डायनेस्टीज में (पृ० ८४) यह मानते हैं कि राय पिथौरा किसी नयी रानी के प्रेम में लीन हो गये थे।

इस वार शहावुद्दीन न केवल शस्त्रवल, वरन् कूटनीति के प्रयोग के संकल्प से आया था। इस वार उसे दिल्ली के चाहड़पाल पर भी रोप था। उसे किसी भी प्रकार अपनी पराजय का वदला लेना था। वह राजपूतों की गतिविवियों पर भी पूर्ण सतर्क दृष्टि रख रहा था। जम्मू का उस समय का राजा विजयराज राय पिथौरा से असंतुष्ट था ही। शहावुद्दीन को यह भी ज्ञात था कि राय पिथौरा कन्नौज के गहड़वालों से उलझ पड़े हैं। संभव है उसे कैमास की मृत्यु तथा राय पिथौरा के नवीन विवाह की भी सूचना हो। अवुलफजल ने लिखा है कि शहावुद्दीन ने गहड़वाल जयचन्द्र से सहायता की याचना की थी।[1] अवुलफजल निश्चय ही 'पृथ्वीराज रासो' की अनुश्रुति से भ्रम में आ गया था। जम्मू के राजा ने शहावुद्दीन की सहायता अवश्य की थी।[2] हम्मीरमहा-काव्य के अनुसार किसी "घटैक" देश के राजा ने शहावुद्दीन की सहायता की थी। यह 'घटैक' जम्मू ही है। पुरातन-प्रवन्ध-संग्रह में उद्धृत पुरातनतर कैमास-आख्यान में भी जम्मू के राज का शहावुद्दीन गौरी से मिल जाने का उल्लेख है।[3]

इस ओर किसी प्रकार की तैयारी हो रही थी, इसका विवरण अस्त-व्यस्त है। फरिश्ता के अनुसार अनेक राजाओं को रणनिमंत्रण भेजे गये, और लगभग डेढ़ सौ राजा एकत्रित हुए और उनने गंगा की शपथ ली कि वे म्लेच्छों को पराजित कर गत वर्ष की विजय की वर्षगाँठ मनाएँगे। अन्य सूत्रों से यह ज्ञात होता है कि इस वार किसी सैन्य संगठन की आवश्यकता नहीं समझी गयी।[4]

फरिश्ता के अनुसार राजपूतों ने शहावुद्दीन गौरी के पास सन्देश भेजा कि उचित यही है कि सुलतान वापिस लौट जाए, यदि वह इस बात पर सहमत हो जाएगा तव राजपूत सेना उसका पीछा नहीं करेगी। शहावुद्दीन ने कूटनीति से कार्य किया। उसने उत्तर भेजा कि वह तो अपने भाई का सेवक मात्र है। आप मुझे पर्याप्त समय दें जिससे कि मैं अपने भाई सुलतान के पास संधि का प्रस्ताव भेजूँ। मेरी स्वयं की इच्छा है कि तँवरहिन्दा (भटिण्डा), पंजाव और मुल्तान हमारे पास रहें तथा शेष भारत पर राजपूतों का प्रभुत्व रहे। चाहड़पाल और राय पिथौरा ने शहावुद्दीन के इस कथन को सत्य मान लिया। राजपूत सेना होली के त्यौहार में आनन्द-मग्न हो गयी।[5] शहावुद्दीन ने

---

१. परिच्छेद ११ देखें।

२. तवकाते-नासिरी : रेवर्टी का अनुवाद, भाग १, पृ० ४६६, पाद टिप्पणी।

३. 'कुडु मंत्र मम ठवओ एहु जम्वूय मिलि जग्गरु'
—(हे रायपिथौरा तुम) कुमंत्र मत स्थित करो क्योंकि इस प्रकार तुम्हारा शत्रु जम्वू (जम्वू पति) से मिलकर आगे वढ़ रहा है। (डॉ० माताप्रसाद गुप्त की टीका से संशोधन सहित, तथापि साभार।)

४. द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० १११।

५. फरिश्ता : व्रिग्स, पृ० ५८। प्रो० निजामी फरिश्ता के इस कथन को अधिक विश्वस-नीय नहीं मानते। उनके मत में राजपूत राजा इतने वुद्धिहीन नहीं थे कि वे रणक्षेत्र में शहावुद्दीन द्वारा किये गये उक्त कथन को स्वीकार कर लेते। (कम्व्रि० हि० भाग ५, पृ० १६३।)

अपने पड़ाव के स्थान पर कुछ व्यक्तियों को छोड़ दिया और उन्हें पूरी रात आग जलाते रहने का आदेश दिया ताकि राजपूत सेना इस धोखे में बनी रहे कि तुर्कों की सेना ग़ज़नी से सन्धि की शर्तों की स्वीकृति आने की प्रतीक्षा में निष्क्रिय पड़ी है। शहाबुद्दीन अपनी समस्त सेना को अन्यत्र ले गया और उसने आक्रमण की योजना बनाई। सुल्तान ने अपने सैन्य का मध्य भाग, सामान, पताकाएँ, झण्डे, राजचिह्न तथा हाथी कई मील पीछे छोड़ दिये। अन्य अश्वारोहियों को उसने दस-दस हजार के चार दलों में विभक्त किया और उन्हें आदेश दिया कि वे राजपूतों पर दाएँ, बाएँ, आगे और पीछे से आक्रमण करें और भागने का बहाना बनाकर लौटते रहें। अभी पूरी तरह सवेरा हुआ भी नहीं था कि राजपूतों पर आक्रमण प्रारम्भ हो गया।

तबकाते-नासिरी के अनुसार राजपूत सामन्त और सैनिक अभी नित्य-कर्म से निवृत्त हो रहे थे। राय पिथौरा तो अभी निद्रा-मग्न ही थे। संभवतः दिल्ली का राजा चाहड़ जाग रहा था। तुर्कों के चारों ओर से किये गये आक्रमणों का अवरोध किया जाने लगा और तीसरे पहर तक युद्ध होता रहा। संभवतः अब तक राय पिथौरा भी जाग गये थे और वे भी गजारूढ़ होकर रणक्षेत्र में आए।

शहाबुद्दीन ने थकी और अस्त-व्यस्त राजपूत सेना पर अपनी समस्त सुरक्षित अश्रान्त सेना के साथ आक्रमण किया। लगभग एक लाख राजपूत खेत रहे और उन्हीं में मारा गया "दिल्ली का राजा" चाहड़पालदेव।

चाहड़पाल के प्रति शहाबुद्दीन की दृष्टि थी, उसे एक वर्ष पूर्व का आघात स्मरण था, संभवतः, उसे यह भी ज्ञात था कि जब तक इस "दिल्ली के राजा" से नहीं निपटा जाएगा, विजय कठिन है। चाहड़पाल के मरने पर सुल्तान ने उसे उसके गत वर्ष टूटे दाँतों के कारण पहचान लिया।

राय पिथौरा ने भी युद्ध का परिणाम समझ लिया। गज को छोड़, शीघ्र रणक्षेत्र से भाग जाने के प्रयोजन से, उसने घोड़े पर सवारी की तथा भागा। शहाबुद्दीन के सैनिकों ने उसे सरस्वती के किनारे पकड़ लिया।[1]

इस विषय में मध्ययुगीन तथा आधुनिक इतिहासकारों में घोर मतभेद है कि राय पिथौरा युद्ध-क्षेत्र से भागते हुए सरस्वती के किनारे मार डाले गये थे, या शहाबुद्दीन द्वारा बन्दी बनाए जाकर कुछ समय पश्चात् मारे गये थे,[2] परन्तु इस विषय में कोई मतभेद नहीं कि चाहड़पालदेव युद्ध करते हुए रणक्षेत्र में धराशायी हुए थे।

दिल्ली के तोमर राजवंश के इतिहास के लिए यही सुनिश्चित तथ्य महत्वपूर्ण है कि तराइन के इस निर्णायक युद्ध में रविवार १ मार्च सन् ११९२ ई० को अथवा

१. डॉ० दशरथ शर्मा ने 'सरसुती' नामक गढ़ होने का मत व्यक्त किया है। संभव है, यह कथन ठीक हो। परन्तु संदर्भ को देखते हुए यह सरस्वती नदी की घाटी ही ज्ञात होती है।

२. पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) की मृत्यु के स्वरूप के लिए परिशिष्ट 'एक' देखें।

फाल्गुनी पूर्णिमा (होली) वि० सं० १२४९ को दिन के २ और ३ बजे के बीच[1] दिल्ली का अन्तिम तोमर सम्राट् चाहड़पालदेव, भारत की स्वतंत्रता की प्रतिरक्षा के लिए अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक संघर्ष करता हुआ समरभूमि में धराशायी हुआ था। "असावरी श्रीसमन्तदेव" के श्रुतिवाक्ययुक्त मुद्राओं को ढिल्लिका की टकसाल में ढलवाने वाले, ढिल्लियाल सिक्कों के निर्माता, कुरुक्षेत्र के अधिपति दिल्ली सम्राटों की परम्परा समाप्त हुई और उसी दिन भारत के स्वातन्त्र्य-रवि का खग्रास प्रारम्भ हुआ।

---

१. इस तिथि के विनिश्चयन के लिए परिशिष्ट 'दो' देखें।

पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) की मृत्यु का स्वरूप

दिल्ली के तोमर राजवंश के इतिहास में पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) की मृत्यु के स्वरूप का विवेचन अप्रासंगिक और असम्बद्ध ही माना जाएगा। तथापि दिल्ली के तोमर राजवंश और अजमेर के चौहान राजवंश का इतिहास आपस में इतना गुँथा हुआ है कि यहाँ इस अन्तिम दृश्य पर विचार करना अक्षम्य नहीं कहा जा सकता, विशेषत: जब उस विवाद की चपेट में कुछ तोमर मुद्राएँ दब गयी हैं।

हसन निजामी ने ताजुल-मआसिर का लेखन सन् १२०५ ई० में प्रारंभ किया था और १२३० ई० के आसपास वह पुस्तक पूरी हो गयी थी। इस ग्रन्थ के अनुसार पृथ्वीराज चौहान तराइन के युद्ध क्षेत्र में नहीं मरे थे, वरन् शहाबुद्दीन उन्हें बन्दी बनाकर अजमेर ले गया था। आगे के परिशिष्ट में हमने वह गणित प्रस्तुत किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि हसन निजामी के वर्णन को प्रामाणिक मानने पर भी पृथ्वीराज चौहान को बन्दी बनाने के आठ-दस दिन पश्चात् ही मार डाला गया था।[1]

तुर्कों के समकालीन इतिहास लेखकों में मिनहाज सिराज की तवकाते-नासिरी सन् १२५९ ई० के आसपास पूरी हुई थी, यद्यपि वह १२२७ ई० में ही भारत में आ गया था। मिनहाज सिराज के अनुसार राय पिथौरा को युद्धक्षेत्र से भागते समय 'सरसुती' के पास तत्काल मार डाला गया था।

इन दो समकालीन इतिहासकारों के विवरण में इस निर्णायक युद्ध के विषय में यह अन्तर क्यों है, इसे समझ लेने पर उस भावना का स्पष्टीकरण होता है जिससे प्रेरित होकर तुर्कों के ये इतिहासकार अपने इतिहास लिखते थे।

हसन निजामी और मिनहाज सिराज दोनों ही इस्लाम की विजय के कट्टर हामी थे और भारतीयों के प्रति उन्हें अत्यधिक घृणा थी। उनके द्वारा तुर्कों के गतिरोध के प्रयासों को 'जिहाद' (धर्मयुद्ध) के मार्ग में उपद्रव करना ही माना गया था। इन मुल्लाओं ने अपने धर्मग्रन्थों से यह सीखा था कि प्रत्येक काफिर को इस्लाम की पताकाओं के सम्मुख झुकाना ही धर्म का अटल आदेश है। हसन निजामी ने शहाबुद्दीन की दो घोर पराजयों का उल्लेख ही नहीं किया है। नाइकी देवी के हाथों उसे अपनी अधिकांश सेना नष्ट कराकर भागना पड़ा था और चाहड़पालदेव ने उसे मृतप्राय कर रणक्षेत्र से भगा दिया था, इन घटनाओं का उल्लेख हसन निजामी ने नहीं किया है। इसका कारण है। हसन निजामी के लिए शहाबुद्दीन और उसका गुलाम कुत्बुद्दीन आख्यान-नायक थे, उनकी पराजय का तथ्य वह लिख ही नहीं सकता था। राय पिथौरा के प्रति उसे विशेष रोष था। यदि वह शहाबुद्दीन का साथ देता तब उसके कथानायकों को चौलुक्य रानी के हाथों न पिटना

---

१. परिशिष्ट 'दो' देखें।

पड़ता और यदि उसके पश्चात् भी चौहान राजा उनका साथ देता तब सन् ११९१ ई० में ताराइन के युद्ध में उनकी दुर्दशा न होती। हसन निजामी के अनुसार राय पिथौरा के मस्तिष्क में विश्व-विजय का भूत घुस गया था। 'सरसुती' के किनारे यदि राय-पिथौरा को मारने की घटना लिख दी जाती तब सुल्तान को इस भूत को उतारने के लिए आठ दिन का सुअवसर न मिलता और सब मजा ही किरकिरा हो जाता। जिस संस्कृति में हसन निजामी पला था उसमें काफिरों के शवों के साथ खिलवाड़ धर्मसम्मत ही मानी जाती थी।

मध्ययुगीन फारसी इतिहास ग्रन्थों में केवल तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख इस सम्बन्ध में पर्याप्त होगा। मिनहाज सिराज का ही समकालीन ऊफी था। उसने जामी-उल-हिकायात में केवल यह लिखा है कि 'कोला' को बन्दी बना लिया गया।[1] उसके पश्चात् 'कोला' का क्या किया गया यह ऊफी नहीं लिखता। ऊफी के कथन से हसन निजामी के कथन का समर्थन नहीं होता, यद्यपि स्पष्टत: मिनहाज सिराज का भी समर्थन नहीं होता। पृथ्वीराज चौहान (राय कोला) को, ऊफी के अनुसार, बन्दी बनाए जाने के पश्चात् युद्धक्षेत्र में भी मारा जा सकता था, घण्टे दो घण्टे बाद भी और आठ दिन बाद भी। अबुलफ़जल ने पहले तो पृथ्वीराज रासो के अनुसार पृथ्वीराज चौहान को बन्दी बनाकर गजनी ले जाने की कहानी दी है और फिर यह लिख दिया है कि फारसी इतिहास-कार यह कहते हैं कि राजा युद्ध में मारा गया।[2]

फरिश्ता ने इन सब ग्रन्थों को देखा था। उनके मंथन से वह इस परिणाम पर पहुँचा था कि राय पिथौरा युद्ध में ही मारा गया था।[3]

आधुनिक इतिहासकारों में सर हेग ने इन सब ग्रन्थों का मनन किया था। वे हसन निजामी की कहानी से सहमत नहीं हुए थे और उन्होंने पृथ्वीराज चौहान को युद्ध से भागते समय सरस्वती के पास मारे जाने के मिनहाज सिराज के कथन को ही मान्य किया है।[4]

परन्तु कुछ भारतीय विद्वानों को हसन निजामी का ही कथन मान्य है। डॉ० दशरथ शर्मा,[5] डॉ० आर० सी० मजूमदार[6], डॉ० रामवृक्षसिंह,[7] प्रो० निजामी[8] तथा डॉ० आशीर्वादीलाल[9] ने पृथ्वीराज चौहान को बन्दी बनाए जाने के तथ्य से सहमति

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २००।
२. परिच्छेद ११ देखें।
३. तारीखे-फरिश्ता, ब्रिग्स, पृ० १७७।
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ४०।
५. अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० ८७।
६. द स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० ११२।
७. द हिस्ट्री ऑफ द चाहमान्स, पृ० २०८।
८. कम्प्रे० हि०, भाग ५, पृ० १६५।
९. दिल्ली सल्तनत, पृ० ७७।

प्रकट की है। इन विद्वानों ने पृथ्वीराज चौहान को कुछ दिन वन्दी-जीवन के क्यों प्रदान किये हैं इसका विवेचन करने के पूर्व, इस सम्बन्ध में एक समकालीन भारतीय स्रोत से प्राप्त जानकारी पर विचार कर लेना आवश्यक है।

पृथ्वीराज चौहान (राय पिथौरा) का सेनापति स्कन्द था, यह सुनिश्चित है। उसके पौत्र लक्ष्मीधर ने विरुद्ध-विधि-विध्वंस नामक ग्रन्थ लिखा था।[1] निश्चय ही लक्ष्मीधर को अपने प्रपिता और उसके इतिहास की जानकारी हसन निजामी की अपेक्षा अधिक थी। उसने लिखा है—

गतेऽन्यसंगरे स्कन्दे निद्रा-व्यसन-सन्नधीः।
व्यापादितस्तुरुष्कैस्स [राजा] जीवन्मृतो युधि॥

"(सेनापति) स्कन्द के अन्य युद्ध पर चले जाने पर, [वह राजा] जिसकी बुद्धि (धी) निद्रा एवं व्यसनों के कारण अवसन्न हो गयी थी (और इस कारण) (जो राजा) जीवित होते हुए भी मृत के समान ही था, (उस राजा को) युद्ध में तुरुष्कों द्वारा मार डाला गया (व्यापादितः)।

डॉ० आर० सी० मजूमदार ने इस श्लोक का भावानुवाद निम्नरूप में किया है[3]—

When Prithviraja's general Skanda went to another battle, the king, whose intellect was shrouded by the vice of sleep, who, though alive, was as good as dead in battle, was slaughtered by the Turushkas.

सन् ११९२ ई० के निर्णायक युद्ध के समय लक्ष्मीधर का जन्म हो चुका होगा और उसका पिता भी निश्चय ही वयस्क होगा। उसका प्रपिता तो उस दृश्य का प्रधान पात्र ही था। लक्ष्मीधर का कथन हसन निजामी के कथन की तुलना में केवल इसलिए अमान्य नहीं किया जा सकता कि वह फारसी में नहीं है या विजेता के चाटुकार द्वारा नहीं लिखा गया है। लक्ष्मीधर आख्यान भी नहीं लिख रहा था, दुखद आपबीती लिख रहा था। वह यह भी कहता है कि जब पृथ्वीराज चौहान युद्धक्षेत्र में मारे गये तब सेनापति स्कन्द ने हरिराज को शाकंभरी का राजा बना दिया था।

हसन निजामी के कथन को सही मानने के कारणों को यहाँ प्रो० निजामी के शब्दों में उद्धृत करना उचित है[2] —

Muizzuddin's tactics succeeded and Rai Pithaura suffered a heavy defeat. He got down from the elephant, mounted a horse and fled from the field but was caught near Sarsuti. Minhaj says that he was immediately executed, but according to Hasan Nizami, he was taken to Ajmer and was allowed to function for a time. The fact that he was allowed to rule is supported by numismatic evidence and also by a semi-contenporary account, Viruddha-Vidhi-Viddhavansa.

प्राध्यापक निजामी ने यह नहीं वतलाया कि हसन निजामी के अनुसार ही राय

१. कैटलाग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स् इन द लायब्रेरी ऑफ इण्डिया ऑफिस, भाग ३, पृ० ४९०, १५७७।
२. द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० ११२।
३. कम्प्रे० हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० १६५।

पिथौरा को कितने दिन का जीवनदान मिला था। वे यदि यह गणित लगाते तब वह समय ८-१० दिन का ही प्राप्त हो जाता। परन्तु सबसे भयंकर बात यह है कि प्राध्यापक निजामी ने विरुद्ध-विधि-विध्वंस के श्लोक से यह आशय निकाला है कि उसके द्वारा राय पिथौरा के बन्दी बनाए जाने की कहानी का समर्थन होता है। निश्चय ही निजामी साहब ने डॉ० आर० सी० मजूमदार द्वारा दिया गया उसका भावार्थ देखा होगा; यदि नहीं देखा तब यह दुर्भाग्य की ही बात है। 'व्यापादित:' इतना असंदिग्ध प्रयोग है कि उसमें किसी शंका-सन्देह को स्थान नहीं है।

यथार्थ बात यह है कि प्राध्यापक निजामी तथा अन्य आधुनिक विद्वान उस 'मुद्राशास्त्र की साक्षी' से प्रभावित हैं, जिसका उल्लेख उक्त उद्धरण में किया गया है। 'मुद्राओं' के भ्रमपूर्ण विवेचन के आधार पर ही विरुद्ध-विधि-विध्वंस के उद्धरण का अशुद्ध अर्थ किया गया है।

ई० थामस ने 'द क्रोनिकल्स ऑफ पठान किंग्स ऑफ देहली' में उन मुद्राओं का उल्लेख किया है जिनमें एक ओर अश्वारोही के साथ "श्रीपृथ्वीराज" लिखा है और दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर "श्रीमहमदसामे" लिखा हुआ मिला है। ई० थामस को मुद्राओं का एक और वर्ग मिला था जिसमें एक ओर अश्वारोही के साथ "श्रीपृथ्वीराजदेव" लिखा मिला था और दूसरी ओर बैठे हुए नन्दी पर "असावरी श्रीसमन्तदेव" श्रुतिवाक्य मिला था। इन दोनों प्रकार की मुद्राओं से यह प्रकट होता है कि "असावरी श्रीसमन्तदेव" श्रुतिवाक्य को छीलकर उस पर "श्रीमहमदसामे" का ठप्पा लगाया गया है।

प्रश्न यह है कि दूसरी ओर का "श्रीपृथ्वीराजदेव" कौन है? पृथ्वीराज चौहान के बन्दी-जीवन के समर्थक विद्वानों का अभिमत है कि ये राय पिथौरा हैं और अपने 'करद' की स्थिति में उनके द्वारा ये मुद्राएँ अपने स्वामी 'श्रीमहमदसामे' की अधीनता स्वीकार करने के लिए ढलवाई गयी थीं। इतनी बड़ी पराजय के पश्चात् आठ-दस दिन के राज्यकाल में भी मुद्राएँ ढलवाने की कल्पना अव्यावहारिक है। हसन निजामी आठ-दस दिन से अधिक समय पृथ्वीराज चौहान को नहीं देता। उस बीच षड्यन्त्र भी चलते रहे और मुद्राएँ भी ढलती रहीं। यह सब कुछ असामान्य और असम्भव है।

यह मुद्रा-विकृति शहाबुद्दीन ने स्वयं या उसकी ओर से कुत्बुद्दीन ने की थी। उसने गहड़वालों की मुद्राओं पर भी "श्रीमहमदबेनेसाम" का ठप्पा लगवाया था। उन मुद्राओं में एक ओर चारभुजायुक्त लक्ष्मी है और उक्त नाम है।[1] अश्वारोही और बैठे हुए नन्दीयुक्त मुद्राओं को दोनों ओर भी छिलवाया गया था, जिन पर एक ओर 'श्रीहम्मीर' का ठप्पा लगाया गया और दूसरी ओर "श्रीमहमदसामे" का।

उस समय अजमेर में कोई टकसाल नहीं थी। लक्ष्मी के लांछन युक्त मुद्राएँ कन्नौज की टकसाल की हैं और अश्वारोही तथा नन्दीयुक्त मुद्राएँ दिल्ली की तोमर-टकसाल की थीं।[2] इन मुद्राओं को अजमेर के चौहानों की सिद्ध करने के प्रयोजन से राय पिथौरा

---

१. कनिंघम : काइन्स ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० ८६, फलक ९।
२. परिच्छेद २ देखें।

की मृत्यु का स्वरूप विगाड़ना अनुचित है।

इस दृष्टि से देखने पर विरुद्ध-विधि-विध्वंस का कथन नितान्त प्रामाणिक प्रतीत होगा। दिल्ली पर अधिकार कर लेने के पश्चात् दिल्लियाल मुद्राओं पर, अर्थात् पृथ्वीराज तोमर की मुद्राओं पर, 'श्रीमहमदसामे' का ठप्पा लगवा दिया गया, चाहड़पाल की मुद्राओं को दोनों ओर से छीला गया और उन पर "श्रीहम्मीर" तथा "श्रीमहमदसामे" के ठप्पे लगवाये गये। कन्नौज-साम्राज्य की विजय के पश्चात् यही दुर्दशा गहड़वाल मुद्राओं की की गयी।

विरुद्ध-विधि-विध्वंस का समर्थन एक अन्य चौहान-स्रोत से होता है। जालौर के चौहानों के राजकवि पद्मनाभ ने सन् १४५५ ई० में कान्हड़दे-प्रबन्ध लिखा था। उसमें लिखा है—

घाघरि नदी तीर राय सुणिउ
साहावदीन सुरताण(इ) हणिउ।

यह घाघरि (घग्घर) नदी सरस्वती का ही नाम है।

राय पिथौरा की मृत्यु के बारे में पृथ्वीराज रासो की कथा तो नितान्त काल्पनिक है। रासो के अनुसार शहाबुद्दीन राय पिथौरा को बन्दी बनाकर गजनी ले गया था और वहाँ चन्द बरदाई ने अपने राजा द्वारा शहाबुद्दीन का वध कराया था, यह सब इतिहास नहीं है, कवि-कल्पना है। रासोकार भाटों को एक और चमत्कारी "समय" अपने काव्य में जोड़ना था, सो उन्होंने यह कथा गढ़ डाली।

पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह का 'पृथ्वीराज-इतिहास' किसी आख्यान से कम नहीं है। मुनिजी को केवल यह ज्ञात था कि पृथ्वीराज निद्राव्यसनी था, अतएव उन्होंने लिखा[1]—

अथ पृथ्वीराजः प्रसुप्तः दिनानि १० परं कोऽपि न
जागरयति। यो जागरयति तं मारयति।

परन्तु तराइन के युद्धक्षेत्र में १० दिन सोने का समय नहीं मिला था। मुनिजी ने अन्त में राय पिथौरा को योगिनीपुर (दिल्ली) में एक गढ्ढे में डलवा कर मरवाया है।

नयचन्द्रसूरि के हम्मीरमहाकाव्य में पृथ्वीराज का प्राणत्याग जैन-पद्धति, अर्थात्, अनशन द्वारा करवाया गया है।

ये सब ऐसे कथन हैं कि जिनके कारण भारतीय ऐतिहासिक स्रोतों पर पाश्चात्य विद्वानों को अश्रद्धा हो गयी थी। परन्तु उनकी भूल यह थी कि वे लोग इन कपोल-कल्पित कहानियों को 'इतिहास' मान बैठे थे। इतिहास और आख्यान में भारतीय साहित्य विभेद मानता है, वह विभेद भुला दिया गया। परन्तु 'विरुद्ध-विधि-विध्वंस' आख्यान-काव्य नहीं है। वह विशुद्ध इतिहास है।

राय पिथौरा सरस्वती या घग्घर नदी के किनारे पकड़ कर मार डाले गये थे; न वे अजमेर ले जाए गये, न गजनी और न दिल्ली।

१. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह (सिन्धी जैन-ग्रन्थमाला), पृ० ८७।

परिशिष्ट—दो

ताराइन के युद्ध की तिथि तथा अन्य तिथियाँ

तबकाते-नासिरी में ताराइन के अन्तिम युद्ध का वर्ष ५८७ हि० दिया गया है। ताजुल-मआसिर के अनुसार शहाबुद्दीन सन् ५८७ हि० में इस युद्ध के लिए गजनी से चला था तथा रमजान सन् ५८८ हि० तक उसने दिल्ली जीत ली थी और हाँसी के सामन्त द्वारा हांसी को घेरने का समाचार कुत्बुद्दीन को दिल्ली में मिल गया था। रमजान ५८८, सितम्बर ११९२ ई० में पड़ा था, अर्थात् सितम्बर ११९२ ई० के पूर्व ताराइन का अन्तिम युद्ध भी हो चुका था, अजमेर पर कब्जा किया जा चुका था, तथा दिल्ली में तेजपाल को पराजित कर उसे करद बनाया जा चुका था। परन्तु इस आधार पर ताराइन के निर्णयकारी युद्ध की ठीक तिथि ज्ञात नहीं होती।

इसके साथ ही यदि वि० सं० १६८५ की वंशावलि की तिथियों को भी देखा जाए तब यह ज्ञात होता है कि वे पूर्णतः शुद्ध हैं और उनके आधार पर अनेक महत्वपूर्ण तिथियों को सुनिश्चित किया जा सकता है।

उक्त वंशावलि के अनुसार वि० सं० १२४९, चैत्र वदी २ को[1] तेजपाल ताराइन मे भागकर दिल्ली आ गया था। यह तारीख मंगलवार ३ मार्च सन् ११९२ ई० आती है। ताराइन का युद्ध तीसरे पहर समाप्त हुआ था। चाहड़पाल संभवतः २ और ३ बजे के बीच मारा गया होगा। हमारा अनुमान है कि उसी समय तेजपाल और उसके साथी रणक्षेत्र से दिल्ली की ओर भागे होंगे। ताजुल-मआसिर के अनुसार कुत्बुद्दीन ने दिल्ली से हाँसी तक की १२ फरसंग की दूरी एक रात में पूरी करली थी। अनुमान यह है कि तेजपाल निश्चय ही द्रुततर गति से भागा होगा। फिर भी उसे ताराइन से दिल्ली पहुँचने में दो दिन लगे होंगे। इस प्रकार ताराइन के इस निर्णायक युद्ध का अन्त रविवार

---

१. इस वंशावलि के पाठ के लिए पीछे पृ० १४३-१४४ देखें। विद्वद्वर डॉ० रघुवीरसिंह ने यह सूचित किया है कि उक्त वंशावलि में "संवत् १२४९ वर्षे चैत्र वदी २" के स्थान पर "संवत् १२४८ वर्षे चैत्र वदी २" होना चाहिए, क्योंकि विक्रम संवत् चैत्र सु० १ से वदलता है, एवं उक्त चैत्र वदी २ को सं० १२४८ विक्रम ही था। उत्तर भारत में जहाँ पूर्णिमांत मास माने जाते हैं वहाँ चैत्र वदी पिछले वर्ष के अन्त में और चैत्र सुदि अगले वर्ष के प्रारम्भ में आता है। डॉ० रघुवीरसिंह जी का यह मत ठीक है और संभावना यह है कि मूल पाठ में 'वदी' के प्रसंग में वि० सं० १२४९ के स्थान पर १२४८ ही हो। हमारी कठिनाई यह है कि राजस्थान भारती में श्री नाहटा ने १२४९ ही मुद्रित कराया है और इन्द्रप्रस्थ-प्रवन्ध में भी इसी रूप में मुद्रित है। परन्तु ३ मार्च ११९२ ई० को चैत्र वदी २, वि० सं० १२४८ ही थी।

१ मार्च सन् ११९२ ई० को तीसरे पहर हुआ माना जा सकता है।

वि० सं० १६८५ की वंशावलि में ही तेजपाल के दिल्ली में तुर्कों से पुनः पराजित होने का दिन संवत् १२४६, चैत्र सुदि २ दिया गया है। अर्थात्, मंगलवार, १७ मार्च ११९२ ई० को यह घटना हुई थी।

१ मार्च से १७ मार्च के बीच का घटनाक्रम ताजुल-मआसिर के अनुसार यह है कि ताराइन से शहाबुद्दीन की सेना राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) को बन्दी बनाकर अजमेर पहुँची। युद्ध के समस्त सामान के साथ यह सेना ४ दिन के पूर्व ताराइन से अजमेर नही पहुँच सकी होगी। इस प्रकार ५ मार्च के पूर्व शहाबुद्दीन अजमेर नहीं पहुँचा होगा। वहाँ उसने, ताजुल-मआसिर के अनुसार, मंदिर तोड़े, मस्जिदें तथा मदरसे बनवाए और इस्लाम के धर्माधिकारी नियुक्त किये। किसी भी दशा में यह सब कृत्य १३ मार्च तक पूरा हो गया होगा और दिल्ली की ओर कूच हो गया होगा। अर्थात्, शहाबुद्दीन केवल ८ दिन अजमेर में रहा।

इन आठ दिनों में उसने राय पिथौरा को अजमेर का राजा भी बना रहने दिया, उसकी विद्रोह-भावना के कारण उसे मरवा भी डाला और राय पिथौरा के पुत्र को अजमेर का राजा भी बना दिया। अर्थात्, यदि ताजुल-मआसिर का यह कथन सही भी माना जाए (जो निश्चय ही विद्वेषपूर्ण और अशुद्ध है) कि राय पिथौरा सरस्वती के किनारे नहीं मारे गये थे, अजमेर में मारे गये थे, तब उन्हें केवल आठ-दस दिन का जीवनदान मिला था।

सही तिथि क्रम और घटनाक्रम यह है कि १ मार्च ११९२ ई० को कभी संध्या समय राय पिथौरा सरस्वती के किनारे मार डाले गये। ५ मार्च को तुर्कों द्वारा गोला-राजा (दासी-पुत्र) को अजमेर में स्थापित कर दिया गया और १३ मार्च को तुर्की सेना दिल्ली की ओर चल पड़ी और १७ मार्च को तेजपाल तोमर पराजित किया गया।

१७ मार्च ११९२ ई० के पश्चात् तेजपाल कितने दिन तक करद के रूप में दिल्ली में रहा, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह घटना सन् ५८९ हि० की है जो कभी भी सन् ११९३ ई० की हो सकती है। परन्तु यह घटना मई-जून ११९३ के पूर्व की है, क्योंकि ताजुल-मआसिर के अनुसार कुत्बुद्दीन को घोर ग्रीष्म ऋतु में शहाबुद्दीन का यह आदेश मिला था कि वह गजनी पहुँचे। इसके पहले उसने तेजपाल को परास्त कर मार डाला था। इस प्रकार अनुमानतः अप्रैल ११९३ ई० में कुत्बुद्दीन ने तेजपाल से दिल्ली छीन ली और मई ११९३ ई० में उसे पराजित कर मार डाला तथा उसका सिर दिल्ली के लालकोट में टाँग दिया। वर्षा ऋतु प्रारम्भ होते ही, संभव है जून ११९३ ई० में, कुत्बुद्दीन गजनी चला गया। तेजपाल का छिन्न-मस्तक लालकोट में जून भर तो टँगा ही रहा होगा।

परिच्छेद २९

यवनिकापात

पन्द्रह दिन का दिल्ली-सम्राट्—तोमर तेजपाल द्वितीय

तराइन के सन् ११९२ ई० के युद्ध में चाहड़पाल के साथ संभवतः उसका राजकुमार तेजपाल भी था। तेजपाल प्रथम (१०८१-११०५ ई०) से विभेद करने के लिए हम इसे तेजपाल द्वितीय कहेंगे। वि० सं० १६८५ की वंशावलि में तेजपाल (द्वितीय) का इतिहास अत्यन्त संक्षेप में दिया गया है—"संवत् १२४९ चैत्र वदी २ तेजपाल ढीली लई—पृथ्वीराज को सवकुवर वीसलपाल को पुत्र दिवाकर बाँध लियौ।"[1] इस उद्धरण से ऐसा ज्ञात होता है कि तराइन के इस निर्णायक युद्ध के समय तेजपाल दिल्ली में नहीं था, वरन् युद्धक्षेत्र में ही था। चाहड़पाल की मृत्यु के पश्चात् ही वह दिल्ली आया। यह 'दिवाकर' कौन था, इसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। यह विग्रहराज चतुर्थ का पुत्र नागार्जुन है जो राय पिथौरा के संरक्षक कैमास और भुवनैकमल्ल से पराजित हो जाने के पश्चात् अपने मातुलगृह दिल्ली में रहने लगा था। तराइन के युद्ध में राजपूतों की पराजय का समाचार सुनकर उसके मन में दिल्ली सम्राट् बनने की इच्छा बलवती हुई। जिन तोमरों ने उसका अन्त तक साथ दिया, उनकी विपत्ति के समय यह चौहान-कुमार उनके सूने सिंहासन पर आसीन हो गया। रासो की 'व्यासवाणी' सत्य हुई! चौहान दिवाकर (नागार्जुन) ने अपने नाना मदनपाल तोमर की दिल्ली ले ली, भले ही एक दिन को। परन्तु तेजपाल उसके लिए पर्याप्त शक्तिशाली था, उसने उसे पराजित कर वन्दीगृह में डाल दिया। तेजपाल द्वितीय इस प्रकार, ३ मार्च, मंगलवार, सन् ११९२ ई० में दिल्ली का तोमर सम्राट् बना। परन्तु वह केवल एक पखवाड़े तक राज्य कर सका।

तेजपाल की पराजय

वि० सं० १६८३ की वंशावलि में इसके आगे का इतिहास भी दो वाक्यों में दिया गया है—"संवत् १२४९ चैत्र सुदि २, सुल्तान शहाबुद्दीन गजनी तहिं आयौ। चौदह वरस राज कियौ।" इन पंक्तियों के कथनों को हसन निजामी के ताजुल-मआसिर के साथ पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि तेजपाल केवल १५ दिन दिल्ली-सम्राट् रह सका, उसके पश्चात् उसे १७ मार्च, मंगलवार सन् ११९२ ई० को शहाबुद्दीन गौरी ने पराजित कर दिया और अपना करद बना लिया। हसन निजामी ने लिखा है—

"अजमेर का मामला निपटाने के पश्चात् विजेता (शहाबुद्दीन) दिल्ली आया, जो हिन्दुओं के प्रमुख नगरों में है। जब वह दिल्ली के पास आया तब उसने एक ऐसा गढ़

१. परिच्छेद १३ देखें।

देखा जिसकी ऊँचाई और दृढ़ता की बराबरी का कोई गढ़ समस्त संसार में नहीं था। सेना ने गढ़ को घेर लिया। युद्ध-भूमि में रक्त की नदी बहने लगी और राजाओं को यह स्पष्ट हो गया कि यदि वे दुनियाँ के मालिक (सुल्तान) की शरण में नहीं जाएँगे और यदि वे शरण के विकल्प और नेक सलाह पर ध्यान न देकर शैतान के हाथ में खेलते रहेंगे तब दिल्ली की भी वही दशा हो जाएगी जो अजमेर की हुई थी, अतएव राय (तेजपाल) तथा उसके सामन्तों ने दासता की रेखा पर अपना माथा टेक दिया, अपने चरणों को आज्ञाकारिता की पंक्ति में बाँध लिया, और यह दृढ़ विश्वास दिलाया कि वे मालगुजारी और (सैनिक) सेवा देते रहेंगे। सुल्तान गजनी लौट गया, परन्तु उसकी सेना पास के मौजा इन्द्रपत में शिविर डाले रही।"

हसन निजामी के कथन से अनेक तथ्य स्पष्ट होते हैं। ज्ञात यह होता है कि चाहड़-पाल की रणक्षेत्र में मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसकी सहायता के लिए जो राजा-सामन्त तराइन पर एकत्रित हुए थे वे तेजपाल द्वितीय के साथ दिल्ली भाग आए। शहाबुद्दीन द्वारा गढ़ घेरे जाने के पश्चात् उसकी प्रतिरक्षा के लिए भीषण युद्ध हुआ। परन्तु ये सामन्त संधि के लिए बीच में पड़े और तोमर राजा को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी। पराधीनता की सन्धि भी इस कारण की गयी थी कि दिल्ली का वही हाल न हो जो अजमेर का हो चुका था, परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। तेजपाल की स्वतंत्रता भी गयी, दिल्ली भी बर्बाद हुई और फिर प्राणों से भी हाथ धोने पड़े।

दिल्ली से निष्कासन

तेजपाल का यह 'दासता' का जीवन लगभग एक मास चल सका। शहाबुद्दीन ने इन्द्रपत में जो सेना छोड़ी थी उसका नेतृत्व उसके गुलाम कुत्बुद्दीन ऐबक के हाथ में था। उसकी वहाँ नियुक्ति ही संभवतः इसी उद्देश्य से की गयी थी कि वह किसी न किसी बहाने से शीघ्र ही लालकोट के गढ़ पर आधिपत्य कर ले। कुत्बुद्दीन ने तेजपाल पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए, जिनमें प्रमुख यह था कि लालकोट पर नगाड़ा नहीं बजेगा। सन् ११९३ ई० में ऐबक ने तेजपाल पर यह आरोप लगाया कि उसने तुर्क सैनिकों के साथ दुर्व्यवहार किया है और लालकोट पर आक्रमण कर दिया तथा तेजपाल को दिल्ली छोड़ने के लिए विवश किया। अनंगपाल द्वितीय का लालकोट का विशाल गढ़ और प्रासाद, इस प्रकार, अप्रेल सन् ११९३ ई० में तुर्कों की दिल्ली सल्तनत के केन्द्र बन गये।

अन्तिम प्रयास और चरम बलिदान

अभी कुछ समय तक तोमर यह कहते रहे हैं—"फिर-फिर दिल्ली तौंरों की, तौंर गये तब औरों की।" इस श्रुतिवाक्य के मूल में तोमर तेजपाल द्वितीय की बलिदान-गाथा सन्निहित है। दिल्ली से निष्कासित होने के पश्चात् तेजपाल व्यग्र हो गया, उसने अपने पूर्वजों के साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयास प्रारंभ किया। हसन निजामी ने अपनी विशिष्ट शैली में इसका वर्णन किया है[1]—

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २२०।

"उसने मूर्ति-पूजकों तथा उपद्रवी एवं उग्र जातियों की सेना एकत्रित की।" निश्चय ही यह सेना हरियाना के जाट, अहीर और गूजरों की सेना थी। हसन निज़ामी के अनुसार "कुत्बुद्दीन ने उसका पीछा किया और जब उस नीच (तेजपाल) को उसने पकड़ लिया तो उसके सिर को उसके धड़ से अलग कर दिया। उस सिर को उसकी राजधानी तथा निवास दिल्ली भेजा गया।" संभवतः उसे उसी के प्रासाद में टाँग दिया गया।

दिल्ली-सम्राट् तोमरों की गाथा लालकोट के राज-प्रासाद के प्रांगण में तब तक मँडराती रही जब तक तेजपाल का छिन्न-मस्तक वहाँ लटका रहा। एक दिन संभवतः कोई गीध उसे ले उड़ा और वह यशोगाथा भी तिरोहित हो गई। योगमाया, कालिका और कालभैरव को यह चरम बलिदान ग्राह्य न हुआ, वे सब परम अहिंसक बन चुके थे, अहिंसक 'अतिबल' भी उससे प्रभावित न हो सका क्योंकि वह बलिदान रक्त-रंजित था। दिल्ली तोमरों की फिर कभी न हो सकी, उसने शहाबुद्दीन के गुलामों को वरण कर लिया। दिल्ली की राज्य-लक्ष्मी के इस स्वभाव से विक्षुब्ध होकर ही क्यामखानी चौहान जान कवि ने लिखा—

अनन्त भर्ताहरि भखिगयी, नेंकु न आई लाज।
येक मरै दूजों करै यह दिल्ली को काज॥
जात गोत पूछत नहीं जोई पकरत पान।
ताही सों हिलमिल चलै पै भखि जारि निदान॥[1]

बुलबुल का आशियाना

तेजपाल तोमर (द्वितीय) मारा गया। उसका सिर न जाने कितने दिन तक अपने प्रकाश-विहीन नेत्रों से लालकोट के वैभव की ओर झाँकता रहा, उसकी मूक-वाणी ने सात नगरों वाली विशाल ढिल्लका के नागरिकों को सूचित कर दिया कि अब भारतीय इतिहास-नाटक के एक अंक पर यवनिकापात हो गया है, नये अंक की तैयारी

---

१. मध्ययुग में 'दिल्लीश्वरोवा जगदीश्वरोवा" जैसे श्रुतिवाक्य प्रचलित हुए थे। सन् ७३६ ई० से सन् ११९३ ई० तक ४५७ वर्ष दिल्ली पर आधिपत्य रखने वाले, और उस वीरान ग्राम को राजधानी का पद दिलाने वाले दिल्ली के तोमरों को आज की दिल्ली ने पूर्णतः भुला दिया है। 'चाणक्य-पुरी' से लेकर 'जवाहर-मार्ग' तक उसमें दिखाई देते हैं, परन्तु कहीं कुछ अनंगपाल, कुमारपाल, महीपाल या चाहड़पाल के नाम से भी पुकारा जाता हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। वे 'जगदीश्वर' नहीं थे, यह आज सुनिश्चित है; दिल्ली का कोई भी राजा 'जगदीश्वर' था, आज के परिवेश में यह विचार मूढ़ता का ही परिचायक माना जाएगा, तथापि तोमरवंश के इन नामों ने दिल्ली के शरीर-निर्माण में कुछ योग दिया है, इसमें सन्देह नहीं है। उसने इन नामों को पूर्णतः भुला दिया। ज्ञात होता है 'जान' के समय से आज तक दिल्ली ने अपना स्वभाव नहीं बदला है।

प्रारम्भ-हो, और इस मनोदशा का लाभ उठाकर कुत्बुद्दीन ऐवक ने लालकोट को अपना निवास बनाया, और उसका नया नाम 'कद्रे सफेद' रख दिया। तोमरों के मन्दिरों के चारों ओर उसे विशाल प्रासाद, मूर्तियाँ और भव्य कलाकृतियाँ दिखायी दीं। वे उसके बर्बर संस्कारों और विश्वासों के विपरीत थीं, उसे पसंद न आईं। उन्हें उसने हाथियों से तुड़वाना प्रारम्भ किया। तोमरों का पाँच शताब्दियों में निर्मित स्थापत्य और कला-वैभव नष्टभ्रष्ट कर दिया गया। सत्ताईस प्रासाद तोड़कर उनके मसाले से कुत्बुद्दीन ने कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद बनवाई। उसने एक शिलालेख भी इस मस्जिद में लगवाया, जिसमें दो वर्ष पूर्व की तारीख डाल दी।[1]

जिन प्रासादों के अवशेष इस मस्जिद के निर्माण में प्रयोग किये गये हैं उन पर कलापूर्ण मूर्तियाँ बनी हुई थीं, अतएव उन्हें छिपाने के लिए उन पर चूना चढ़ाया गया और कुर्आन-शरीफ की आयतें लिखवा दी गयीं। यह निर्माण विजितों के कारीगरों से कराया गया था, उन्हें मस्जिद निर्माण-कला ज्ञात नहीं थी, वे अपनी सात पीढ़ी से "प्रासाद" ही बनाते रहे थे, अतएव मन्दिर-मस्जिद का यह संमिश्रित रूप कुव्वतुल-इस्लाम खड़ा हो गया। कालान्तर में स्तम्भों का चूना झड़ गया और तोमरों द्वारा उत्कीर्ण करायी गयी मूर्तियाँ फिर झाँकने लगीं।

महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी एक बार कुव्वतुल-इस्लाम को देखने गये थे। भारतीय संस्कृति के बर्बर विध्वंस के इस हृदय-विदारक दृश्य को देखकर उन्होंने अपने अनुयायियों को यह निर्देश दिया कि वे उसे देखने न जाएँ।[2] तोमरों के इतिहास-लेखक को इससे सम्बन्ध नहीं है, उसे यह कह कर संतोष कर लेना चाहिए—

बुलबुल ने आशिआना चमन से उठा लिया,
उसकी बला से बूम रहे या हुमा रहे।

---

१. परिच्छेद ४ देखें।
२. दिल्ली की खोज, पृ० ३२।

परिच्छेद ३०

दिल्ली से ऐसाह

जटवान, जितहर और हिराज

सन् ११९२ ई० के पूर्व हांसी के दुर्ग पर किसी 'जटवान' का आधिपत्य था। सर इलियट ने उसे जाट जाति का मुखिया कहा है।[1] जाट और जट के ध्वनि-साम्य से यह भ्रम हो सकता है। तोमरों की सेना में जाट, अहीर और गूजर सभी थे, वे उनके अधीनस्थ राजा अर्थात् सामन्त भी थे। परन्तु यह 'जटवान' हाँसी का राजा (सामन्त) था। खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि के अनुसार सन् ११७५ ई० में हाँसी का 'राजा' भीमसिंह था। यह जटवान उसी का पुत्र या पौत्र ज्ञात होता है। उसका शुद्ध नाम खोजना व्यर्थ है, अतएव हसन निजामी द्वारा श्रुतिदोष और लिपिदोष के माध्यम से दिये गये नाम 'जटवान' से ही संतुष्ट होना पड़ेगा।[2]

हसन निजामी के कथन से यह ज्ञात होता है कि शहाबुद्दीन गौरी को हाँसी का गढ़ तराइन के सन् ११९२ ई० के युद्ध की विजय के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ था। ताजुल-मआसिर में उसने यह उल्लेख किया है कि सन् ११९२ ई० (सन् ५८८ हिजरी) में हाँसी का गढ़ किसी नुसरतुद्दीन के कब्जे में था और उस पर 'जटवान' ने आक्रमण कर दिया।

ज्ञात यह होता है कि तराइन के युद्ध में चाहड़पालदेव की मृत्यु के पश्चात् जब तेजपाल द्वितीय दिल्ली की ओर भागा तब उसका हाँसी का सामन्त भी उसके साथ दिल्ली गया। तेजपाल द्वारा आधीनता की अपमानजनक सन्धि करने के पश्चात् उसने दिल्ली छोड़ दी और अपने हाँसी के गढ़ को लेने का प्रयास किया।

'जटवान' ने हाँसी को घेर लिया। नुसरतुद्दीन ने दिल्ली में स्थित कुत्बुद्दीन के पास सहायता के लिए सन्देश भेजा। कुत्बुद्दीन विद्युत्-गति से हाँसी की ओर चला और एक रात में ही उसने बारह 'फरसंग' (छत्तीस मील) की दूरी पूरी करली। 'जटवान' हाँसी का घेरा छोड़ कर बागड़ प्रदेश की ओर हट गया जहाँ उसने कुत्बुद्दीन की सेना से लोहा लिया। हसन निजामी के शब्दों में "दोनों सेनाएँ लौह पर्वतों के समान एक दूसरे से टकराईं और युद्ध-क्षेत्र सैनिकों के रक्त से लाल हो गया।" जटवान युद्ध में मारा गया और "जटवान जो पाप और उपद्रव का मूल था, अधर्म और विपर्यस्तता का

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २१७।

२. प्रो० होदीवाल का अभिमत है कि यह 'जटवान' शब्द "चौहान" है। (स्टडीज इन इण्डो-मुस्लिम हिस्ट्री, पृ० १७९) प्रो० होदीवाल इस भ्रम में थे कि हाँसी-दिल्ली सभी चौहानों के "महाराज्य" में सम्मिलित थे।

मेरुदण्ड था, विषाद का मित्र था, निर्लज्जता का सहचर था, उसकी अनेक दैत्रवाद की ध्वजाएँ तथा विनाश के झण्डे (सुल्तान की) शक्तिशाली भुजाओं द्वारा झुका दिये गये।"

हसन निजामी के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह "जटवान" मात्र जाटों का मुखिया न होकर कोई प्रभावशाली व्यक्ति था, इतनी गालियाँ साधारण व्यक्तित्व पर न्योछावर न की जातीं। 'जटवान' निश्चय ही दिल्ली के तोमरों की ओर से हाँसी का सामन्त था।

अचलब्रह्म (जिहतर या जयत्रपाल)

राय पिथौरा ताराइन के युद्ध से भागते हुए सरस्वती के किनारे मार डाले गये। शहाबुद्दीन गौरी ने अजमेर के सिंहासन पर गोला राय को बैठा दिया। यह गोला राय पिथौरा का दासीपुत्र था। राजपूत-तंत्र में गोला और गोलियाँ अब तक चली हैं, ये अति परिचित शब्द हैं। राय पिथौरा (पृथ्वीराज चौहान) के सेनापति स्कन्द ने उनके छोटे भाई हरिराज को शाकंभरी का राजतिलक कर दिया। हरिराज ने पुनः अजमेर प्राप्त करने का प्रयास प्रारंभ किया। ज्ञात यह होता है कि तोमर तेजपाल का पुत्र भी इस प्रयास में उसके साथ था। हसन निजामी ने इनके नाम 'हिराज' और 'जिहतर' या 'झितर' दिये हैं।[1] हिराज तो निश्चित ही हरिराज है, परन्तु यह जिहतर या झितर जयत्रपाल भी हो सकता या जयपाल भी या कुछ और भी। फरिश्ता उसे चत्रराय कहता है जो "अचल राय" का अपभ्रष्ट रूप हो सकता है। यदि हमारा यह अनुमान ठीक है कि वह तेजपाल तोमर का वह राजकुमार था जो चम्बल-क्षेत्र में भाग आया था, तब खड्गराय की वंशावलि के अनुसार उसका नाम अचलब्रह्म होना चाहिए। इस जिहतर या झितर या चत्र को आधुनिक इतिहास लेखकों ने हरिराज चौहान का सेनापति माना है।[2] यह 'सेनापतित्व' वैसा ही है जैसा 'चाहड़पाल' का था। चौहानों का सेनापति स्कन्द था जो अभी मरा नहीं था। हसन निजामी के वर्णन से भी इस बात की पुष्टि नहीं होती कि 'जिहतर' सेनापति था, इसके विपरीत उसके वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि हरिराज और जिहतर दो स्वतंत्र सत्ताएँ थीं, उनके स्वभाव भी भिन्न थे। हरिराज उस घोर संकट में भी विलास में डूबे हुए थे और "जिहतर" निरन्तर स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयास में जुटा हुआ था।

शहाबुद्दीन के लगभग समकालीन इतिहास ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि इस जिहतर, चत्र, जयत्रपाल, या अचलब्रह्म की सहायता से हरिराज 'गोला राजा' से अजमेर छीनने में सफल हुआ। जिहतर, चत्र, जयत्रपाल अर्थात् अचलब्रह्म तोमर इस भ्रम में रहे कि चौहान हरिराज उसे दिल्ली का राज्य वापिस दिलाने में सहायता करेंगे, तथापि हरिराज ने दूसरा मार्ग अपनाया। चौलुक्य भीम द्वितीय ने उन्हें प्रसन्न करने के लिए पूरी एक शत गुजराती नर्तकियाँ भेंट में भेजीं। चौलुक्य भीम, कहते हैं, हरिराज चौहान

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ० २२५।
२. डॉ० शर्मा : अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० १०१।

को प्रसन्न करना चाहता था। यह वह समय था जब कुत्बुद्दीन ऐबक और उसके सेनानी समस्त उत्तर भारत को रौंद रहे थे। उस समय चौहान कुलावतंश हरिराज को सैनिकों, तलवारों और तीरों की आवश्यकता थी, परन्तु भेजी गयीं और स्वीकार की गयीं एकशत नर्तकियाँ !

हरिराज की कीर्ति-कौमुदी का बखान करने के लिए पृथ्वीराज-विजय-काव्य का लेखक जीवित नहीं बचा था, उसने अपने ग्रन्थ में केवल यह लिखा है कि राय पिथौरा और हरिराज के चरित्रों का निर्माण, क्रमशः, कैमास और कर्पूरदेवी के काकाजी भुवनैक-मल्ल की शिक्षा-दीक्षा में हुआ था।[1] या तो गुरु ही निकम्मे थे, या चेले ही किसी सद्गुण के ग्रहण के पात्र नहीं थे। राय पिथौरा के प्रमाद और विलास की गाथा अंकित हुई ताराइन के रणक्षेत्र में, और हरिराज ने अपनी रस-गाथा अंकित की अजमेर में; और उसका वर्णन किया जैनमुनि नयचन्द्र सूरि ने अपने 'हम्मीरमहाकाव्य' में।

नयचन्द्र के अनुसार गुजराती नर्तकियाँ अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक और कला-कुशल थीं। तुर्कों के भीषण आक्रमणों के प्रति विरक्त होकर श्री हरिराज दिनरात इन नर्तकियों के नृत्य-गान के रस-सागर में निमग्न रहने लगे, राज्य-कोष रिक्त हो गया, भृत्यों को वृत्ति मिलना कठिन हो गया।

अचलब्रह्म या जिहतर या जयत्रपाल दूसरी ज्वाला से उत्तप्त था। उसे नर्तकियों के नूपुरों की झंकार विमोहित न कर सकी। उसका धैर्य समाप्त हो गया। चौहान राजा से उसे कोई आशा शेष न रह गयी। जो सेना उसके पास थी उसे लेकर उसने दिल्ली की ओर प्रयाण किया।

कुत्बुद्दीन भी अजमेर की स्थिति से परिचित था। उसने भी अचलब्रह्म पर मार्ग में ही आक्रमण कर दिया। युद्ध में अचलब्रह्म पराजित हुआ और अजमेर की ओर भागा। कुत्बुद्दीन ने अजमेर को घेर लिया। हरिराज चौहान फिर भी रंगमहल में से न निकल सके। नयचन्द्र सूरि ने इसका काव्यमय कारण भी खड़ा कर दिया—'श्री हरिराज तुरुष्कों का मुँह न देखने का प्रण कर चुके थे।' परन्तु वे तुरुष्क उन्हें अपना मुँह दिखाने पर तुले हुए थे। ज्ञात यह होता है कि जब निकल भागने का कोई मार्ग शेष न रह गया तब श्री हरिराज ने अपनी एकगत नर्तकियों सहित "जौहर" कर लिया, अर्थात्, नयचन्द्र के अनुसार, अग्नि प्रज्वलित कर उसमें नर्तकियों सहित कूद पड़े।[2] अद्भुत पराक्रम !

राजपूतों के इतिहास में राजपूत रमणियों द्वारा अनेक बार "जमहर" या "जौहर" किये जाने का उल्लेख मिलता है। संसार के इतिहास में वे अत्यन्त गौरवशाली घटनाएँ मानी जाती हैं, आत्म-सम्मान और कुल-गौरव की रक्षा के अद्भुत उदाहरण के रूप में उनकी अभ्यर्थना की जाती है। हिन्दूशाही जयपाल का आत्म-दाह भी असफल वीर की

१. पृथ्वीराज-विजय-काव्य, सर्ग ६, श्लोक ३७ तथा ४४ एवं सर्ग ३, श्लोक ६८ तथा ८४।

२. डॉ० दशरथ शर्मा ने इस घटना का समय वैशाख कृष्ण ८ वि० सं० १२५१ (सन् ११९४ ई०) माना है। अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० १०१।

घोर आत्मग्लानि का प्रतीक है, वह भी अभिनन्दनीय है, परन्तु गढ़ के द्वार ठोकते हुए शत्रु से मुँह छुपाकर, राजपूतों की परम प्रेयसी करवाल उठाने के स्थान पर नर्तकियों के साथ रोते हुए आत्मदाह करने वाले चाहमान श्री हरिराज के लिए उपयुक्त विशेषण खोजना सरल नहीं है। हरिराज यदि तलवार उठा लेता तब संभव है चार-छह शत्रुओं को मारने के पश्चात् ही मारा जाता। उससे वह भी न हुआ।

हसन निजामी के अनुसार 'जिहतर' (अचलब्रह्म) ने अजमेर में ही अपने आपको चिता की ज्वाला में भस्म कर लिया।[1] ज्ञात यह होता है कि हसन निजामी ने हरिराज के "जौहर" को जिहतर का आत्मदाह मान लिया। उसने यह नहीं लिखा कि हरिराज का क्या हुआ, वह कहाँ चला गया। वास्तव में इस विषय में नयचन्द्र के हम्मीर महाकाव्य का कथन ही ठीक है। आत्मदाह करने वाले राय हरिराज ही थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् ही अजमेर पर तुर्कों ने अधिकार किया था। जिहतर, चत्रराय अर्थात् अचलब्रह्म अजमेर से भाग कर चम्बल घाटी के अपने प्राचीन ठिकाने. ऐसाह, पर पहुँच गया, जहाँ के तोमर सामन्तों ने उसे अपना राजा माना।[2]

कुत्बुद्दीन ऐबक ने अजमेर पर कब्जा कर लिया। जो दुर्दशा उसने दिल्ली में अनंगपाल द्वितीय के प्रासादों की थी वही दुर्दशा उसने विग्रहराज चतुर्थ के सरस्वती-मंदिर की कर डाली। हरकेलि और ललित-विग्रहराज नाटकों से युक्त प्रस्तर-खण्डों को उल्टा-सीधा कराकर उन्हें फिर जड़वा दिया, सुन्दर स्तंभों पर पलस्तर पुतवा दिया और उन पर कुर्आन-शरीफ की आयतें लिखवा दीं, ढाई दिन में मस्जिद खड़ी हो गयी — अढाई-दिन-का-झोंपड़ा।

दिल्ली का तोमर साम्राज्य समाप्त हो गया और अब अजयमेरु के तथाकथित 'चाहमान-महाराज्य' का भी अन्त हो गया। कर्पूरदेवी, कैमास और भुवनैकमल्ल ने सुधवावंश और कंचनावंश का अशिव विवाद खड़ा कर जिस गृह-दाह का प्रारंभ किया था उसकी ज्वाला से तोमर भी झुलसे, कंचनावंश और सुधवावंश भी भुन गया और भारत की स्वतंत्रता भी नष्ट हुई। वह छोटी सी चिनगारी इतनी भीषण दावाग्नि बनी कि उसकी लपटें गंगा-यमुना के निर्मल जल को उद्वेलित करती हुई गंगासागर तक पहुँचीं, उसने विन्ध्य के वक्ष को उत्तप्त किया, गर्वीले गुजरात को भी झुलसा डाला, और राजपूत-तंत्र की जड़ें ही जलादीं। कैमास-बुद्धि से उद्भूत "सुन्दोपसुन्दन्याय" का सिद्धान्त बारहवीं शताब्दी के भारत को कितना मँहगा पड़ा था इसके मूक साक्षी कुव्वतुल-इस्लाम और ढाई-दिन-का-झोंपड़ा हैं।

---

१. इलियट एण्ड डाउसन, भाग २ पृ० २२७।

२. यदि डॉ० शर्मा द्वारा दी गयी हरिराज के आत्मदाह की तिथि ठीक है, तब अचलब्रह्म सन् ११९४ ई० के मई या जून में ऐसाह आए होंगे।

चम्बल का पानी चम्बल में

प्रिन्सेप[1] ने विल्फोर्ड द्वारा विवेचित[2] एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है। किसी अनंगपाल का पौत्र दिल्ली के पतन के पश्चात् अपने देश "गौर" चला गया। विल्फोर्ड का यह विवेचन हमें मूल रूप में देखने को नहीं मिल सका, परन्तु यह "गौर" निश्चय ही ग्वालियर-क्षेत्र है और 'अनंगपाल' है, अनंगप्रदेश का अन्तिम राजा, चाहड़पाल। दिल्ली का तोमर राजवंश ही ग्वालियर आया था, इसके लिए रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के खोज-विवरणों के अति प्राचीन अंकों के अन्वेपण में भटकने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ग्वालियर के तोमरों के इतिहास के अत्यधिक प्रामाणिक लेखक खड्गराय ने चम्बल के ऐसाह गढ़ के राजा देवब्रह्म के मुख से ये शब्द कहलवाये हैं—

"आदि थान दिल्ली ही रह्यौ"

---

१. एसेज, भाग २, पृ० २६४।
२. एशियाटिक रिसर्च, भाग ६, पृ० १५४।

परिच्छेद ३१

युग-समीक्षा

क्षत्रियों के साम्राज्यों और राज्यों का युग, भारतीय इतिहास का हिन्दू युग, समाप्त हुआ। सन् ११९२ और १२०६ ई० के बीच तुर्कों ने समस्त उत्तर भारत को अपने चरणों में झुका दिया। तोमर, गहड़वाल, चौहान, यादव, कच्छपघात, बघेले, चन्देल, प्रतीहार, सेन सभी के शौर्य और दम्भ को उन्होंने कुचल डाला। भारतीय ललनाएँ 'तुर्क' नाम से काँपने लगीं, देवस्थान उनके बर्बर पदत्राणों के प्रहारों से सुरक्षा पाने की आशा खो बैठे, देववाणी संस्कृत की गरिमा और उसकी अपार व्यंजना-शक्ति को देश के निकम्मे प्रहरियों की असत्य और चाटुकारितापूर्ण प्रशंसा में प्रयोग करने वाले शिलालेख और ग्रन्थ अपने उचित स्थानों पर पहुँच गये, समस्त भारतीय कलाएँ विचलित हो गयीं। करोड़ों की संख्या में जनसमूह, लाखों की संख्या में रणगज, रणरथ, अश्व, ऊँट और तलवार-तीर-भालों से सुसज्जित सैनिक, हजारों की संख्या में सूर-सामन्त और सैकड़ों की संख्या में दिग्विजयी पृथ्वीनाथ-भूनाथ-नरनाथ, छत्तीसों कुल और चारों वर्ण केवल लाख-दो लाख तुर्क डाकुओं से पूर्णतः पराजित होकर भारत की सहस्राब्दियों में संचित और पोषित संस्कृति, वैभव और स्वाधीनता की रक्षा में असमर्थ हुए! संसार के इतिहास की यह बहुत बड़ी घटना है।

ग्रीक विजेता सिकन्दर अपने समय के समस्त ज्ञात संसार की विजय करता हुआ भारत की ओर बढ़ा था। भारत-भूमि के कुछ मील ही उसे बड़े मँहगे पड़ गये। खेत मे कार्य करते हुए किसान उसकी सेनाओं से जूझ पड़े और कुछ ग्रीकों को मार कर ही मरे, साधु-सन्यासी अपने प्राणों की बाजी लगाकर लोगों को स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए प्रोत्साहित करते रहे; छोटे-छोटे गणों ने उसकी समर-शूरता की मिट्टी पलीत कर दी और घायल-शरीर तथा टूटा मन लेकर, अपनी तीन-चौथाई सेना नष्ट कराकर अपने आपको 'देवपुत्र' कहने वाला मानव, सिकन्दर, भारत-विजय के स्वप्न छोड़कर लौट गया और उसी आघात से मर गया।[1]

अरबों ने पश्चिम में स्पेन तक कहर ढा दिया और पूर्व की ओर बढ़े। काबुल और जाबुल के छोटे-छोटे हिन्दू राज्य उनके मार्ग में अभेद्य दीवार बन गये, अरबों के तीन शताब्दियों के निरन्तर प्रहार को उन्होंने विफल कर दिया। सिन्ध में उनके पैर टिके भी परन्तु शीघ्र ही उखड़ गये। इस्लाम के अनेक खलीफे भी अपनी समस्त शक्ति लगाकर, भारत विजय का स्वप्न पूरा न कर सके, उलटे भारत से ज्ञान-दान लेकर हिन्द-से और पंचतंत्र पढ़ने लगे। जुनेद ने आगे बढ़ने का प्रयास किया और उसके उत्तराधिकारी को सिन्ध भी छोड़ना पड़ा।

---

१. प्लूटार्क्'स लाइव्स, लेनघोर्न, पृ० ४८५।

महमूद गजनवी संसार के श्रेष्ठतम सेना-नायकों में था। तुर्क वह भी था। धन, दारा और दासों के प्रलोभन से प्रेरित होकर उसके साथ लाखों की संख्या में तुर्क लुटेरे इकट्ठे हो गये थे। परन्तु वह भी लूटमार के अतिरिक्त और कुछ न कर सका, उसके वंशज भी पंजाब के आगे अपना राज्य स्थापित न कर सके। आठवीं शताब्दी में अरबों द्वारा सिन्ध-विजय और फिर ग्यारहवीं शताब्दी में यामिनी तुर्कों द्वारा पंजाब-विजय ऐसी घटनाएँ अवश्य थीं जिनसे भारत के रक्षकों को सावधान हो जाना चाहिए था। भारत के सिंहद्वार टूट चुके थे, भारत के प्रहरियों से यह अपेक्षा की जा सकती थी कि वे इस बढ़ते हुए ज्वार को रोकने के लिए कुछ करते।

मुहम्मद-बिन-कासिम और महमूद गजनवी की तुलना में शहाबुद्दीन निम्नकोटि का सेनापति था, न उसमें वह शौर्य था और न वह शालीनता थी। यह परम आश्चर्य की बात है कि शहाबुद्दीन और उसके गुलामों का चालीसा लाहौर से चला और कुछ वर्षों में ही सीधा गंगा-सागर तक पहुँच गया। भारत के शौर्य में ऐसा कौनसा घुन लग गया था कि यह असंभव भी संभव हो सका? क्या शौर्य की कमी थी? नहीं; क्या जन-बल की कमी थी? नहीं; क्या धन की कमी थी? नहीं; क्या शस्त्रों की कमी थी? नहीं; फिर कमी किस बात की थी?

राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की भावना का भी अभाव उस युग में नहीं था, उसका उद्घोष करने वालों का अस्तित्व था अवश्य। तोमर तेजपाल प्रथम ने समस्त उत्तर भारत के राजपूत राजाओं को जो रण-निमंत्रण भेजा था वह इस भावना से ओत-प्रोत है: "यदि (महमूद रूपी) महानद के मार्ग में प्रबल बाँध खड़ा न किया गया तब समस्त भारत देश उसके प्रवाह में बह जाएगा तथा सभी छोटे-बड़े राज्य नष्ट हो जाएँगे।" इस विचार का अस्तित्व तो था, परन्तु उसे ग्रहण नहीं किया जा सका, उसे कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सका। इसका दायित्व किस पर है?

किसी भी राष्ट्रीय पराजय के कारणों की छानबीन इसलिए की जाती है कि राष्ट्र आगे उनका निराकरण कर सके और उन कारणों का उन्मूलन कर सके। यदि इस भावना और इच्छा का अभाव हो तब पराजय के कारणों की ऊहापोह करना व्यर्थ समय नष्ट करना तथा लक्ष्यहीन मानसिक व्यायाम मात्र होगा।

क्षत्रिय-तंत्र की इस भीषण पराजय के कारणों की ऊहापोह मध्ययुग के विचारकों ने भी की है और आधुनिक युग के इतिहासज्ञों ने भी। मध्ययुग के एक जैन-मुनि ने क्षत्रियों की पराजय का कारण यह बतलाया है कि शहाबुद्दीन को गर्दभी विद्या सिद्ध थी, तथा रासोकार ने 'नियति' में उसका कारण खोजा है। समकालीन तुर्क इतिहास-कार उनके सुलतानों की विजय केवल अल्लाह का अनुग्रह मानते हैं। उनकी दृष्टि में उनके वे सुल्तान इस्लाम द्वारा समर्थित धर्म-युद्ध 'जिहाद' के लिए निकले थे, उन्हें उसमें सफलता मिलना ही चाहिए थी। ये कारण मध्ययुग की विचारधारा के अनुकूल थे, आधुनिक विचारधारा में उनके लिए कोई स्थान नहीं है।

आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस पराजय के अनेक कारणों पर विचार किया है।

मध्ययुग के इतिहास के लेखक अंगरेजों ने भी क्षत्रियों की पराजय अथवा तुर्कों की विजय के कारणों पर विचार किया है। लेनपूल के अनुसार "आक्रमणकारियों में संगठन तथा एकता थी और हिन्दुओं में फूट थी। आक्रमणकारी उत्तर के रहने वाले थे और हिन्दू दक्षिण के। आक्रमणकारी बहादुर जाति के थे और अच्छी जलवायु के निवासी थे, उनमें इस्लाम धर्म का जोश था और धन एवं लूटमार का लालच था। यही हिन्दू तथा आक्रमणकारियों में भेद था।"[1] एलफिन्सटन ने यह कारण दिया है कि शहाबुद्दीन की सेना यौधेय जातियों की थी और इसके विपरीत हिन्दू नम्र तथा अनाक्रमणकारी थे और छोटे-छोटे राज्यों में बँटे हुए थे, उन्हें ऐसे युद्ध में धकेला गया था जिससे उन्हें किसी लाभ की आशा नहीं थी।[2] विन्सेण्ट स्मिथ ने भी क्षत्रियों की पराजय का इसी प्रकार का कारण दिया है, यद्यपि स्मिथ ने एक अन्य संदर्भ में यह भी कहा है कि भारत की प्रवृत्ति ही ऐसी थी कि यदि (अंगरेजों के शासन जैसी) सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता का अभाव हो तब वह विदेशी आक्रांताओं के समक्ष बिखर जाता था।[3]

सर वोल्सले हेग ने क्षत्रिय-तंत्र की पराजय का कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता का अभाव बतलाया था और लगभग विन्सेण्ट स्मिथ की भावना ही व्यक्त की थी[4]: "किसी भी अवसर पर मुस्लिम आक्रामकों का सामना किसी शक्तिशाली भारतीय राजा से नहीं हुआ। भारत के समृद्ध और मोहक मैदानों की रक्षा के लिए कोई अशोक, कनिष्क अथवा हर्ष उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रकार के राजाओं का अस्तित्व भारत के लिए दुर्लभ चमत्कार रहा है, क्योंकि भारत कभी एक राष्ट्र की मातृभूमि नहीं रहा; भारत की सामान्य स्थिति स्वतंत्र और परस्पर युद्धरत राज्यों के समूह की रही है, यह सौभाग्य ही होता था कि वे कभी किसी समान शत्रु का अवरोध करने के लिए संगठित हो जाते थे।"

मध्ययुगीन इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् सर जदुनाथ सरकार ने क्षत्रियों की पराजय का प्रधान कारण उनका मदिरापान बतलाया है और तुर्कों की विजय का कारण वह संगठन शक्ति बतलाई है जो उन्हें इस्लाम के कारण प्राप्त हुई थी। सर जदुनाथ के अनुसार तुर्क आक्रामक मदिरापान के दोष से मुक्त थे।[5]

प्रो० निजामी के अनुसार भारतीयों के पराजय का प्रधान कारण उनका सामाजिक संगठन और विभाजनकारी जाति-भेद था जिसके कारण उनका सैनिक संगठन नितान्त दुर्बल और छिन्न-भिन्न था। तुर्कों के घोड़े द्रुतगति के थे और उनके उपयोग के कारण

१. स्टेनले लेनपूल, मेडीवल इण्डिया, पृ० ४३ (सुनील गुप्त संस्करण)।
२. एलफिन्सटन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ८६१।
३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, चौथा संस्करण, पृष्ठ ३७२।
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ५०६।
५. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० १८५ पर उद्धृत।

उनके सैन्य-संचालन में गतिशीलता थी, राजपूतों की सेना में वैसी गतिशीलता नहीं थी। प्रोफेसर निजामी ने अपने इस कथन की पुष्टि के लिए सर जदुनाथ सरकार के अभिमत को उद्धृत किया है जिसके अनुसार तुर्कों के सैनिकों के घोड़े और उनकी रसद को ढोने वाले ऊँट उनके दल-बल को अत्यन्त गतिशील बना देते थे। इसके विपरीत हिन्दुओं की रसद बनजारे बैलों पर लादकर ले जाते थे। प्रोफेसर निजामी ने श्री आर० सी० इस्माइल का यह अभिमत भी उद्धृत किया है कि गतिशीलता के अतिरिक्त तुर्कों की विशेषता यह भी थी कि वे घोड़े पर सवारी करते समय भी तीर चलाने में दक्ष थे।[1]

युद्धों के जितने विवरण मिलते हैं वे सब उस युग के तुर्क इतिहासकारों के दिये हुए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि घोड़े भारतीयों के पास भी थे, ऊँट भी बहुत थे और साथ में हाथी भी। भारतीयों को तीर चलाना भी आता था, ऐसा भी उन विवरणों से ज्ञात होता है। भारतीय स्रोत भी राजाओं के पास अश्व और ऊँट दोनों के ही होने का उल्लेख करते हैं। जितने निर्णायक युद्ध हुए थे वे तलवारों और भालों द्वारा लड़े गये थे। छुआ-छूत की बीमारी भारत में बारहवीं शताब्दी के पश्चात् ही भयंकर रूप से बढ़ी थी और उसका प्रवेश मन्दिर और मठों में ही अधिक था; ऐसा ज्ञात नहीं होता कि सेना और खेतों में भी छुआछूत बरती जा रही हो। यौधेय जातिय की जनसंख्या भी उस समय कम नहीं थी।

मुख्य कमी भारतीयों में यह थी कि वे युद्ध मे नीति और धर्म को प्रमुखता देते रहे। दूसरी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह थी कि देश अत्यन्त समृद्ध था, तथापि वह समृद्धि कुछ मन्दिरों, मठों और कोटाधीश व्यापारियों की कोठियों तक सीमित हो गयी थी।

इसके विपरीत जिस शत्रु से भारतीय समाज को उस समय सामना करना पड़ा था वह उन देशों से आया था जहाँ की भूमि उन्हें भरपेट भोजन भी नहीं दे सकती थी।[2] वे अपने अस्तित्व के लिए लड़ने आए थे। भारत के समृद्धिशाली प्रदेशों में बस जाने के पश्चात् ये तुर्क भी अफ़गानों और मुगलों से पराजित हुए थे। अन्ततोगत्वा जब उनसे भी अधिक चालाक जातियाँ भारत में आईं तब तुर्क, अफगान, मुगल-पठान, राजपूत, मराठे, सिख, सभी अंगरेजों द्वारा परास्त किये गये थे। शकशल्य चंगेजखाँ और हलाकू ने जिन राष्ट्रों का विनाश किया था वे सब इस्लाम के अनुयायी थे और उनमें छुआछूत बिल्कुल नहीं थी, उनके पास ऊँट भी थे और तीरन्दाज भी। अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में बहुत से ऐसे वर्ग थे जिनमें छुआछूत बिल्कुल नहीं थी। वास्तविकता यह है कि जब सम्पन्न घर-धनी अस्तव्यस्त और असावधान हो जाता है, तब साहसिक दस्यु अवश्य सफल होता है। ईसवी बारहवीं शताब्दी का भारत सम्पन्न भी था और अस्त-व्यस्त, विश्रृंखल तथा असावधान भी। वह संघर्ष हिन्दुओं और मुसलमानों का नहीं था,

---

१. कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५, पृ० १८५-१८६।

२. प्रो० निजामी, कम्प्रे० हिस्ट्री, दिल्ली सल्तनत, पृ० ६७६-६८०; डॉ० रिजवी, बाबर, पृ० २०४।

न हिन्दू धर्म और इस्लाम का संघर्ष था। वह विशुद्ध घरधनी और लुटेरों के बीच संघर्ष था, धर्मरक्षा और जिहाद केवल भ्रामक नारे थे।

देश की स्वतंत्रता की रक्षा न तो अपार जनसंख्या कर सकती है, न अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार कर सकता है, न तेज तर्रार घोड़े कर सकते हैं, न ऊँटों का काफिला और न धन की प्रचुरता। स्वाधीनता की प्रतिरक्षा किसी देश के समस्त जन समूह की प्रबल इच्छाशक्ति और चरम बलिदान की अदम्य भावना से ही हो सकती है। जिन देशों के नागरिक राष्ट्र के लिए सर्वस्व अर्पण करने की भावना से प्रेरित रहे हैं वे सदा अजेय रहे हैं। बारहवीं शताब्दी के भारत के साधारण नागरिक को विचारविमूढ़ कर दिया गया था और विशिष्ट व्यक्तियों और कुलों ने केवल अपने स्वार्थों को सर्वोपरि बना लिया था; व्यक्ति और कुल की सुरक्षा हो, राष्ट्र रहे न रहे, यह उनकी प्रेरक भावना थी।

किसी भी देश की स्वाधीनता की रक्षा के प्रमुख आधार जनता, व्यापारी, सैनिक, सेनापति, चिन्तक और राज्यतंत्र के नियामकों की शक्ति और बलिदान-भावना होते हैं।

उस युग की जनता पूर्णतः मूढ़ थी; सुयोजित रूप से उसे मूढ़ से मूढ़तर, अकिंचन से अकिंचनतर बनाया जा रहा था। ब्राह्मण-पुजारी, जैन-साधु, व्यापारी-सामन्त, राज्याधिकारी और राजा, सभी जनता की जड़ता पर पनप रहे थे। तंत्र-मंत्र जादू-टोना और भाग्यवाद पर अत्यधिक श्रद्धा उत्पन्न कराई जा रही थी। जन साधारण को राजनीति से पूर्णतः विमुख कर दिया गया था। उनके लिए जैसा तोमर वैसा चौहान, वैसा ही गहड़वाल; जिसके हाथ में दण्ड हो, वह वन्दनीय हो गया; उसके शोषण का अधिकारी बदल गया, शोषण यथावत् रहा। यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी। परिणाम यह हुआ कि इस शोषित जनता को इस बात में कोई अन्तर ज्ञात नहीं हुआ कि उसका राज्य-नियन्ता, शोषक, कोई छत्तीस-कुली है या शहाबुद्दीन का गुलाम।

उस युग का व्यापारी वर्ग जिस सीमा तक स्वार्थी हो गया था, संभवतः किसी देश में और किसी काल में इतना नहीं था। वह वर्ग धर्म और सम्प्रदायों के नियन्ताओं को भी अपनी मुट्ठी में रखता था और राजनियन्ताओं को भी। उनके सार्थ और महा-सार्थ भी चलते थे और उनकी सुविधा के लिए वे राजाओं के मंत्री भी बन जाते थे। जब तुर्कों के आक्रमण प्रारंभ हुए तब भारत की रक्षा के लिए वे अपने ऐश्वर्य, संचित धन और समृद्ध व्यापार की बलि नहीं देना चाहते थे। यदि तुर्क उन्हें अपना मंत्री और सहयोगी बना लें, उनके व्यापार में बाधा न डालें, तब, उनकी दृष्टि में, वे उतने ही स्वागत योग्य थे जितने क्षत्रिय राजा। अधिकांश व्यापारी जैन थे। उनके लिए हिन्दू राजा उतना ही विधर्मी था जितना तुर्क। उनकी दृष्टि में दोनों एक से थे। ऐसी दशा में उनका प्रधान लक्ष्य अपने व्यापार और धन की रक्षा करना था। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि तुर्कों ने कभी व्यापारियों या उनके सार्थों को नहीं लूटा। यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि दिल्ली के इन व्यापारियों को तुर्क सामन्तों से भी भरपूर ब्याज वसूल

करने की छूट थी।[1]

सैनिक और सैन्य संगठन की दशा भी अत्यन्त शोचनीय थी। जिस समय अरब के मसीहा, हजरत मुहम्मद, तलवार के बल पर इस्लाम को बढ़ा रहे थे, और धर्म-युद्ध (जिहाद) का उपदेश दे रहे थे लगभग उसी समय हर्षवर्धन ने गीता का "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" का पाठ भुला कर, शस्त्रों को शस्त्रागारों में बन्द कराकर महामोक्ष परिषदों के आयोजन में राज्यकोष लुटाना प्रारंभ किया था। भारत की सामरिक पराजय के कुटिल कर्मलेख उसी दिन लिख दिये गये थे। मध्ययुग का सैनिकवर्ग बहुधा क्षत्रिय, जाट, अहीर, गक्खर (बागड़), गूजर, खंगार जैसी जातियों का था। ग्यारहवीं शताब्दी में इन जातियों को अहिंसा का पाठ अत्यन्त विकृत रूप में पढ़ाया जाने लगा। भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर तुर्क आक्रमणों से भारत की रक्षा करने का भार था, वहाँ की इन यौधेय जातियों को जूं, खटमल, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि को मारने में भी पाप की छाया दिखाई जाने लगी। इस सतही अहिंसा के द्वारा पुंसत्वहीन बनाये गये सैनिकों से तुर्कों के नरमेध को सह सकने की अपेक्षा करना व्यर्थ ही है। इन सैनिकों का भी कोई व्यवस्थित सैन्यबल रखा जाता हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। उस समय की सेना असिजीवियों की भीड़ मात्र थी, जिसे शरीर धारण करने योग्य वृत्ति से अधिक कुछ नहीं मिलता था। जब व्यक्तिगत वैभव-प्रदर्शन, विलास-सामग्री, मन्दिर और महल-निर्माण में ही समस्त राजकोष व्यय कर दिया जाए, और उस व्यय को पूरा करने के लिए ही, पड़ौसी राज्यों में लूटमार करना पड़े, तब सैनिकों को वृत्ति या वेतन देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यह अधभूखा सैनिक किसके लिए लड़े, क्यों लड़े, किस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने परिवार को अनाथ छोड़कर अपना प्राण विसर्जन करे, यह उसे ज्ञात नहीं था। यदि राजा को किसी अन्य राजा की राजकुमारी से परिणय करने की लालसा उत्पन्न हो, तब उस हेतु सैनिक को युद्धक्षेत्र में प्राण देना पड़ते थे, राजाजी को पड़ौसी राजा की लूट करना होती थी, तब उस सैनिक को मरना पड़ता था, राजा को महाराजाधिराज बनने का भूत सवार होता था तब सैनिकों को मृत्यु के मुख में झोंक दिया जाता था। तुर्क आए तब उनसे भी उन सैनिकों को लड़ना पड़ा। वे केवल दो-रोटी के लिए लड़ रहे थे, यही उन्हें ज्ञात था। संकल्प और उद्देश्य से विहीन सैनिक रणक्षेत्र में हवा का रुख देखकर ही भाग खड़ा होता था, सामन्त या राजा के मारे जाने के पश्चात् रणक्षेत्र में उसका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता था। उसे राजा या सामन्त के प्रति निष्ठावान होना सिखाया गया था, देश या धर्म के प्रति नहीं। तुर्क सेना के विजयी होने पर उसके सैनिकों को लूट का माल और दास-दासी मिलने का प्रलोभन था, परन्तु क्षत्रियों के सैनिकों को ऐसा भी कोई प्रलोभन नहीं था। भारतीय सैनिक अपने आभूषण पहन कर रणक्षेत्र में जाते थे, तुर्क सैनिकों को यह शौक था ही नहीं, यथार्थ में उनके पास तलवार, तीर और भाले के अतिरिक्त कुछ था भी नहीं।

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० ९०।

उस समय भारत में सामन्तों की भरमार थी। प्रत्येक गाँव का मुखिया, विशेषत: यदि वह छत्तीस-कुली हो, नरनाथ, भूनाथ आदि ही था, तथापि उसमें तत्कालीन राजाओं और सैनिकों के समस्त दुर्गुण पुंजीभूत हो गये थे। उसका कार्य राजा के इंगित मात्र पर अपना और अपने अधीन सैनिकों का प्राण-विसर्जन करना था। उसके समक्ष राष्ट्र की रक्षा अथवा किसी अन्य उदात्त भावना से प्रेरित होने का प्रश्न ही नहीं था। उसके राजा ने यदि तुर्कों से मित्रता करली तब वह तुर्कों का मित्र था, यदि उसके राजा ने किसी भारतीय राजा से, किसी भी कारण, शत्रुता करली तब उस सामन्त को भी उसका शत्रु बनना पड़ता था। फरिश्ता के अनुसार ताराइन के युद्धक्षेत्र में डेढ़ सौ 'राजा' इकट्ठे हुए थे। इनके राज्य कहाँ थे? निश्चय ही ये छोटे-छोटे सामन्त थे जो चाहड़पाल को या तो अपना सार्वभौम मानते थे या उसके आग्रह पर उसकी सहायता के लिए आए थे। जिस संगठन में राय पिथौरा जैसे विग्रही, चित्तविकारयुक्त व्यसनी, सम्मिलित हो गये थे, उसमें गहड़वाल, चौलुक्य, चन्देले या कच्छपघात सम्मिलित हुए होंगे, यह कल्पना व्यर्थ है, ये डेढ़ सौ राजा न होकर तोमर-साम्राज्य-मण्डल के सामन्त मात्र थे। ये किसी दृढ़ संकल्प से प्रेरित हों ऐसा ज्ञात नहीं होता। जैसे ही दिल्ली सम्राट् चाहड़पाल मारा गया, राय पिथौरा भी भागे और ये डेढ़ सौ 'नरनाथ', 'भूनाथ' और 'पृथ्वीनाथ' भी भाग निकले।

क्षत्रिय सैनिकों और सामन्तों की इस भीड़ का संचालन भी अत्यन्त अकुशल रूप में होता था। गजनी पर जयपाल के आक्रमण से लेकर ताराइन के सन् ११९२ ई० के युद्ध तक हुए युद्धों में क्षत्रियों की समस्त सेना का एक ही संचालक रहा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। उस भीड़ के अनेक सामन्त पृथक्-पृथक् रण-नियंत्रक थे और पृथक्-पृथक् पीटे जाते थे। किसी भी युद्ध में कोई योजना दिखाई नहीं देती। ताराइन के युद्धक्षेत्र में तो एक अविनायक राय पिथौरा उस समय तक सोते ही रहे जब तक राजपूतों की समस्त सेना का कचूमर न निकल गया। इस अक्षमता के साथ जुड़ा हुआ था असीम दम्भ और निराधार आत्म-विश्वास। ऐसे नेतृत्व में सुसंगठित सेना भी व्यर्थ हो जाती है।

जहाँ राज्य और राज दरबार होगा, वहाँ राजसभा की कूटनीति भी होगी। परन्तु इस युग में वह कूटनीति अत्यन्त निम्नस्तर पर पहुँच गयी थी। ब्राह्मण पुरोहित और जैन साधुओं के हाथ में भारत के इन दो सौ वर्षों में राज-सभाओं और जनमानस को प्रबुद्ध करने का उत्तरदायित्व आ पड़ा था। उनकी कलम से ही उस युग के राजाओं की प्रशस्तियाँ लिखी जाती थीं और उनके द्वारा ही जन साधारण का मार्गदर्शन किया जाता था। वे ही उस समय के छोटे-बड़े राजाओं के मस्तिष्कों पर हावी थे। ब्राह्मणों और जैन साधुओं ने कभी उन्हें राष्ट्रीय सुरक्षा का पाठ पढ़ाया हो, ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। सिद्धराज जयसिंह के पश्चात् मूलराज द्वितीय तक चौलुक्यों के साम्राज्य की इस प्रबुद्धवर्ग ने जो दुर्दशा कराई थी वह कारुणिक है। जिसकी राजमहिषी अपने पुत्र, शिशु-राजा मूलराज, को अपनी गोद में लेकर शहाबुद्दीन का मान-मर्दन कर सकी, यदि उस अजयपाल चौलुक्य की कायरतापूर्ण हत्या न कर दी जाती, तब वह

अकेले ही शहाबुद्दीन के गुलामों को समुद्र में धकेल देता। तोमरों की जड़ों में धार्मिक विद्वेष निरन्तर मट्ठा डालता रहा और तुरुष्क-भूमि के स्वामियों को उन पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करता रहा। विग्रहराज चतुर्थ और मदनपाल तोमर की बरबादी में इसका कितना हाथ था इस पर विचार करना आवश्यक है और उनके योगदान का महत्व आंकना भी आवश्यक है। बड़ा प्रताप था उस युग में इन साधुओं के तंत्रमंत्र का। वे तुरुष्कों की दृष्टि बांध देते थे और मात्र यन्त्रपट देकर अपने शिष्यों को 'कोटाधीश' बना देते थे!

इसी युग में "सुन्दोपसुन्दन्याय" के प्रबल समर्थक दाहिम कदम्बवास (कैमास) जैसे महामंत्री उत्पन्न हुए और उन्हें सोमेश्वर तथा राय पिथौरा जैसे राजा भी मिल गये। जयपाल तोमर के राष्ट्रीय सुरक्षा के महामंत्र पर इनके द्वारा हरताल फेरी गयी। कैमास और कर्पूरदेवी ने अशक्त सोमेश्वर को कठपुतली के समान नचाया और राय पिथौरा को शैशव से ही विलास की अफीम पिलाना आरंभ करदी। उस विष से वह आजीवन मुक्त न हो सका। एक शत नर्तकियों के साथ आत्महत्या करने वाले हरिराज का स्वभाव भी इनके हाथों ही निर्मित हुआ था। इस छोटे से विषाक्त समूह के प्रभाव से समस्त उत्तर-पश्चिमी भारत का समाज-शरीर दूषित, विगलित और जड़ हो गया।

परन्तु भारत ने अपनी महानता के उदाहरण उस युग में भी प्रस्तुत किये थे। इस प्रकृत महानता और तत्कालीन परिस्थितियों से उद्भूत विकृति के कारण परस्पर विरोधी उदाहरण उपलब्ध होते है। एक ओर 'उच्छ' की रानी दिखाई देती है जो अपने पति को ही विष दे देती है और महमूद का वरण करती है, दूसरी ओर चौलुक्य रानी, नाइकी देवी, दिखाई देती है जो उसका मानमर्दन करती है; एक ओर समर-भूमि में व्यसनों में लिप्त राय पिथौरा दिखाई देता है, दूसरी ओर राष्ट्रीय सुरक्षा में प्राण देने वाला चाहड़पालदेव तोमर दिखाई देता है; एक ओर नर्तकियों के साथ 'सत्ता' होने वाला हरिराज दिखाई देता है, दूसरी ओर समर-भूमि में 'जय' प्राप्त न कर सकने के अपराध में अपने आपको ही नष्ट करने वाले वाजीराय और जयपाल (हिन्दूशाही) दिखाई देते हैं; एक ओर 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा' के महान मंत्र का उद्घोष करने वाला जयपाल तोमर दिखाई देता है, दूसरी ओर निम्न स्वार्थ-साधन के लिए 'सुन्दोपसुन्दन्याय' का सहारा लेने वाला कैमास दिखाई देता है। परिणाम और परिमाण में पाप पुण्य से प्रबल रहा, यह स्पष्ट है।

इन परिस्थितियों मे भारत का उत्तर-पश्चिमी द्वार हड़बड़ा कर गिर गया, चरमरा कर टूट गया और दिल्ली का लालकोट हाथ से निकल गया। ऐसी ही परिस्थितियाँ आगे गहड़वाल साम्राज्य में विद्यमान थीं। उस साम्राज्य का ध्वस चन्दवार के रणक्षेत्र में ही नहीं हुआ था; गहड़वाल साम्राज्य के प्रत्येक नगर के व्यापारियों, सामन्तों, चिन्तकों, धर्मधुरीणों और समाज के योगक्षेम के ठेकेदारों द्वारा उसको ध्वस्त किया गया था। उन्हें अपने प्राण प्यारे थे, धन प्यारा था, वह बच गया; जो वस्तु उन्हें नितान्त उपेक्षणीय थी — भारत की स्वतंत्रता — वह चली गयी, बहुत लम्बे समय के लिए चली गयी।

बंगाल में जो कुछ हुआ था, वह उस युग के भारत की स्थिति का दयनीय चित्र प्रस्तुत करता है। नवद्वीप में अस्सी वर्षीय राजा लक्ष्मणसेन राज्य कर रहा था। किसी तिलक-त्रिपुण्डधारी ज्योतिषी ने उसे बतलाया कि पुराणों के लेख के अनुसार उसका राज्य तुर्कों के हाथों में चला जाएगा, इसलिए उसे अपने गौरव की रक्षा के लिए राज्य छोड़ कर भाग जाना चाहिए। राजा ने उस ज्योतिषी से यह पूछा कि उसके राज्य का अपहरण करने वाले व्यक्ति का स्वरूप कैसा है। राजा को बख्तयार खलजी के सब लक्षण बतला दिये गये। राजा ने अपने विश्वसनीय आदमी भेजकर इस बात का पता लगाना चाहा कि बख्तयार खलजी की शारीरिक आकृति कैसी है। यह स्वाभाविक था कि ज्योतिषी जी के बतलाये हुए समस्त लक्षण मिल गये। इस प्रवाद का यह प्रभाव पड़ा कि बख्तयार की सेना के पहुँचने के पूर्व ही नगर के समस्त व्यापारी, पण्डे-पुरोहित, सामंत-शूर नगर छोड़कर भाग गये और वृद्ध राजा कुछ अंगरक्षकों के साथ अकेला रह गया। ऐसी परिस्थितियों में जो होना था सो हुआ।

डॉ० डी० सी० गांगुलि मिनहाज सिराज के इस कथन को असत्य मानते हैं।[1] प्रो० निजामी इसे 'इतिहास' मानते हैं।[2] बख्तयार खलजी के अभियान में मिनहाज सिराज उसके साथ था, ऐसा स्वयं उसने लिखा है। उसकी कहानी नितान्त झूठ भी ज्ञात नहीं होती। परन्तु निश्चय ही उसने एक बात छिपाई है। राजा लक्ष्मणसेन के इन ज्योतिषियों को बख्तयार की ओर से निश्चय ही भारी रिश्वत दी गई होगी और उन्होंने राजा और नगरवासियों की मूढ़ता और अंध-विश्वास का लाभ उठाया और भारत-राष्ट्र की स्वतंत्रता को बेच दिया। आत्मा की अमरता और अर्थ को माया का प्रतीक होने का पाठ पढ़ाने वाले वृद्ध भारत के ये सपूत "शरीर" और "अर्थ" को कितना महत्व देने लगे थे! इन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के होते हुए उन कारणों का ब्यौरा और विगत खोजने का प्रयास व्यर्थ है जिनके फलस्वरूप सन् १२०० ई० के आसपास भारत के स्वातंत्र्य-सूर्य को प्रथमवार खग्रास लगा था।

ईसवी बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, भारत के सामरिक, नैतिक, साम्प्रदायिक और राजनीतिक प्रतिमानों के निम्नतम स्वरूप का प्रतीक है। यह किन व्यक्तियों और संगठनों के कुकृत्यों का परिणाम था, इसकी खोजबीन बहुत उपयोगी नहीं है; उसका उपयोग केवल यही है कि राष्ट्र ऐसी सतर्कता उपलब्ध करे कि ये प्रवृत्तियाँ भारत-भूमि पर फिर कभी न पनपने पाएँ।

१. द स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० ३९।
२. द देहली सल्तनत (कम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया), पृ० १७४।

परिशिष्ट

(परिच्छेद १२ देखें)

इस पुस्तक के मुद्रित हो जाने के पश्चात् प्राचार्य श्री कुन्दनलाल जैन[1] ने दिल्ली के राजवंशों की चार वंशावलियाँ हमारे पास भेजी हैं। उन्हें यहाँ साभार उद्धृत किया जा रहा है।

वि० सं० १६८५ की राजावली की एक अन्य प्रति

इनमें से एक उस राजावली की दूसरी प्रति है जो श्री अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' में प्रकाशित की थी तथा बाद में इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुई थी और जिसका कुछ अंश इस पुस्तक के पृष्ठ १४३ पर उद्धृत किया गया है। श्री कुन्दनलाल जैन द्वारा भेजी गयी प्रतिलिपि दिल्ली के पंचायती जैन मन्दिर के गु० न० ९९ के पत्र ५८ से की गयी है। श्री नाहटा द्वारा प्रकाशित राजावली का पाठ-भेद ज्ञात करने के लिए यह प्रति महत्वपूर्ण है। इस नव-उपलब्ध प्रति में तेजपाल (द्वितीय) की पराजय का दिन १७ मार्च ११९२ ई० के स्थान पर २८ मार्च ११९२ ई० प्राप्त होता है। इसके अनुसार तेजपाल का स्वतंत्र सत्ता के रूप में राज्यकाल १५ दिन का न होकर २६ दिन हो जाता है। इसके अनुसार शहाबुद्दीन गोरी को अजमेर में विध्वंस करने के लिए ८ दिन के स्थान पर १९ दिन मिल जाते हैं[2], जो युक्तिसंगत ज्ञात होते हैं। परन्तु ११ दिनों के इस अन्तर के कारण हमारी मूल स्थापनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अथ ढीली स्थान की राजावली लिख्यते।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः। तोमरवंसे सं० ८३९ आदि राणा जाजू १ बाजू २ राजू ३ सीहा ४ जवालु ५ उढरु ६ जेहरू ७ वछहरु ८ पीपलु ९ रावलु पिहुणपालु १० रावलु तोल्हणपालु ११ रावलु गोपालु १२ रावलु सलक्षणु १३ रावलु जसपालु १४ रावलु कुंवरुपालु १५ रावलु अनंगपालु १६ रावलु तेजपालु १७ रावलु मदनपालु १८ रावलु कृतपालु १९ रावलु लखणुपालु २० राणा पृथीपालु २१ एती राजाकुली।

ततः संवत् १२१९ वर्षे तोमर राजानुपसते चौहाणवंसि रावलि वीसलि राजु

१. श्री कुन्दनलाल जैन, एम. ए., एल. टी., साहित्य शास्त्री, ६८ कुन्तीमार्ग, शाहदरा, दिल्ली ३२।

२. पीछे पृ० २९४ देखें।

लियौ १ अमर गंगेउ २ रावलु पीथडु ३ रावलु सोमेसरु ४ रावलु पीथरु ५ रावलु वाहलु ६ रावलु नागद्यो ७ रावलु पृथ्वीराजु ८ इतने चौहाण हुए।

संवत् १२४९ वर्षे चैत्रवदी २[1] तेजपाल ढीली लई पृथ्वीराजा को सेवकुवर वीसलपालु कौ पुत्रु दिवाकरु बांधि लियौ।

संवत् १२४९ वर्षे चैत्रसुदी १३[2] सुलितानु सहावदी गजनी र्तहि आयौ। १४ वर्ष राज कियौ।

संवत् १२६३ वर्षे सुलितानु कुतुवदी राज वर्ष ३, संवत् १२६६ वर्षे सुलतानु समसदी वर्ष ३६ राजकृतं।

संवत् १२९२ वर्षे राजा पेरोसाहि राजकृत मास ६ वर्ष ३। संवत् १२९६ सुलितानु मौजदी वर्ष ३ राजकृतं। संवत् १२९९ वर्षे सुलतानु अलावादी राज्यकृतं वरष २ संवत् १३०१ सुलितानु नसीरदी वर्ष २१ राज्यकृतं। संवत् १३२३ चैत्र वदि २ सोमदिने सुलितानु ग्यासुदी राज्य बलिवंडु वर्ष २१ राज्यकृतं। संवत् १३४३ वर्षे फाल्गुण सुदी ६ शुक्रदिने सुलितानु मोजदी वर्ष ३ राज्यकृतं।

संवत् १३४६ वर्षे फाल्गुन सुदी ६ शुक्रदिने सुलितानु समसदी वर्ष २ राज्यकृतं। संवत् १३४८ वर्षे जेष्ठ सुदि ५ सोमदिने सुलितानु जलालदी वर्ष ६ मास ३ राज्यकृतं। संवन् १३५४ वर्षे कातिग सुदि ११ भौमदिने सुलितानु रुकनदी मास ३ राज्यकृतं। संवत् १३५४ वर्षे पौष सुदी ८ भौमदिने सुलितानु अलावली वर्ष १९ मास ३ दिन १५ राज्यकृतं।

सं० १३७३ वर्षे माघसुदी ९ सोमदिने सुलितानु अलावदी पुत्रु ल्हौडी राणी छीतमदे को पुत्र सहाबदी मास ३ राज्यकृतं।

सं० १३७३ वर्षे फागुणवदी २ शनि दिने सुलितानु खुसरोखांन राज्यकृतं नाम नसीरदी वर्ष ४ राज्यकृतं। सं० १३७७ वर्षे आश्वनि सुदी ३ शुक्रदिने सुलितानु ग्यासदी वर्ष ४ राज्यकृतं। तुगलकु अंतर मास ८ राज्यकृतं।

सं० १३८२ वर्षे ज्येष्ठ सुदी ३ गुरौ दिने सुलतानु महमदु वर्ष २७ राज्यकृतं। संवत् १४०९ वर्षे श्रावण सुदी ८ शनि दिने मुहरम तेरीक २१ कार्तिक वदी ४ सुक्र दिने सुलितानु पेरोसाहि राज्यकृतं वर्ष ३७ मास ३ दिन ११ राज्यकृतं।

सं० १४४६ कार्तिक वदी ४ सुक्रदिने सुलितानु तुगलसाहि राज्यकृतं मास ५ वदेनु मारिउ। सं० १४४६ वर्षे चैत्रसुदी ८ सुलितानु वूवक साहि महमदसाहि सं० १४४७ वर्षे आश्वनि सुदी ११ वरिषु ७ मास ७ दिन ७ राज्यकृतं। ततः मल्लू राज्यकृतं। पश्चात् दौलतिखां राज्यकृतं।

सं० १४७२ खदरिखान राज्यकृतं वर्ष ७। सं० १४७९ वर्षे वैसाख मुमारखान राज्यकृतं वर्ष ११। सं० १४९० वर्षे फागुण सुदी ११ सुक्रदिने

१. पृष्ठ २९३ पर पाद-टिप्पणी देखें।
२. श्री अगरचन्द नाहटा ने यह तिथि '२' लिखी है।

महमदसाह जरबकसु वर्ष १२ राज्यकृतं। संवत् १५०२ अलावदी मास ३ अमानतिखां वर्ष ६ राज्यकृतं।

सं० १५०८ वर्षे वैसाख सुदी ३ सुलितानु वहिलोलसाहि पठाणु लोदी राज्यकृतं वर्ष ३८ मास २ दिन ८ राज्यकृतं। सं० १५४६ वर्षे अषाढ़ सुदि ११ सुलितानु सिकंदरसाहि राज्यकृतं वर्ष २८ मास ५ राज्यकृतं। सं० १५७४ वर्षे मगसिर मासे सुलितानु विराहिमु राज्यकृतं वर्ष ८ मास ५ राज्यकृतं।

सं० १५८२ वर्षे वैसाख सुदी ८ पातिसाहि बब्बरु मुगुलु काबिल तहिं आया राज्यं करोति। इदानी राज्यकृतं वर्ष ६ दिन। सं १५८८ वर्षे पोहवदी हुमाउ पतिसाह राज्यं करोति वर्ष ८ मास ६ राज्यंक्रियते।

सं० १५९७ वर्षे जेष्ठ मध्ये हसनसूर का पुत्रु साहि आलमु राज्यं करोति। सं० १५९९ सलेमसाहि राज्यकृतं वर्ष ९। सं० १६०८ पेरोसाहि राज्यंकृतं दिन १०। सं० १६०८ अछली राज्यंकृतं वर्ष ४।

सं० १६१२ आसोज वदी २ हमांउ रावसंतराउ हिंदू। सं० १६१२ फागुन वदी २ अकवर राज्यं करोति। सं० १६६२ कार्तिक सुदी १४ अकवर को पुत्र साहि सलेम राज्यं करोति। सं० १६८४ साह सलेम को पुत्र शेर स्वलतानु राज्य करोति मार्गशिर्वदी ७। सत्यं।

दिल्ली की पातसाही का ब्यौरा

'विल्हणदेव तुंवरघर को धणी'

श्री कुन्दनलाल जैन ने जो एक अन्य राजावली भेजी है, वह उन्हें दिल्ली के ही पंचायती जैन मन्दिर के अजैन गुटका नं० ३९२ से प्राप्त हुई है। यह कब और किसने उतारी है इसकी कोई जानकारी उस गुटके से उपलब्ध नहीं हो सकी है। परन्तु यह अनुश्रुति इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध की शाखा की है, जिसमें बीसलदेव चौहान और पृथ्वीराज तोमर के बीच युद्ध होना कहा गया है।

यह 'ब्यौरा' अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें दिल्ली-राज्य के संस्थापक विल्हणदेव को 'तंवरघार का धनी' कहा गया है। हम्मीर-महाकाव्य के 'गोपाचलक्षेत्र' और अबुलफजल के 'मालवा' के निर्वचन से हमने यह निष्कर्ष प्राप्त किया है कि दिल्ली-संस्थापक तोमर राजा विल्हणदेव या जाजू तंवरघार अर्थात् चम्बल-क्षेत्र से ही दिल्ली गया था। इस ब्यौरे से भी यह प्रमाणित होता है कि दिल्ली के राज्य की स्थापना के पूर्व तोमरों का राज्य चम्बल क्षेत्र में था और यहीं से वे दिल्ली की ओर बढ़े थे।

हिन्दी के गद्य के उदाहरण के रूप में भी यह ब्यौरा बहुत महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्य से इसका जो पाठ उपलब्ध हुआ है वह बहुत शुद्ध नहीं है। श्री कुन्दनलाल जी ने भी इसे कभी सन् १९६३ में उतारा था जो उनके पास गत दस वर्ष से पड़ा हुआ था। पेन्सिल से उतारे गये इस पाठ से प्रेस-कॉपी बनाते समय हमें असीम कठिनाई हुई है, और संभवतः अनेक स्थलों पर हम मूल तक नहीं पहुँच सके है।

अथ दिल्ली पातिसाही को ब्यौरो

अथ जंबूदीप भरतखंड खार समुद्र बीच जम्बूदीप खेड़ाएल (?) लागे छै। त्यारो व्यासें १४१४२८५२१ खेडा तीन जंबूद्वीप अधिक लागे छै। तिसमें आधा खेड़ा तो मेरु पर्वत पर छै, आधा खेडा उर छै ७७१४८५ वांको राजा इन्द्र ने राज कियो। तिहक जुग में दिल्ली नाउ पाथ्यो। दोलीश्वर ईश्वर की बरब्बर छै। दिल्ली को राज पंडिवा का वंस में कियो। वर्ष तीन हजार। ताइ पाछै पंडवा का वंस में राजा नीलाधपति सु दली को राज गयो। पण लडाई १७ करी। असवार ७० हजार पाला हजार नो। छत्रपती राजा पांचसै। समावंसी राजा संखधुज जीतो अर नीलाघपति साह मारो। घोडा हजार सैंतीस। राज वैठो। बरस चमालीस राज किया। तिह पाछै राजा विक्रमादित्य लडाई पांच वार करी। लडाई एक उन बड़ी हुई। तिहमें घोड़ा एक लाख ८० हजार अरु हाथी १ हजार एक। पाला हजार आठ पड़ा। संखध्वज मारो। विक्रमादित्य राज्य वैठो। उज्जैनी राजथान हुवो अरु दिल्लीपति कहायो। तिहको वंस ७९२ बरस राज कियो। जितो दिल्ली उजड़ी रही। तब वील्हणदे तुंवरघर को धणी छै। तीका पुरोहित को बेटो वाणारसी पढि पंडित होय आयो। व्यास जगज्योति नांऊ कहायो। घरिआ पकरि ए महुरत साधो वर वार में। १२ महुरत आयो। तब वील्हणदे तुंवर सो कहो हुतो नै अनंगपाल राजा करो। तिहका वंस में राजा न हुवा होय सो राज पावै। तैहने अनंगपाल राजा कही जे तु दिल्ली नागल कर में महुरत साधो छइ। तिहकै महुरता सोनारी खूंटी तोला ७ की अंगुल २१ करी। सो महुरत के दिन वेद पढि कर गाढ़ी सं० ७९२ की वैसाख वदी १३ अभि नक्षत्र। सों सातमें पाताल वासुकि कै सिर खूंची। तब व्यास कही जु थारु राज कदेत जाय नहीं या खूची छै। तब व्यास ने घणो देर घणू मणुहार कीरी सीख दीनी। व्यास आसीर्वाद दै घरि आयो। तब वील्हणदे कही जु व्यास झूठो बोलो। तब खूंटी उपारी देखी सो लोही सूं चुवती नीसरी। तब झूंठो बुरो कर दियो व्यास फेर फेर बुलायो। अवै राइ विचार करस्या तब फेर गाड़ी। आंगुल १९ पैंठी। तब व्यास बोल्यो—

छइपइ छंद

अनंगपाल चकवै वृधि जो होसी कीली
रै तुंवर मतिहाण करी कीलो सं ढीलो
कहै व्यास जगज्योति अगम आगम हूं जाणू
तुंवर (तें) चहुवाण फुनि फुनि होसी तुरकानूं
मांडू निरस्ट दिल्ली धरा सूं ए वार जीव जोग वैं।
नव सत अंत मेवाडपति एक छत्र महि भोगवै।।

अवै थारै वंस पीढी १९ रहसी। राजा वील्हणदे अनंगपाल राजा करि करि राज वैठायो हुवा परिचाल महिगइ कलजुग प्रगट हुवो। पीढ़ी १९ को ब्यौरो आसामी वरस महीना दिन घड़ी।

राजा वील्हणदे	१६	—	३	८
राजा गांग	२१	६	१६	११
पृथ्वीराज	१६	६	१६	११
सहदेव	२०	७	२७	१४
रुद्रदत्त	१५	३	३	—
षंडयुत	१४	४	१६	८
राजा नरपाल	२६	७	११	१६
वछराज	२१	२	१३	११
राजा वीरपाल	२१	६	१३	११
राजा गोपाल	२०	४	८	६
राजा तोल्हण	१८	३	१५	८
राजा जूलखंडी	२५	१०	१०	१६
राजा जसपाल	१६	४	३१	७
राजा कुंवरपाल	२१	६	११	८
राजा अनंगपाल	१६	६	१८	१०
राजा तेजपाल	२४	१	२१	—
राजा महीपाल	२०	६	१६	—

राजा पृथ्वीराज सूं वीसलदे चौहाण अजमेर सूं आय लड़ाई करी। पृथ्वीराज कै घोड़ा १,६१,००० कुरुक्षेत्र था। सो लड़ाई हुई अरु वीसलदे कनै घोड़ा ४०,००० था। सो एक लाख इकसठ हजार में सो एक लाख वीसलदे ने मारो। बाकी रहा था सो भाजि गया। राजा पृथ्वीराज खेत पड़ो अरु वीसलदे जीतो। दिल्ली के राज बैठो। पीढ़ी ७ वीसलदे चौहाण की हुई। तिन को ब्यौरो आसामी वीसलदे राजा—

वीसलदे	६	१	४	४
राजा प	८	६	५	—
राजा गंगेव	५२	३	—	११
राजा स्यामसु	७	—	—	—
राजा विहाडदे	४	४	—	८
राजा जगदेव	३	५	११	—
राजा पृथ्वीराज	७	६	१२	१३

राजा पृथ्वीराज संजोगता परणी जेह कुं संवतु १६ सूर १०० हुवा तिहकै भरोसे परणिल्यायो। लड़ाई साँवतांहरी। पणि जैचंद पूगो नहीं। संजोगता सरुप हुइ। तिह को वंस हुवो। सु महल ही में रहा। महीना एक पूवास नीसरो नाही। तिहकै संकर सेठ थो। सो अपणो जाणो कियो। संवत सुखाड चिंता हुवा। ताह मिल साह मारो। तिहको ज्वाव ही त हुवो। तव संकर सेठ के वेटे पूंछी कांयो

कीजै। तब कलाल कही रे सेठ तू भाजि के तू मारो नहीं तो वेगो चेति। तब संकर सेठ गजनी का पातसाहि आगे पुकारो, जो तू दिल्ली को नाथ छै, साहानसाह कहावै छै, पातिसाहि कियो चाहै छै, दिल्ली की तो चालि, पृथ्वीराज संयोगता परणी तिह कै वंस हुवौ छै, बाहिर कवहूं नीसरै नाहीं। एह बात सुनकरि पातिसाह गोरी चले। घोड़ा हजार ४१ नौ सो बहत्तर स्यौं आयो। सावंत सूर लड़ा बरस ४ सूधा। पण राजा बारै नीसरो नांही। सांवत सूर पड़ा। राजा पृथ्वीराज बांध्यो। आंखि काट स्याह गंजन गौरी राज बैठो। सं० १२७७ के चैत्र वदी १३ पठाणां के पातसाही को ब्यौरो पीढ़ी १३ राज कीयो आसामीवार साह गंजन गौरी .

साह गंजन गौरी	१४	५	१७	१३
समसदीन	२१	३	१३	१५
कुतुबुदिन	२०	३	२२	४
पेरोसाहि	३१	३	१	२१
अमंतसाहि	५३	३	११	२१
अलावादीन	६३	१	६	१२
सामसुदीन	२१	—	५	२७
ग्यासदीन	२१	—	१	७२
समुसुदीन खां	१	६	१५	१२
जलादीन	६	६	६	१०
दुरंददीन	११	६	१२	६
आलादीन	१२	३	१५	१२
सुलतान अलावादीन	६	६	८	८

वरसा में पीढ़ी १३ हुई पठाणां की। अलावादीन की आण जंबूद्वीप उपरि फिर। तिहरा मठा उमराव हजार तीन हुवा। ते मोहे १४१ वड़ा गढ़पती हुवा। सो वार गढ़पती आया पंथ चल्या। पथी वीस करि पणि खिमारीदि करी नही। तब अलादीन अलावडी समुद्र में घोड़ा घसाय दिया। सो फेरु आयो नाही। तिसकै रांज तिह को वेटो सुलतान अलावदी राज बैठो। वरस ६ मास ६ बातथो वेटो तिनको केई न थो। तब सूबादार १४१ किया था सो पातसाह हुवा। केहतो पूरब की तरफ केह दक्षण की तरफ केह गुजरात में पण अटक पार उतरा नाहीं। अलादीन अलावादी की मरजादा वांधी। सुलतान अलावादी कें पाट मुसवदीन ल्होडो भाइ राज वैठो। सं १३६७ कै साले तवै जिता था नादार था सो ल्होडा रनै आया नहीं पातसाही करता हुवा अरु दिल्ली सेनी कोस १०० था। सो सूबादार कही ल्होडो कितोत आदमी छै या लड़ाई कीजै। जो जीतेगो सो राज करै। पठाणा सेख मुगल जो कोई सवल होय सो राज करो। सुलतान के वेटा कोई नहीं। तिह वास्ते लड़ाई करो। वाकी धूमधाम की पातसाही हुई। तिहको ब्यौरो आसामी

मुसरुदीन	४२	—	१०	११
गएसदीन	४	४	११	१९
महमदवी	२७	३	१५	७
तुगलस्याह	७	५	३	७
पावकसाह	६	१	५	१५
दौलत खां	७	१	१८	१
खिदरखां	८	८	१८	१
ममार खां	११	११	१६	१
मैंहमूद साह	१३	१	१	७
अलहविरदी खां	३१	८	—	—

इह भांति धूमधाम की पातसाही करवो कीवा। टिकाणै वैठो तही सरीकती दावैरह कवो कीया। तैंज पाछे लोदी एक सौ लाहौर में रहे। तिहनै गैव सरूपी जोगी मिलो। तिहका घणा जतन कियो। सेवा करि तव गैंवी बोली जे तूं राछ बाछ टिठछै तै मै तूने दिल्ली की पातसाहि पीढी ४ की दई। इतनी कहकें एततै जातो रहो। तव जागो अजनी अवादीन कै घोड़ा १७८५ था सो चढि करि दिल्ली आय लागो। पातसाह अलाविरदी खान सहज ही वारै नीसरो थो। सु वात जानो नाहीं जू मोसों चूक करिवा आयो छै। तव लोदी मार मार करतो ही हुवो अलाहविरदी खां मारो। घोडा हजार ६१००० भागो। अंजनी अवादी राज वैठो। संवत् १५१३ कै चैत्र सुदी ३ पातसाही को व्योरो। अंजनी अवादी को पीढ़ी ४ आसामी नाम

अवादी	१७	१	—	१
लोदी की पातसाह	४	३	४	२३

ताईं करी पाछैं चोरा तो १ नांवाव तिमिरिलिंग कस्वा गजनी में षसै जेह मैं मीढाढुंभी था ४०० चरावो करै थो। जेठैं दरवेश १ आण आवाज करी। कहो मेरे ताई कोई सवा सेर का रोट दे १ सक्कर छून सौं वना। अध सेर भांगि को कसुभो पावै।

दिल्ली की एक अन्य राजावली

श्री कुन्दनलाल जैन ने दिल्ली की एक अन्य राजावली भी भेजी है जो पंचायती मन्दिर मस्जिद खजूर, दिल्ली, के अजैन गुटका नं० ३९३ में है। इसका प्रतिलिपि काल वि० सं० १७७१ है।

दिल्ली की राजावली

अथ राजावली दिल्ली नागल कीया संवतु ६७९ मिती वैसाख वदी १२ मंगलवार खोली कीली करी ढीली।

	वर्ष	मास	दिन	पहर	घड़ी
अनंगपाल तूंवर	७३	६	२१	१	१
राजा जसलेख	५३	३	—	३	—
विजैपाल	३५	८	११	३	—
राजा दसरथ	५३	६	२७	—	—
तेजपाल	३६	४	१४	—	—
लखणपाल	२९	५	२७	३	—
तेजपाल तूंवर (तिसको बसायो तिजारो)	७२	९	१५	२	—
	३५१	४१	११५	१२	१
चौहाण पृथ्वीराज	२४	७	१६	३	—
पठाण सुलतान सहाबुदी गौरी	२७	७	९	२	—
सुलतान महमद	२०	९	९	—	—
सुलतान पेरोज	१०	६	२	—	—
सुलतान जावदी	९	९	९	—	—
सुलतान सौनथल वाडी	१०	५	४	—	—
सुलतान मौजदी	३	२	१०	—	—
सुलतान जलालदी	६	१	९	—	—
सुलतान गौरीमद	५९	१०	६	—	—
सुलतान महमूद खुदी	३	७	८	—	—
सुलतान फतेखां सहजादा	६	७	८	—	—
सुलतान सीराजी गौरी	२०	—	—	१	—
सुलतान नगवासदीसलवडा लैपालुवा	२२	२४	२४	—	—
सुलतान गोकुलदास गौरी	४	४	३	३	—
सुलतान रुकनदी	४	३	३०	—	—
सुलतान बहलोल वोडा	११	५	८	—	—
सुलतान अलादेत अलावदी	५८	४	१५	—	—
सुलतान कुतबदी जरजरीजरवकस	४०	११	६	—	—
सुलतान खुसरो वावरोज	४	५	९	—	—
सुलतान तुगलक साह	८	६	११	—	—
सुलतान महमद धनी	२७	४	—	—	—
सुलतान पेरोसाह	३८	४	१२	—	—
सुलतान अली महमद पेरोसाह का वेटा	९	४	१२	—	—
सुलतान खिदरखां सेरखां पठाण	७	४	१२	—	—

सुलतान मुमारेखां गोरी	११	१०	४	—	—
सिहपाल क्षत्री जी ने मुमारेखां मार्या					
सिहपाल	—	७	१	—	—
सुलतान मुहब्बत खां	११	४	१२	—	—
सुलतान हमीद खां	८	४	१०	—	—
सुलतान बाबूसाह असड़ी	५	३	८	—	—
सुलतान तिमरलंग	१०	३	८	—	—
सुलतान बहलोल लोदी	३५	५	८	—	—
सुलतान सिकंदर लोदी	२८	८	३	—	—
सुलतान बिराहिम अधम पातसाह	६	४	३	—	—
बावर पातसाह मुगल चौगंसा	४	६	१३	—	—
हुमाऊं	१०	५	२२	—	—
सेरसाह	६	६	११	—	—
पेरोसाह सलेमसाह का बेटा	—	—	—	२	१७
अदल महमद	१	८	१३	—	—
दूसरो हुमाऊं फिर आयो	१	७	१५	—	—
बसंतराय दूसर	—	४	१५	—	—
जलालुद्दीन महमद अकबर	५०	३	१५	—	—
सलेम साह जहांगीर पातसाह	२२	१	५	२	१
साहिजहां	३३	१	१४	२	१
हजरत औरंग साहिब	५१	७	३	१	३
साहि बहादर	१०	४	२२	५	—

साहिबराय टाक का दिल्लीनामा

श्री कुन्दनलाल जी द्वारा प्राप्त एक उपलब्धि साहिबराय टाक द्वारा लिखित दिल्लीनामा है। उसे यहाँ पूरा उद्धृत किया जा रहा है यद्यपि उसके केवल पहले १० दोहे ही दिल्ली के तोमरों से सम्बन्वित हैं। वि० सं० १७७१ की राजावली में पृथ्वीराज चौहान का समकालीन तोमर राजा तेजपाल तोमर बतलाया गया है। साहिबराय टाक ने पृथ्वीराज चौहान को तेगपाल तोमर का भानजा बतलाया है। साहिबराय ने अपना दिल्लीनामा वि० सं० १८१६ तक लिखा है।

वि० सं० १८०० के आसपास की घटनाओं का साहिबराय ने आँखों देखा हाल लिखा है। तोमरों के इतिहास के लिए वह भले ही उपयोगी न हो तथापि भारतीय इतिहास के कुछ वर्षो की घटनाओं के लिए वह निश्चय ही बहुत उपयोगी है। शोधार्थियों को इसके पाठ के लिए भटकना न पड़े इस कारण इस दिल्लीनामे को पूरा उद्धृत किया जा रहा है।

दिल्लीनामा

दोहा

संवत छः सै अठहत्तरा दिली वसायो ठाम ।
अनंगपाल तुंवर भयौ प्रथम भूप अभिराम ।।१।।
वरस तिहत्तर राजियो फिरी अखंडत आन ।
कीली गाडी कुतब में लाट बनाई जान ।।२।।
सात से इकावन अधिक जसरथ तूंवरराज ।
दूजौ नृप छप्पन बरस वैठ्यौ हुकम समाज ।।३।।
संवत आठ सै नौ अधिक जसलखपाल प्रवीन ।
तीजौ नृप तूंवर भयौ वरस तरेपन कीन ।।४।।
साठ अधिक अठसौ भये विजैपाल तुंवरान ।
चौथौ नृप छत्तीस वरस फिरी अखंडित आन ।।५।।
संवत् अठसौ छियानवें तेजपाल तुंवरान ।
पंचम नृप सैंतीस वरस हुकम चलायो जान ।।६।।
नो सौ तैंतीस अधिक जसलखपाल तुवरान ।
छटौ नृप तीसै वरस वैठ्यो छत्र सिरतान ।।७।।
संवत नव सै तरेसठा तेगपाल तुंवरान ।
सातवां नृप चौवन वरस महावली वलवान ।।८।।
तेगपाल को भानिजो पृथीराज चौहान ।
इक हजार सत्तरह अधिक वैठ्यौ छत्र सिरतान ।।६।।
सात प्रसत तूंवर भये आठवां चौहान ।
पृथ्वीराज पच्चीस वरस राजपूत नृपजान ।।१०।।

अडिल्ल

इक हजार व्यालीस जानौ सहावुद्दीन गोरी पठानौ ।
पृथीराज को पकड़ा तान बाईस वरस अखंडित आन ।।११।।
संवत इक हजार चौवन जान समसुद्दीन गोरी फिरी आन ।
तीन वरस दसमो सुलतान मौजदीन हुरमजी पठान ।।१२।।
सात वरस ग्यारवां जानौ वारवां सैय्यद चिलार प्रमानौ ।
च्यार वरस इन फेरी आन इक हजार अडसठि सवंत जान ।।१३।।
तैरवां निजावुद्दीन सुलतान दस वरस तिन नै फेरी आन ।
चौधवां मौजदीन सुलतान पांच वरस वैठ्यो छत्रतान ।।१४।।

इक हज़ार तिरासी ठये पन्द्रहवें जलालुद्दीन भये।
षट् वरस फिरी अखंडित आन सोलहवां ग्यासुद्दीन सुलतान ॥१५॥
सात वरस सोलहवे को भए सुलतान सिकंदर सुनार लये।
सतरहवां अठ वरस छत्रतान दस अठ पिरोजस्याह प्रानी जान ॥१६॥
आठारहवां चार वरस प्रवान उन्नीसवां महमद खूनी जान।
षट वरस छत्र सिर वैठा तान बीसवां फतेखां सुलतान ॥१७॥
वरस इक्कीस हुकम चलायो ग्यारहसौ पैंतीसो आयो।
इक्कीसवां नसुरुद्दीन पठान वाईस वरस तिह फेरी आन ॥१८॥
वांईसवां ग्यासुद्दीन वलवंड पंच वरस निन लीना डंड।
तेईसवां कोकलतुसारीन छत्र फिराय तीन वरस कीन ॥१९॥
ग्यारह सै पैसठि संवतान चौवीसम रुकमुद्दीन जान।
तीन वरस कीनी फेरी आन ग्यारह सै अडसठि संवत जान ॥२०॥
पच्चीसवां अला अलावद्दीन गढ रणथंभौर फते कीन।
अठावन वरस चित्तौडह जाय रतनसिंघ को दिल्ली ले आय ॥२१॥
छब्बीसवां कुतवद्दीन जरीन पंच वरस पातस्याही कीन।
सत्ताईसवां खुरेसी सुलतान च्यार वरस छत्र लीना तान ॥२२॥
अट्ठाईसवां तुकलकस्याह नाम वरस नौ तुगलकावाद तिह ठाम।
उनतीसवां महमद खुरेसीन सताईस वरस तखत वैठीन ॥२३॥
संवत वारह सै इकहत्तर जान पिरोजस्याह खतमतीस प्रवान।
छतीस वरस छत्रपति फेरि आन रमने लाठि ढई अव जान ॥२४॥
संवत तेरह सै सात प्रमान इकतीसवां अदह महमद जान।
नौ वरस गज सिका चलाया वत्तीसवां मल्मुल कह आया ॥२५॥
दस वरस तावरती आनी तैंतीसवां खिदरिखुरेसी जानो।
सात वरस हुकम दिली चलाया चौतीसवां मुमारजखां आया ॥२६॥
ग्यारह वरस छत्र फिराया सिद्धपाल छत्री ने मार गिराया।
पैंतीसवां सिद्धपाल नरेस आठ वरप दिल्ली राज करेस ॥२७॥
छत्तीसवां अनमति खां जान दौय वरस लौं फेरी आन।
सैंतीसवां महमद मोनदीन दस वरस इकछत्र पातस्याही कीन ॥२८॥
संवत तैरह सौ चौसठा जान अड़तीसवां विहलोल पठान।
वाईस वरस हुकम चलायो उनतालीसम ववकर आयो ॥२९॥
षट् वरस छत्रपति फेरी आन चालीसम अलावद्दीन सेखान।
पंच वरस तिहि पूरे लये इकतालीसम विहलोल लोधी भये ॥३०॥
पैंतीस वरप अखंडत आन व्यालीसम सिकंदर लोवान।
उनतीस वरप छत्र सिरतान तेतालीसम इब्राहिमखान ॥३१॥

संवत चौदह सौ इकसठ जान पंच बरष इब्राहिम लोधी आन।
चवालीसम उमर सुलतान पैंतीस वरस बैठो छत्रतान ॥३२॥
संवत पन्द्रह सै इक जान तैमूर स्याह आये सुलतान।
लोनी सहर कतल तिन कीना गरीव-गुरवा को दुख दीना ॥३३॥
तैमूर स्याह विलायत गये पैंतालीसम बावर भये।
छवालीसम डांवाडोली जान पंच वरस साह बावर आन ॥३४॥
संवत पन्द्रह सौ पंचास स्याह हुमायु छत्रपति जास।
दस बरष फिरी अखंडति आन छियालीसम हुमाऊं सुल्तान ॥३५॥
साठि अधिक पन्द्रह सै गए सैंतालीसम सेरस्याह भए।
पंच वरष छत्र सिरतान जान अड़तालीसम सलेमसाह पठान ॥३६॥
उनचासम पिरोज सलेम पठान कोटला बनाया दो वर्ष आन।
पंचासम अदल महमद खान दोय वरष लौ फेरी आन ॥३७॥
इक्यावना हेमू ढूंसर जानि च्यारि वरष बनिये फेरी आनि।
संवत सौलह सौ पूरे भये हेमू मारि हुमाऊं अयै ॥३८॥

दोहा

स्याह हुमाऊं छत्रपति चौगता सुलतान।
हेमू ढूंसर मारिकै दोइ वरष फिरी आन ॥३९॥
सौलह सौ दोय अधिक अकबर जलालुद्दीन।
च्यारो चक सब जीति कै बैठ्यो छत्र सिरकीन ॥४०॥
पूरब पच्छम बस किए उत्तर दक्खन जीत।
स्याहनसाह कहाइयो सेर-बकरी जल पीत ॥४१॥

कवित्त

सात समुद्र वार-पार सात द्वीप के मझार होहि न जलालुदीन स्याह अकबर से।
गंग से न गुनी तानसेन से न ताना रागी वचन से न करनी गोय दाता वीरवर से।
खाना से न खानाखान राजा से न राजा मान होहि न उजीर कहूं टंडन टोडर से।
दीली से न तखत बखत न मुगल के से देखे न सुने कहू आगरा नगर से ॥४२॥

दोहा

बावन वरष पूरी करी अकबर जलालुद्दीन।
सौलह सौ पचपन्न अधिक जहांगीर छत्र लीन ॥४३॥
जहांगीर भये छत्रपति स्याहनसाह कहाय।
रैयत पोखी अदल सों सब दिस लीनी जाय ॥४४॥

कवित

चीतन के मंदर में बैठ्यो मृग न्याव करै,
लोमड़ी करत तेज सुआनन सौं बात है।
चूहे की छठी को विलैया जाय गीत गावै,
मोरन के सेस भेस येक सेस खात हैं।

चिड़िया के वालक की वाज रखवाली करै,
मछली के वालक को वगुली पतियात हैं।
स्याहन के स्याह पातिस्याह जहांगीर वली,
तेरे राज गायन घर सिंघ नित जात हैं ॥४५॥

दोहा

बाईस वरष छत्र फिर्यौ जहांगीर सुलतान।
सौलह सौ सत्तहत्तर अधिक साहिबसाहि किरान ॥४६॥
साहिजहां भये छत्रपति चहूंचक में आन।
चार पुत्र सोभा धरै दारा स्याहब ज्ञान ॥४७॥
आलमगीर दूसरे स्याह मुरादह जान।
स्याह सुजा चौथो भयो च्यारौं पुत्र वलवान ॥४८॥
च्यारों आपस में लरें जीत्यों आलमगीर।
बाप नजरवंधि राखियो भाई मारे वीर ॥४९॥
वत्तीस वरस पूरे करी साहिव स्याह किरान।
संवत सत्रह सौ नौ अधिक आलमगीर छत्रतान ॥५०॥
इक्यावन नृप छत्रपति दिल्ली तखत वैठान।
षट चौगते जानिए सतावन छत्रप्रवान ॥५१॥
वरष तरेपन राजियो आलमगीर छत्रान।
सत्ररह सौ त्रैसठ अधिक भयो काल-व्रस जानि ॥५२॥

अडिल्ल

सातवां स्याह वहादुर भये च्यार वर्ष षट् मास अधिक लये।
सतरह सो अढसठेला सौरान फिर च्यारों लडीयें सुलतान ॥५३॥
आठवां मौजुद्दीन सुलतान त्रैभाई जीति दसमास आन।
नौवां फरकसेर सुलतान षट्वरस छ मास फेरी आन ॥५४॥
संवत सत्तरह सौ पिचहत्तरान सईदो फरकसेर मारा तान।
दसमो रफील दरजात जानि आठ मास गजसिका फिरी आन ॥५५॥
ग्यारहवां रफीलदौला जान सात मास फिरी ताकी आन।
दोनों स्याह सईदौं कीनै तीजे महमद स्याह सिर छत्र दीने ॥५६
दुवादसम नीकौ सैर आगरान सईदौ ताकौ पकड़ौ जान।
मुगलौ मिलकै येका कीया हसन अली मारिकै लीया ॥५७॥
तेरहवां महमद स्याह सुलतान इततैं चढ़ै अवदुल्लाखान।
चौदहवां इब्राहीम सुलतान दोनों दल भयो सौंहीं आन ॥५८॥
डेढ़ पहर लों लरिए जान अवदुल्ला खां इब्राहीम पकड़ान।
संवत सत्रह् से सतहत्तरान महमद स्याह छत्र वैठे तान ॥५९॥
खुद अकितार महमद स्याह भये सतरह वरष और भी गए।
सत्तरह सै चौरानवां जान नादिर स्याह आये सुलतान ॥६०॥

खान दौरा मुजफर खां लड़े सहादत खां फिर दिल्ली बढ़े।
निजामनमुलक देखै खड़े छोटे उमराव जूझि कै पडे ।।६१।।
समेत उमराव कीना कैद वाअैराक लेआया अैद।
फागुन सुदि नौमी को आया बारस अैत कतल फरमाया ।।६२।।
तीन पहर लौं अनरथ जानौं नर-नारी जीव परजौ प्रमानौ।
माल लूटै बंध भी करै ताकौ लेह ता सिर धरि घर भरै ।।६३।।
काहू त्रिया वहन पुत्री मारी काहु भुआ भावसी सिधारी।
कई कूप में परिये जाई कई मन में डरैं जहर खाई ।।६४।।
कई अगिन में परिए धाई कई बंध पकरे मरि जाई।
छत्रपति रैयत के क्रोडों लए पूरब करम उदै दुख भये ।।६५।।
दोय महीने दिल्ली रहे जान वैसाख सुदी नोमी भयो पयान।
महमद स्याह बैठे छत्रतान भागी रैयत आई निदान ।।६६।।
संवत सत्तरह सौ पिच्याणवान महमद स्याह दस वर्ष फिरी आन।
अट्ठारह सौ पांच संवत जान आयो अहमद दुर्रानि पठान ।।६७।।
मनसूर अली कमुरुद्दीखान इसरसिंघ अहमद सुलतान।
सीहनंद गये लड़ाई भई कमरुद्दीन भुवै इसर भगि गई ।।६८।।
अहमद दुर्रानी भाग्यौ जान मीरमनू नाम फते प्रमान।
अहमद स्याह दिल्ली में आये मीरमनू लाहौर पठाये ।।६९।।
संवत अठारह सै पांच जान महमद स्याह मरि गये निदान।
वैसाख सुदी नौमी छत्र धरे मनसूर अलीखां उजीर करे ।।७०।।
अहमद स्याह बैठे सुलतान नवा वहादुर खोजा वढ़ान।
षट् वरष पातस्याही प्रमान मनसूरह खोजा मार्‌या तान ।।७१।।
नवाव वहादुर मारे परे तव मनसूर नै जोरे करे।
गाजुद्दीन ने नज़ीव बुलाया दोय महीने जंग मचाया ।।७२।।
पुरानी दिल्ली लूटै जाट रईत सब हूई आठौ बाट।
मनसूर अली सूवे गये निजामुद्दोला उजीर भए ।।७३।।
गाजुद्दीखां गनीम सौ मिलान अहमद स्याह चले आगरान।
सिकन्दरे साथ वेगम गई आप भागे वेगमें लुटई ।।७४।।
पूत लगा गनीम गाजुद्दीन आय अहमद स्याह को पकड़े धाय।
माल मुलक जव तसव कीया आलमगीर सिर छत्र दीया ।।७५।।
संवत अठारह सै ग्यारह जान जेठ सुदी बारस ऐतवान।
दोय वरष आठ मास छत्र ठये फिर अहमदखां दुर्रानी अये ।।७६।।
संवत अठारह सै तेरह भये आलमगीर मिलन को गये।
निजाम गाजुद्दीन दोनों साथ गाजुद्दी पकड़े निजाम वाथ ।।७७।।
आलमगीर को खिलका दीया खानखाना उजीर कीया।
माह वदी तेरसि किले मिलान पार वेठे जिहानखा जान ।।७८।।

सत्ताईस दिन किले में वास नितप्रति लूटै देहि त्रास।
मथुरा जाय कतल सब कीया बंधकीनी माल भी लीया ॥७९॥
दोय महीने बहु दुख दीया फेर कूच लाहौर कीया।
संवत अठारह से चौदह भये अहमद लूटलाट उतन गये ॥८०॥
गाजुद्दीन खाँ दिल्ली आयें खानखाना कैद फरमाये।
अली गौहर को दिल्ली बुलाया कैद करने को डोल लाया ॥८१॥
अली गौहर पुरवही गया सम्वत अठारह सौ सोलह भया।
मगसिर सुदी दशमी जुमैरात आलमगीर की कीनी घात ॥८२॥
स्याह मारा जुमैरात को जोरू सौंपी है जाट को।
मामू को मारा रात को सावास है तेरी जात को ॥८३॥
तू तो बड़ा वेपीर है चौगतो को जहर का तीर है।
रैयत के नसीव गुनहगीर हैं वेइनसाफ तू सरीर है ॥८४॥
स्याह जिहान चौगता जानो गाजुद्दीनखां ने छत्री ठानो।
माह वदी आठै जुमैरातौ अहमद दुर्रानी मदमातौ ॥८५॥
गाजुद्दीजनकूं नाजर मलान छोटे मोटे भागे निदान।
लूटे मारे बंध भी करी नगदी लीनी पोट सिर धरी ॥८६॥
ग्यारह दिवस लूट ही रही और विपरीत जाय नहीं कही।
फिर गनीम का पीछा कीया जैनगर ताईं खेद दीया ॥८७॥
फिर दिली आय पार हीं गये आकूबअलीखां सूबे भये।
संवत अठारह सौ सतरह जान सावन सुदी अष्टमी प्रमान ॥८८॥
गनीम गाजुद्दी जाट आये दिली लूटी धूम मचाये।
घेरा किला लड़ाई ठानी नदी चढ़ी हारि ही मानी ॥८९॥
दिली बंध वसत गनीम कीया अली गौहर पुत्र को छत्र दीया।
भाऊ जन को मल्हार गनीम हुकुम चलाया जोरावर भीम ॥९०॥
चौमासे में फैरी आन कुंजपुरे का मारा पठान।
नगदी ले तो परवाना लीया करनाल वरे डेरा दिया ॥९१॥
च्यारौ तरफ तोपें धरी जान दिली नारोसंकर वैठान।
स्याह नजीव सु जाय दोलान नदी उतरी आया सुलतान ॥९२॥
उत गनीम इत चढ़ा सुलतान दोनों फौजें सन्मुख प्रमान।
दोय महीने लड़ाई रही तोप वन्दूक वान छूटे सही ॥९३॥
पौह सुदी अष्टम वुधवार जान उत गाउदी इत भिडे पठान।
मोरचे मोरचे लगी मार वाजन लाग्यो सार सौ सार ॥९४॥
तीन दिवस लौं विग्रह हुवा हजारो डील जूझि के मुवा।
गनीम शिकस्त खाई निदान लसकर में परलै हुई जान ॥९५॥
लाखों क्रोडों लुटिये दाम कपड़ा हाथी घोड़े ठाम।
राव रंक रंक राव भये खबरे प्राणि भागि सो गये ॥९६॥

अनरथ को नहीं वारापार रैयत व्यापारी भये खुवार।
माह वदी नोमी विसपतवार वैंठे स्याह किले मंझार ॥९७॥
अहमद दुर्रानी कोट ठानौ सुजायतदौला हवेलि जानौ।
नजीव खां खिदरावादह रहै फागुन बदी बात सांची कहै ॥९८॥

दोहा

अठारह सौ सतरह अविक फागुन बारस पाय।
दिल्ली के भूपति भये वरने साहिवराय ॥९९॥
दसकत साहिवराय टाक कोम सिरीमाल।
चैतबदी येकम हुती वार सनीचरवार ॥१००॥
अहमद स्याह पठान के डेरे सालेमार।
दोय मुकाम किये तिहां फिर फुरमायौ कूच।
अलीगौहर पुत्र छत्र दै आप उतन पहूंच ॥१०१॥
अठारह सौ उन्नीस ही संवत पहुंचो आय।
लाहौर पठानह लई जाट आगरे ठाय ॥१०२॥

अडिल्ल

लाहौर तखत स्याह ने लिया आगरा कवजे जाट ने किया।
दिल्ली नजीवखान जोर है अली गोहर पूरब कहै ॥१०३॥
आषाढ़ बदी सतमी जानो जाट पठान द्वै सन्मुख ठानौ।
छः सात कोस मुकावला रहै हारजीत विधना जिह चहे ॥१०४॥

दोहा

अठारह से उन्नीस ही मगसर पंचम पाइ।
नजीव खां लाहोर दिस जावत खां दिल्ली ठाई ॥१०५॥
अठारह सौ बीस अधिक माह वदी बारस जान।
जाट रुहेला भिड़ गये सूरजमल तजे प्रान ॥१०६॥
अठारह सौ इक्कीस अधिक कातिक मास प्रमान।
जाट गनीम सडास मिल दिल्ली घेरी आन ॥१०७॥
दोनों दल सन्मुख भये गोला छूटैं वान।
रैंयत को दुख ऊपज्यौ पति राखैं भगवान॥१०८॥
दोय मास लड़ते भये जीति हारि नहीं होय।
स्याहदरा सव लुट गया दुखी मानस लोय ॥१०९॥

मगसिरसुदी दसमी सोमवार दसकत साहिवराय टाक। आलमगीर ने पांच वरष छः माह पातस्याही कीनी। सं० १८१६ मगसिर सुदी १० मारे गये। पातस्याह कामबकस का पोता पातस्याह हुवा मिती मगसिर सुदी १० वार विसपतवार। आगे होयगा सो लिखेंगे दसकत साहिवराय टाक।

नामानुक्रमणिका

संदर्भित आधुनिक विद्वान

(अकरादि क्रम से)

अभिमत

एवं

सम्मतियां

आचार्य श्री किशोरीदास वाजपेयी

का

आशीर्वचन

तोमरों का इतिहास (प्रथम भाग) की प्रति मिली। मैं इतिहासविद् नहीं हूँ, परन्तु द्विवेदी लिखित "मध्यभारत का इतिहास" देख चुका हूँ। उसी के बल पर कहने की हिम्मत रखता हूँ कि यह ग्रन्थ भी पूर्ण प्रामाणिक होगा। "है" न कह कर "होगा" इसलिए कह रहा हूं, क्योंकि आंखों ने पढ़ने में मदद देना छोड़ दिया है। बड़े अक्षरों में चिट्ठी-पत्री भर लिख लेता हूँ।

श्री ब्रजवासीलाल

वरिष्ठ प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्व अध्ययन शाला
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर
[भूतपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली]

का

अभिमत

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी वर्तमान हिन्दी लेखकों में अपना विशेष स्थान रखते हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होंने अपनी लेखनी से इतिहास-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखकर न केवल हिन्दी भाषा में इतिहास-साहित्य का विशेष रूप से परिवर्द्धन किया है, अपितु समस्त भारतीय इतिहासज्ञों को सराहनीय योगदान दिया है। उनके 'मध्यभारत का इतिहास', 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख', 'भारत की मूर्तिकला' आदि ग्रन्थ पाठकों के लिए विशेष लाभकारी हैं।

श्री द्विवेदी जी का प्रस्तुत ग्रन्थ "दिल्ली के तोमर" उनके विशद ग्रन्थ "तोमरों का इतिहास" का प्रथम खण्ड है। इस खण्ड में उन्होंने बड़े ही सुचारुरूप से पुरातत्व एवं प्राचीन ग्रन्थों से उपलब्ध साक्ष्यों का विवेचन किया है। यही शोध की सराहनीय प्रणाली है : साक्ष्यों को प्रथम स्थान देना तथा उनसे निकले हुए निष्कर्षों से ही इतिहास-रचना करना। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है श्री द्विवेदी द्वारा मुद्राओं, लेखों और स्थापत्य का सम्यक् विवेचन। ठक्कर फेरू की 'द्रव्य-परीक्षा' नामक पुस्तक का प्राप्त मुद्राओं से तुलनात्मक अध्ययन बड़ा ही श्रेयस्कर है। इसी प्रकार अजमेर के 'अढ़ाई-दिन-के-झोपड़े' से प्राप्त 'ललित-विग्रहराज' नाटक के उत्कीर्ण अंशों का अध्ययन भी बड़े आलोचनात्मक ढंग से किया गया है।

श्री द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ में कई प्रचलित स्थापनाओं पर अपना मत-विरोध प्रकट किया है, तथा स्वयं भी कई नई स्थापनाएँ की हैं। प्रगतिशील साहित्य में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। मुझे विश्वास है कि विषय-पारखी इन स्थापनाओं पर पुनर्विचार करते समय श्री द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्यों एवं तर्कों का पूर्णरूपेण ध्यान रखेंगे।

डा० श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री

संचालक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी एवं

अध्यक्ष

मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन

का

मन्तव्य

लगभग दस वर्षो से मैं तोमर, कच्छपघात, चन्देल और परमार वंशों के प्रामाणिक और नवीन इतिहास-ग्रन्थों की बाट उत्सुकतापूर्वक देख रहा था। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास पर बहुत से प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं; किन्तु प्राचीन और मध्ययुग के अन्तर्वर्ती काल में मध्यप्रदेश में शासन करने वाले ऐसे अनेक राज्य और राज्यवंश हुए जिनके सहयोग और सहायता से साहित्य, कला और विद्या बहुत कुछ पुष्पित-पल्लवित हुए। मन्दसौर से लेकर रायगढ़ तक और बुरहानपुर से लेकर धौलपुर की सीमा तक, जितने साहित्य का निर्माण दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के मध्य हुआ, उस पर कोई भी राज्य गर्व कर सकता है। इस क्षेत्र के अनेक राजाओं पर महाकाव्य लिखे गये। महाकवियों ने अपने ग्रन्थों में इन्हें आदराञ्जलि समर्पित की। अनेक लेख और प्रशस्तियाँ इस काल के शासकों के सम्बन्ध में शिलाओं पर उत्कीर्ण की गयीं; फिर भी इन वंशों का विस्तृत एवं प्रामाणिक इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं है और जो कुछ लिखा भी गया है उसका आधार एकतरफा और अप्रामाणिक फारसी के तवारीख ग्रन्थ हैं। इसलिए श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा लिखित 'दिल्ली के तोमर' को देखकर मैं आनन्द-विभोर हो गया।

श्री द्विवेदी मध्यप्रदेश के सर्वमान्य तपोनिष्ठ साधक हैं। इतिहास, पुरातत्व, कला, साहित्य और विधि-शास्त्र में उनकी समान रूप से गहरी पैठ है। मैंने उनके 'मध्यभारत का इतिहास' तथा 'मध्यभारत के शिलालेख' को देखा था। तब मैं लेखक की सूझ-बूझ और अध्यवसाय से प्रभावित हुआ था। 'दिल्ली के तोमर' इस शृंखला में बहुत मजबूत कड़ी है। अनेकों प्रश्नों का, जो लगभग ३० वर्ष से मेरे मस्तिष्क में उमड़-घुमड़ रहे थे, पहली बार प्रामाणिक विवेचन पाकर मेरा मन उत्फुल्लित हो गया। मेरे लिए यह और प्रसन्नता की बात है कि पाँच या छः प्रसंगों में श्री द्विवेदीजी के निष्कर्ष वे ही हैं जो मैंने बिना पुष्ट प्रमाणों और तर्कों के अपने मन में बना रखे थे। श्री द्विवेदी ने साहित्य, इतिहास और पुरातत्व के सभी साधनों का उपयोग कर इस ग्रन्थ को प्रामाणिकता प्रदान की है। उनकी शैली वह है जो इतिहास ग्रन्थ की होनी चाहिए। वह न मेकॉले की तरह बहुत साहित्यिक है और न पुराने ऐतिहासिकों की तरह घटनाओं का कंकाल मात्र। साहित्य, संस्कृति और इतिहास—तीनों की इस त्रिवेणी मे चिन्तन और निमज्जन के लिए पर्याप्त सामग्री है।

मैं श्री द्विवेदी के इस अध्यवसाय के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

डा० श्री भगवानदास गुप्त

सदस्य, कार्यकारिणी, अखिल भारतीय इतिहास-कांग्रेस

अध्यक्ष, इतिहास विभाग

बुन्देलखण्ड स्नातकोत्तर कालेज, झांसी

का

अभिमत

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी हिन्दी-जगत के उन कतिपय विद्वानों में से हैं जिनका लेखन-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत और विभिन्नता लिये हुए है। व्यवसाय से वे एडवोकेट हैं, अस्तु, अगर इन्होंने विधिशास्त्र पर कई प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं और दो विधि-मासिकों का सम्पादन करते हैं, तो वह उचित ही है। पर जब वे भाषा, साहित्य, कला, इतिहास और पुरातत्व पर भी वैसे ही अधिकारपूर्वक प्रामाणिक और मौलिक ग्रन्थों का सृजन करते हैं, तो बरबस ही उनकी बहुमुखी प्रतिभा और पाण्डित्य का कायल हो जाना पड़ता है।

'दिल्ली के तोमर' इनका एक ऐसा ही ग्रन्थ है। इसमें एडवोकेट द्विवेदी जी ने अपने 'मुवक्किलों' से 'सम्बन्धित' तथ्यों का असामान्य संग्रह कर, उनकी तर्कपूर्ण प्रभावशाली विवेचना पर आधारित जो जोरदार 'केस' तैयार किया है, उसे सहज ही चुनौती नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसमें विधि-विशेषज्ञ के साथ ही इतिहासज्ञ और सुविज्ञ चिंतक की अपूर्व प्रतिभाओं का अलबेला सम्मिलन हुआ है।

दिल्ली के तोमरों के इस इतिहास को विद्वान लेखक ने ६ खण्डों में विभाजित कर उनकी उत्पत्ति, गृहप्रदेश, उत्थान और पतन की एक प्रामाणिक गाथा प्रस्तुत की है। सामान्यतः भारतीय इतिहास लेखक वंशीय और राजनीतिक ऐतिहासिक कृतियों में इतिहास के सांस्कृतिक और लोकवादी पक्ष की उपेक्षा कर जाते हैं। अस्तु, तोमरों के इस सांगोपांग इतिहास में भारतीय संस्कृति में उनके योगदान की जो विशेष चर्चा की गई है वह निश्चय ही अभिनन्दनीय है।

इस ग्रन्थ की आधार-सामग्री श्री द्विवेदी जी ने बड़े परिश्रम से जुटाई है। समसामयिक, पश्चात्कालीन और अर्वाचीन जो भी तोमरों से सम्बन्धित सामग्री संस्कृत, हिन्दी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में उपलब्ध थी, प्रायः उस सभी का इन्होंने इस ग्रन्थ में भरपूर उपयोग किया है। इनसे परे, मुद्राओं, अभिलेखों, लोककथाओं और जनपदीय साहित्य में जो ऐतिहासिक या सांस्कृतिक सूचना निहित थी, वह भी द्विवेदी जी की अनुवीक्षकी दृष्टि से नहीं बच सकी है। इस ग्रन्थ की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भौगोलिक स्थितियों के संदर्भ में ऐतिहासिक विवरणों और घटनाओं को जाँचा ही नहीं गया है, अपितु, उनके आधार पर चमत्कृत कर देने वाले, तर्क-सम्मत सर्वथा नवीन निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये गये हैं।

श्री द्विवेदी जी अपने पैने चुटीले किन्तु संयत और अर्थपूर्ण व्यंगों के लिए प्रसिद्ध हैं। ये व्यंग जहाँ पाठक को बोर होने से बचाते हैं, वहाँ दूसरी ओर लेखक के अपने दृष्टिकोण को अनजाने ही सरलतापूर्वक मिर्चीली चटपटी चाट की तरह पचनीय बनाकर चटपट उसके गले उतार देते हैं। ऐसे व्यंगों की इस ग्रन्थ में कमी नहीं है, किन्तु कमाल तो यह है कि उनका प्रयोग इतना उचित, संयत और यथास्थान हुआ है कि वे स्वयं में एक सिद्धहस्त कारीगर की कलापूर्ण गढ़न बन गये हैं। उदाहरण के लिए तोमरों के इतिहास की उपेक्षा पर खेद प्रकट करते हुए श्री द्विवेदी जी लिखते हैं कि 'दिल्ली से पालम तक (अज दिल्ली ता पालम) सात-आठ मील के साम्राज्य के अधिकारी या चालीस-पचास वर्ष के राज्यकाल के छोटे-छोटे राजवंश और उनके राजा भारतीय इतिहास के प्रमुख वर्ण्य विषय माने गये हैं, परन्तु ग्वालियर के तोमर पूर्णतः उपेक्षणीय ही माने गये हैं।" भारतीय इतिहासकारों द्वारा फारसी तवारीखों को अनावश्यक, अविवेकपूर्ण महत्व देने पर और अन्य ऐतिहासिक सामग्री की उपेक्षा पर क्षुब्ध होकर वे कह ही बैठते हैं कि "फारसी भाषा में लिखा होने मात्र से कोई ग्रन्थ इतिहास नहीं बन जाता।"

अन्त में यह तो है ही कि श्री द्विवेदी जी मध्यप्रदेश के ग्वालियर संभाग के हैं। आंचलिक लगाव उनमें है। ग्वालियर के तोमरों के प्रति अगर वे अधिक अपनेपन का अनुभव करते हैं, अथवा उनके उत्थान-पतन पर उनकी लेखनशैली संगीत के स्वरों की तरह उतार-चढ़ाव लेकर लेखक की अनुभूति मुखर कर देती है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या। भावविहीन, कलात्मक लेखन-शैली से वंचित अभागे रूक्ष तथाकथित इतिहासकार और समीक्षक, जो इतिहास को तथ्यों का शुद्ध कंकाल मात्र मानकर चलते हैं, इस पर नाक-भौं चढ़ा सकते हैं, इस ग्रन्थ में आंचलिकता की 'बू' की दुहाई देकर लेखक का श्रेय कम करने का प्रयत्न कर सकते हैं, पर बिना व्यक्तिगत लगाव और अनुभूति के विश्व-साहित्य और विश्व-इतिहास में कोई हृदयस्पर्शी रचना सम्भव ही नहीं हुई। द्विवेदी जी की यह आंचलिकता उनकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत है। इसलिए वह निंदनीय न होकर अभिनंदनीय है।

इतिहास में पूर्णता या बाबावाक्य जैसी कोई स्थापनाएँ नहीं होती, किसी भी शास्त्र की तरह उसमें सुधार और संशोधन की सदैव गुंजाइश रहती है। यह गुंजाइश 'दिल्ली के तोमर' में भी हो सकती है। लेखक के निष्कर्षों से मतभेद भी स्वाभाविक होंगे। पर अगर इन मतभेदों से प्रेरित तोमरों पर और शोध-कार्य हुए और लेखक की कुछ मान्यताएँ गलत भी सिद्ध हुईं, तब भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकेगा कि इन सबका प्रेरक यही ग्रन्थ था।

संक्षेप में, सब मिलाकर दिल्ली और ग्वालियर के तोमरों का यह इतिहास एक प्रामाणिक, ऐतिहासिक शोध की वैज्ञानिक प्रणालियों पर आधारित, बहुत ही सूचनापूर्ण और तर्क-संगत सूझबूझों से परिपूर्ण श्लाघनीय कृति है, जिसके लिए मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के पाठक और विद्वान श्री द्विवेदीजी के ऋणी रहेंगे।

डा० श्री मोतीचन्द्र

निदेशक

प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, बम्बई

की

सम्मति

इसमें संदेह नहीं है कि श्री द्विवेदी जी ने यह पुस्तक बहुत से आधार ग्रन्थों को पढ़कर लिखी है। मेरी राय में तोमरों का ऐसा पूर्ण इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया। श्री द्विवेदी जी की कुछ स्थापनाओं पर कुछ आपत्ति हो सकती है, पर उनके इतिहास की गति बड़ी ही सरलता के साथ आगे बढ़ती है, और एक ऐसे इतिहास का दर्शन कराती है, जिसके बारे में अभी बहुत कुछ लिखा नहीं गया है।

डा० श्री प्रद्युम्न शर्मा

एम० पी० ए०, पी-एच० डी० (मिनसोटा)
रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

का

अभिमत

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा रचित 'दिल्ली के तोमर' भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान की दुनिया में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। विद्वान लेखक ने बड़े ही गवेषणापूर्ण श्रम तथा शोधकर्तोचित निष्पक्षता से इतिहास निर्माता तोमरों के इतिहास को उपेक्षा-अन्धकार से प्रकाश में लाकर, भारतीय इतिहास का एक नया पृष्ठ लिखा है।

ग्रन्थ की लगभग सभी प्रस्थापनाएँ मौलिक हैं, तथ्य संकलन विश्वसनीय कहा जा सकता है तथा अद्यतन प्राप्त सामग्री एवं मान्यताओं की विवेचना अत्यन्त ही तर्कपूर्ण बन पड़ी है। तोमरों ने भारतीय इतिहास को कुछ दिया है, उसे नई पीढ़ी नये सिरे से जान सकेगी। विद्वत्वर द्विवेदी का इतिहास-ज्ञान भारत में ऐतिहासिक शोध को नया दिशा बोध दे सकेगा, ऐसी आशा की जा सकती है। श्री द्विवेदी जी को मेरी बधाई।

डा० श्री सन्तलाल कटारे

डी० लिट्०, एमेरिटस प्रोफेसर, इतिहास
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

का

अभिमत

आपकी पुस्तक 'दिल्ली के तोमर' 'तोमरों का इतिहास' का प्रथम भाग मैंने चाव से पढ़ा। निःसंदेह, अपनी तीन विशेषताओं के कारण 'दिल्ली के तोमर' एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अध्ययन है। ये तीन विशेषताएँ हैं:—प्रथम : इतिहास के साहित्यिक स्रोतों का इतना विस्तृत उपयोग किसी ऐतिहासिक विषय के अध्ययन के लिए शायद प्रथम वार ही हुआ है। द्वितीय : तर्क के सहारे साधनों का अध्ययन और तृतीय : हिन्दी में मौलिक विचारों से परिपूर्ण, शास्त्रीय ढंग पर लिखित प्रथम निवन्ध। यद्यपि भारतवर्ष के साहित्यिक स्रोतों का शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ है, फिर भी ये स्रोत महत्व के हैं और इतिहास के संकलन में इनसे सहायता मिलती है।

दिल्ली के तोमरों के इतिहास के सारे साधनों का विश्लेषण, उनके इतिहास की रूपरेखा के पहले देकर आपने ग्रन्थ का महत्व और भी वढ़ा दिया है।

संभवतः आपके निष्कर्षो से इतिहास के विद्वान अपनी भृकुटि टेढ़ी करें, किन्तु उन्हें इन निष्कर्षों पर गंभीरता से विचार करना होगा।

डा० श्री राजेश्वर गुरु

अधिष्ठाता, कला संकाय

अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन मण्डल

सदस्य, कार्यकारिणी, जीवाजी विश्व-विद्यालय, ग्वालियर

पण्डित हरिहरनिवास द्विवेदी लिखित "तोमरों का इतिहास" पुस्तक का प्रथम भाग देखा। भूमिका में मेरा उल्लेख करके पण्डित द्विवेदी ने मुझे संकोच में डाल दिया है। किन्तु उस उल्लेख को आधार मानकर मैं अपनी बात स्पष्ट करना चाहता हूँ। विगत वर्ष हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के पूर्व के इतिहास के बारे में उनसे चर्चा करने का बहुधा अवसर आया। तब इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया गया कि इस अवधि के लगभग चार सौ वर्षों के बिखरे हुए इतिहास की कड़ियाँ यदि जुड़ सकें, तो न केवल इतिहास, अपितु हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार आदिकाल एवं वीरगाथा काल के सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री दे रहे हैं, वह अस्पष्ट भी है और असम्बद्ध भी। इसीलिए इस काल की साहित्यिक उपलब्धियों के बारे में चर्चा अधूरी रह जाती है। उसी समय इस काल की अनेक पाण्डुलिपियाँ देखने का अवसर मिला। इनमें आई हुई सामग्री का साहित्यिक महत्व तो है ही, इनके माध्यम से इतिहास की अस्पष्टता का भी एक सीमा तक निराकरण होता है। पण्डित द्विवेदी मूलतः साहित्य के क्षेत्र के अध्येता हैं अथवा इतिहास के, यह कह सकना कठिन है। किन्तु इस ग्रन्थ को पढ़कर एक धारणा मन में स्थिर होती है कि इतिहास को केवल शिलालेखों, सिक्कों, पत्रों के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। तत्कालीन साहित्यिक सामग्री का सम्यक् अध्ययन उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। इसी प्रकार इतिहास की गहराइयों में गये बिना साहित्य के इतिहास को संयोजित करने का प्रयास भी अधूरा रह जाता है।

मैं इतिहास के क्षेत्र का व्यक्ति नहीं हूँ किन्तु जिस काल के साहित्यिक इतिहास के सम्बन्ध में मेरे मन में अनेक जिज्ञासाएँ थीं, उस काल के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें मुझे पण्डित द्विवेदी की कृति में मिलीं।

इतिहास का अध्ययन गणित की भाँति निणर्यात्मक नहीं होता। यह अध्ययन तो एक दृष्टि है, जो अस्पष्टता को यथासम्भव उघार कर, तथ्यों से प्रमाणित एवं तर्कों से पुष्ट करके संतुष्ट होती है। नये तथ्यों एवं तर्कों का सामना करने के लिए उसे सदैव तत्पर रहना चाहिए और पूर्वाग्रह से मुक्त उन्हें ग्रहण करने की वृत्ति भी उसमें रहनी चाहिए।

पण्डित द्विवेदी ने सम्बद्ध, बिखरी हुई सामग्री को एकत्र किया, तथा नये तथ्यों से प्रमाणित और नये तर्कों से पुष्ट किया है। यह काम अपने-आप में पथ-प्रदर्शक कार्य है और आगे जब तक और नई दृष्टि इस पर पुनर्विचार के लिए तथ्य और तर्क प्रस्तुत नहीं करती, इसका महत्व एवं सम्मानपूर्ण स्थान रहेगा।

डा० श्री छविनाथ त्रिपाठी

एम० ए०, पी-एच० डी० (हिन्दी-संस्कृत)

शास्त्राचार्य (स्वर्णपदक प्राप्त)

रीडर हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

की

सम्मति

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी की बहुमूल्य कृति 'दिल्ली के तोमर' की प्रति प्राप्त हुई। धन्यवाद।

इस कृति में श्री द्विवेदी ने इतिहास के समग्र उपलब्ध साधन-स्रोतों का दोहन कर प्राचीन मान्यताओं को ध्वस्त करते हुए दिल्ली के तोमरों का जो विलुप्त और उपेक्षित इतिहास प्रकाश में लाने का सफल प्रयत्न किया है, उसमें मध्यकालीन इतिहास लेखकों की परम्परागत मान्यताओं को दी गई एक अपराजेय चुनौती भी निहित है। साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त सामग्री की उचित एवं तर्क-संगत व्याख्या द्वारा उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अकाट्य हैं। पूर्णतः तथ्याश्रित होने के कारण यह एक महत्वपूर्ण शोध-कृति है। भारतीय इतिहास के एक अत्यन्त विचारणीय युग के विलुप्त सूत्रों की खोज कर उन्हें स्पष्टता के साथ अंकित करने का कार्य स्वयं मे ही अभिनन्दनीय है, परन्तु सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से उनके तथ्य-विश्लेषण की प्रक्रिया तो इस कृति को और भी प्रशंसनीय बना देती है। भारतीय स्वातन्त्र्य-सूर्य अस्त होने के जिन कारणों का तर्क और तथ्य सहित उन्होंने उल्लेख किया है वे इतिहासकारों के अतिरिक्त भारतीय इतिहास में अभिरुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के मानस को भी झकझोर देने वाले हैं। एक विवादास्पद युग के सम्बन्ध में इतिहास को नई दृष्टि प्रदान करने के लिए श्री द्विवेदी को हार्दिक बधाई।

डा० श्री वेणीप्रसाद शर्मा

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

डी० ए० वी० कालेज, चण्डीगढ़

की

सम्मति

उपलब्ध प्रामाणिक सामग्री के आधार पर लिखित "दिल्ली के तोमर" इतिहास-क्षेत्र में एक नया अध्याय है। मैं इसे आद्योपान्त पढ़ गया हूँ। वास्तविक रूप में यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। लेखक ने बहुत परिश्रम किया है और वह भी "स्वान्तः सुखाय"। ऐसे ग्रन्थों की रचना से लेखक को पर-तृप्ति के साथ आत्म-तृप्ति होनी ही चाहिए। ऐसे व्यस्त संसार में इतना अध्ययन, खोज एवं परिश्रम कठिन है।

प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण कर द्विवेदी जी वास्तविकता की तह तक पहुँचे हैं। लेखक की तर्क-शक्ति प्रबल एवं अद्भुत है। तोमर एवं चौहान वंश की जानकारी के लिए इससे अधिक खोजपूर्ण प्रामाणिक रचना अभी तक देखने में नहीं आई। इतिहास के विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ एक अद्वितीय देन है।

द्विवेदी जी एतदर्थ बधाई के पात्र हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा

की

सम्मति

श्री हरिहरनिवास जी द्विवेदी लिखित तोमरों का इतिहास प्रथम भाग बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस विषय पर अभी तक ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। लेखक ने प्राप्त सामग्री का अच्छा उपयोग करके नये तथ्य इतिहास-जगत के सामने रखे हैं, अतएव उनका श्रम एवं प्रयत्न अवश्य ही सराहनीय है। जैन सामग्री का ठीक से उपयोग न करने के कारण बहुत से एतिहासिक ग्रन्थ अपूर्ण से रह जाते हैं। द्विवेदी जी ने जैन सामग्री का भी अपने ग्रन्थ में अच्छा उपयोग किया है, यह अवश्य ही उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण बात है। अंग्रेजी और फारसी के आधार से जो ग्रन्थ लिखे जाते हैं उनमें स्थानों और व्यक्तियों आदि के नाम अशुद्ध रह जाते हैं।

डा० श्री भगवानदास माहौर

का

अभिमत

अनेक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक शोध-कृतियाँ हिन्दी-संसार को अर्पित करने वाले विद्वद्वर श्री हरिहरनिवास द्विवेदी की नवीनतम शोध-कृति "दिल्ली के तोमर" न केवल इतिहास-लेखन के इतिहास के ही क्षेत्र में, अपितु साहित्य के इतिहास-लेखन क्षेत्र में भी, एक महान क्रान्तिकारी देन है। बड़े ही प्रबल प्रमाणों के आधार पर [इनमें दिल्ली के अन्तिम सम्राटों, पृथ्वीराज तोमर (सन् ११६७ से ११८६) और चाहड़पाल तोमर (सन् ११८९ से ११९२) की मुद्राओं का स्थान विशेष है] और पुष्ट तर्क के बल पर द्विवेदी जी ने प्रतिपादित किया है कि पृथ्वीराज रासो का कथानक कल्पनाजन्य आख्यान मात्र है, इतिहास नहीं, और यह कि "राणा संग्रामसिंह के समय तक सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के राज्यकाल में केशव निगम द्वारा तथा उनके राजभाटों द्वारा प्रचलित किया गया यह प्रवाद 'दिल्ली चौहानों ने ली' फैल चुका था"।

(पृष्ठ १२१)

इस प्रवाद के आस-पास इतिहास सम्बन्धी जो अनेक उलझाव निरन्तर अधिकाधिक उलझते गये थे, उन्हें सुलझाना, तथा जो अनेक जटिल गुत्थियाँ बन चुकी थीं उन्हें खोलना या काटना बड़े ही धैर्य, अध्यवसाय, श्रम और तर्क-बल तथा सर्वोपरि ऐसे महान साहस की अपेक्षा करता था जो सत्य की निरन्तर उकसाते रहने वाली अजेय प्रेरणा से ही प्राप्त होता है। इस ऐतिहासिक शोध-कृति के प्रत्येक पृष्ठ में लेखक के इस श्रम, धैर्य, सूझ-बूझ, तर्क और सर्वोपरि अपराजेय साहस के दर्शन होते है।

चूँकि "आख्यान के माध्यम द्वारा जो मूर्ति मानसपटल पर अंकित हो जाती है, वह मिटाए से भी नहीं मिटती" (पृष्ठ १२५) अतः आज तक सामान्यतः यही माना जाता है कि दिल्ली का अन्तिम स्वतन्त्र हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान था और उसी ने सन् ११९२ के तराइन के युद्ध में भारत की रक्षावाहिनी का नेतृत्व किया था। द्विवेदी जी ने प्रतिपादित किया है कि तराइन के प्रथम युद्ध (सन् ११९१) में शहाबुद्दीन के विरुद्ध राजपूत सेना का नेतृत्व करने वाला दिल्लीश्वर चाहड़पाल तोमर था, उसी के मुँह में शहाबुद्दीन का भाला लगा था, जिसमें उसके दो दांत टूट गये थे और उसी ने रणक्षेत्र में शहाबुद्दीन को ऐसा घायल किया था कि वह मरणासन्न हो गया था और उसे रणक्षेत्र से भागना पड़ा था, तथा तराइन के सन् ११९२ के द्वितीय निर्णायक युद्ध में भी दिल्लीश्वर चाहड़पाल तोमर ने ही सम्मुख युद्ध करते हुए भारत की रक्षा में वीरगति पाई थी और "निद्राव्यसनसन्नधी" (निद्रा और व्यसनों से आसन्न बुद्धि वाला) पृथ्वीराज चौहान तो युद्धस्थल से भागते हुए सरस्वती नदी के किनारे शहाबुद्दीन द्वारा पकड़े गये थे और शायद तुरन्त ही या १०-११ दिनों बाद ही मार डाले गये थे। इसके बाद

चाहड़पाल तोमर का पुत्र तेजपाल द्वितीय केवल एक पखवाड़े तक ही दिल्ली का स्वतन्त्र हिन्दू सम्राट् रहा और फिर दिल्ली तुरुष्कों के अधीन हो गई।

इतिहास के क्षेत्र में पृथ्वीराज रासो से जिस 'प्रवाद' या 'अपलाप' की पुष्टि हुई है उसका निराकरण प्रमाणों और तर्क के बल से करके भी द्विवेदी जी ने विशिष्ट समय और विशिष्ट परिस्थितियों में एक आख्यान-काव्य के रूप में उसके राष्ट्रीय महत्व को भी उद्घाटित किया है :

"पृथ्वीराज रासो कुछ विशिष्ट उद्देश्यों से कभी सन् १५२५ ई० के आस-पास रचित आख्यान-काव्य है। उसे कुछ ऐतिहासिक नामों के आधार पर 'इतिहास' मान कर उसकी काल्पनिक घटनाओं की खाल उधेड़ना बेचारे भाटवंश के साथ अनाचार करना है, और उसके अनुसरण में 'इतिहास' लिख डालना इतिहास की दुर्गति करना है।"

(पृष्ठ १२४)

पृथ्वीराज रासो की रचना के प्रेरक इन "उद्देश्यों" और उसकी "रचना-विधा" पर प्रकाश डाल कर द्विवेदी जी ने तत्कालीन राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उसके महत्व को प्रकट किया है, वह इस युग के समस्त आख्यान काव्यों के मर्म को समझने के लिए एक क्रान्तिकारी दृष्टि का उद्घाटन है। इस युग के प्रमुख आख्यान-काव्य सामान्यतः, और पृथ्वीराज रासो विशेषतः, विदेशी आक्रान्ता तुरुष्कों से अभिभूत राजपूत राजाओं में और भारतीय जनता में यह आत्म-विश्वास भरने के लिए रचे गये थे कि इन विदेशी आक्रान्ताओं को पराजित कर भारत से खदेडा जा सकता है और खदेडा जाना चाहिए। द्विवेदीजी के ही शब्दों में "रासोकार...........राजपूतों को यह आश्वासन देना चाहता था कि जिस प्रकार नियति का यह खेल है कि राय पिथौरा जैसा पराक्रमी भी दिल्ली का साम्राज्य खो बैठा उसी प्रकार नियति का यह भी विधान है कि मेवाडपति पुनः दिल्ली सम्राट् बनेंगे और भारत में फिर रजपूती फैल जाएगी। भविष्यवाणी बड़ी आशाप्रद थी, परन्तु कभी फलवती न हुई।" (पृष्ठ ११७) यह भी द्विवेदी जी ने भलीभाँति परखा है कि रासोकार भाट या भाटवंश ने इस ऐतिहासिक 'अपलाप' को कि दिल्ली पर चौहानों का दान द्वारा अधिकार हो गया इस भावना से ही प्रेरित होकर अपनाया है कि सलहदी तोमर और मेदिनी राय चौहान जैसे राष्ट्र-रक्षा में तत्पर वीरों के मेल की; और मिलकर राष्ट्रीय शत्रु का प्रतिरोध करने की भावना को भाव-बल पहुँचाया जाए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के वाङ्मय और भारत के मध्यकालीन इतिहास का अध्ययन राष्ट्रीय दृष्टि से करने में अभिरुचि रखने वालों को द्विवेदी जी का यह महान शोधपूर्ण इतिहास ग्रन्थ एक महती क्रान्तिकारी देन है।

ग्रन्थ का उपसंहारात्मक और निष्कर्श-प्रतिपादक अन्तिम परिच्छेद ३१ 'युग समीक्षा' बहुत ही महत्वपूर्ण है, उतना ही वह हृदयग्राही भी है। जिन्हें विभिन्न फारसी इतिहास ग्रन्थों, परस्पर विरोधी शिलालेखों, राजभाटों की मिथ्या राजप्रशस्तियों, राज्याश्रित अर्थदास कवियों द्वारा रचित मिथ्या राजप्रशंसायुक्त आख्यान, काव्यों तथा प्राप्त राजमुद्राओं परम्परा प्राप्त राजकुलों की वंशावलियों को हेतुहेतुमत् तर्क की नानाविध कसौटियों

पर कसे जाने का विवेचन और वर्णन नीरस लगे या उन्हें धैर्य से पढने की रुचि न हो उन्हें मैं अपने अनुभव से यह सलाह देने का साहस करता हूं कि वे पहले इस अन्तिम परिच्छेद को पढ़ें। अन्तिम परिच्छेद को पढ कर मैं पुनः समग्र ग्रन्थ को दुगने उत्साह और मनोयोग से पढने को प्रेरित हुआ था। मुझे विश्वास है इस अन्तिम परिच्छेद को पढ कर फिर उन्हें समग्र ग्रन्थ को आद्योपान्त मनोयोग से पढने का उत्साह होगा ही होगा। मुझे लगता है कि यदि इस परिच्छेद के कथ्य को ग्रन्थ के आरम्भ में प्राक्कथन के रूप में ही रखा जाता तो शायद मेरे जैसे साधारण पाठक इसे और अधिक उत्साह और रुचि से पढने में प्रवृत्त होते। कारण स्पष्ट है, आज के सामान्य राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न भारतीय पाठक को तोमर राजवंश के इतिहास जानने की अपेक्षा उन परिस्थितियों और कारणों को जानने में अधिक रुचि है जिनसे मध्ययुगीन भारत के शासक विदेशी आक्रान्ताओं से परास्त होते रहे और भारत के सम्बन्ध में उसके लिये बहुत ही आत्मविश्वास विघाती यह निष्कर्ष प्रचारित करते रहे कि भारत तो एक बहुशः पराजित होने वाला देश है (India is the most defeated country)

इस परिच्छेद में यही विवेचित हुआ है कि मध्ययुग में भारत तुरुष्क आक्रान्ताओं से क्यों और कैसे पराजित हुआ। इस विवेचन का सार देने का अव्यापार मैं यहां नहीं करूंगा, मेरा आग्रह है, इस प्रश्न में रुचि रखने वाले सभी इसे बड़े मनोयोग से पढें। श्री द्विवेदी जी के शब्दों में इसका "उपयोग केवल यही है कि राष्ट्र ऐसी सतर्कता उपलब्ध करे कि ये प्रवृत्तियां भारत भूमि पर फिर कभी न पनपने पायें।" मेरा विश्वास है कि मध्ययुगीन भारत की इन पराजयों के विवेचन को पढ कर आज का जनतंत्री प्रबुद्ध भारतीय यह सोचने में प्रवृत्त होगा ही होगा कि आज के स्वतन्त्र जनतन्त्री भारत के विभिन्न राजनीतिक दल कहीं कुछ वैसी ही भूमिका तो नहीं निभा रहे हैं जैसी उस समय छत्तीस राजकुलों की रही थी जिन्होंने अपने पारस्परिक कलह से विदेशी आक्रान्ताओं का विजय-पथ सरल बना दिया था। हमारे इन विभिन्न राजनीतिक दलों का रवैया ऊपरी जनतंत्री नारों के बावजूद जनता के प्रति उसी भांति का तो नहीं हो रहा है जैसा इन सामन्ती राजकुलों का अपनी प्रजा के प्रति हो गया था और जिसका परिणाम यह हुआ कि शोषित जनता को इस बात में कोई अन्तर ज्ञात नहीं हुआ कि "उसका राज्यनियन्ता कोई छत्तीसकुली है या शहाबुद्दीन का गुलाम' (पृष्ठ ३०८)। विभिन्न राजनीतिक दलों में आज जो नेतृत्व के झगड़े हैं वे कहीं आज के जनतंत्री प्रगति के संदर्भ में कुछ वैसी ही भूमिका तो नहीं निभा रहे हैं जैसी मध्ययुग में राजकुलों के आन्तरिक झगड़ों और महलों में होने वाले विप्लवों ने भारत के विदेशियों का दास हो जाने के सम्बन्ध में निभाई थी। आज के धुर दक्षिणपंथी और वामपंथी राजनीतिक दलों के अवसरवादी गठबन्धन कुछ वैसी ही सुन्दोपसुन्दन्याय वाली स्वार्थलक्षी कैमास-बुद्धि को ही तो सूचित नहीं कर रहे है जो मध्ययुग में राष्ट्रीय सर्वनाश की प्रेरक हुई थी? द्विवेदी जी का तोमरों का इतिहास हमें इस ओर ही जाग्रत करता है। वह न तो तोमरों के प्रति किसी प्रकार के अंचलीय पक्षपात या पूर्वाग्रह से प्रेरित है न वह केवल गड़े मुर्दे उखाड़ने वाली ही बात है।

डा० श्री के० पी० नौटियाल
रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व अध्ययन-शाला
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

का

अभिमत

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा रचित ग्रन्थ 'दिल्ली के तोमर' एक सारगर्भित ग्रन्थ है। इसकी रचना से श्री द्विवेदी जी ने इस वंश के इतिहास को चमत्कृत करने के अतिरिक्त, भारतीय इतिहासकारों को भी लाभान्वित किया है। सम्पूर्ण पुस्तक विभिन्न ऐतिहासिक, पुरातात्विक एवं साहित्यिक संदर्भों पर आधारित है। लेखक ने समस्त पूर्वानुकृतियों का उल्लेख कर, उनका सूक्ष्मता एवं शालीनता से विवेचन किया है। कुतबमीनार को कुछ पूर्व लेखकों की भाँति कीर्ति-स्तम्भ की संज्ञा देकर, उस प्रश्न को पूर्व विचारों तथा भविष्य की अन्य उपलब्धियों पर आधारित रख कर बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। पुस्तक में अनेक मूलग्रन्थों को महत्वपूर्ण स्थान देकर इतिहास की नींव पक्की की गई है। स्पष्टतः यह कहना उपयुक्त होगा कि लेखक ने अनेक गूढ समस्याओं को सुलझाने का अनूठा प्रयास किया है। पृथ्वीराज रासो एवं उसकी ऐतिहासिक सामग्री की विवेचना भी श्लाघनीय है।

पुस्तक में सन्निहित वंशावली तथा काल-निर्धारण-सारिणी बड़ी महत्वपूर्ण है। यह सारिणी इसलिए और विश्वसनीय बन गई है, चूंकि लेखक द्वारा मूलग्रन्थों एवं ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त पुरातात्विक सामग्री को भी आधारभूत मानकर इसे प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड तोमरों की उत्पत्ति की बात बड़े ही गहन रूप से हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। गोपाचल आख्यान इत्यादि मूल पाण्डुलिपियों के आधार पर श्री द्विवेदी जी ने तोमरों की उत्पत्ति के प्रश्न को सुलझाने का अनूठा प्रयास किया है। इसी प्रकार पुस्तक के और अनेक अध्याय महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण-स्वरूप तोमरों के राजनीतिक सम्बन्धों तथा उनके विभिन्न युद्धों की बातें भी महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार इस छोटे से ३५० पृष्ठ के ग्रन्थ में श्री द्विवेदी जी ने गागर में सागर भरने का प्रयास किया है। उनके द्वारा रचित अन्य कृतियाँ प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व में अनुपम स्थान ग्रहण कर चुकी हैं, अतः 'दिल्ली के तोमर' नामक ग्रन्थ शोधार्थियों, इतिहासज्ञों, छात्रों एवं साहित्यकारों के लिए एक महत्वपूर्ण कृति के रूप में अमर बना रहेगा।

माननीय श्री नीतिराज सिंह

विधि एवं न्याय राज्य मन्त्री, भारत सरकार

का

मन्तव्य

इतिहासकार न्यायाधीश से भी ऊपर है। न्यायाधीश के सामने दो पक्ष रहते हैं जो अपने-अपने समर्थन की बात प्रस्तुत करते हैं। इतिहासकार को भूत में जाकर सत्य को खोजना पड़ता है। इस युग में यह कठिनाई बहुत बढ़ गई है क्योंकि कुछ शताब्दियों से लोगों ने अपने मालिकों की इच्छा के अनुसार इतिहास को मोड़ दिया। ऐसे लेखों में से सत्य निकालना बड़ा कठिन है।

श्री द्विवेदी जी ने "दिल्ली के तोमर" पुस्तक में सत्य निकालने का प्रयास किया है। प्रथम खण्ड में पुराने इतिहासकारों की विवेचना से अनेक तथ्य सामने आते हैं। द्वितीय खण्ड से तोमरों के इतिहास की जानकारी मिलती है। पृथ्वीराज रासो बाबत जानकारी विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि अनेक लोगों ने उसे ही अपने इतिहासों का आधार माना है जबकि द्विवेदी जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह केवल कवि की कल्पना थी। द्विवेदी जी को सफलता मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं है।